न्यायविशारद–न्यायाचार्य–महोपाध्याय–श्रीयशोविजयगणिप्रवरविरचिता,

जैन तर्क भाषा

सा च

शासनसम्राट्–बालब्रह्मचारी–आचार्यप्रवर श्रीविजयनेमिसूरीश्वरपट्टालंकार

सिद्धांतवाचस्पति न्यायविशारद आचार्यश्रीविजयोदयसूरीश्वरप्रणीत–

'रत्नप्रभा'ऽख्यटीकया समलंकृता.

प्रकाशकः

जशवन्तलाल गिरधरलाल शाह

रूपासुरचंदनी पोल, अमदावाद [गुजरात]

मूल्यम् ६–०–०

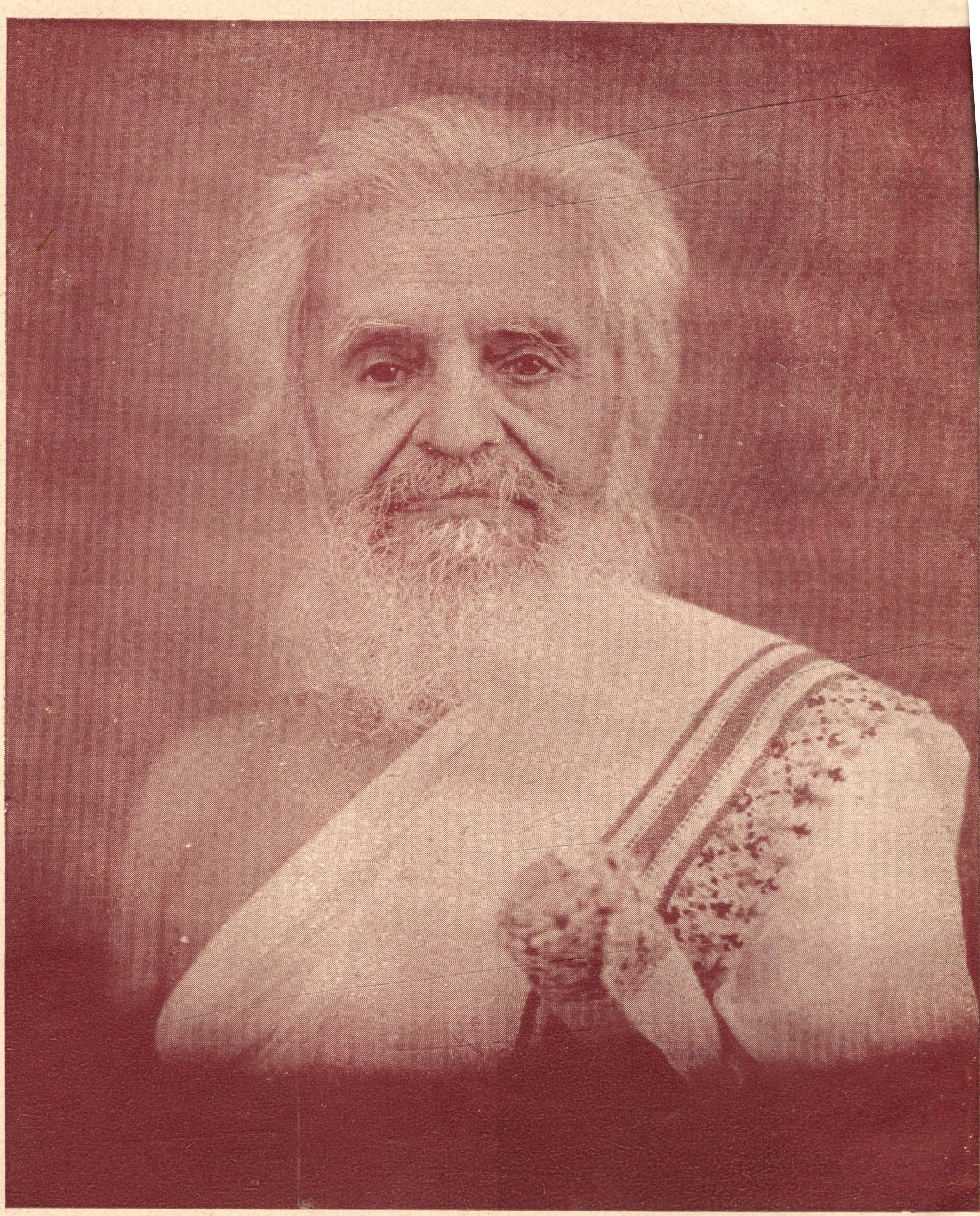

MUNI RATNA-PRABHA VIJAYA.

न्यायविशारद-न्यायाचार्य-महोपाध्याय
श्रीयशोविजयगणिप्रवरविरचिता

जैन तर्क भाषा

शासनसम्राट्-बालब्रह्मचारी-आचार्यप्रवर
श्रीविजयनेमिसूरीश्वरपट्टालंकार
सिद्धांतवाचस्पति न्यायविशारद आचार्य
श्रीविजयोदयसूरीश्वरप्रणीत-
'रत्नप्रभा'ऽऽख्यटीकया समलंकृता

卐

संपादकः

शासनसम्राट् आचार्यप्रवर
श्रीविजयनेमिसूरीश्वरशिष्य, प्रवर्तक
मुनि श्रीरत्नप्रभविजयजी महाराज

प्रकाशकः

जशवन्तलाल गिरधरलाल शाह
रूपासूरचंदनी पोल, अमदावाद [गुजरात]

विक्रमाब्द २००७] वीर नि. सं. २४७७ [ख्रीष्टाब्द १९५१

मूल्यम् ६-०-०

पुस्तक प्राप्तिस्थान

जसवन्तलाल गिरधरलाल शाह
१२३८ रूपासुरचंदनी पोळ-अमदावाद

सरस्वती पुस्तकभंडार
हाथीखाना रतनपोळ अमदावाद

नगीनदास नेमचंद शाह
३६० डोशीवाडानी पोळ अमदावाद

मुद्रकः
गोविन्दलाल मोहनलाल जानी
श्री क्रिष्णा प्रिन्टरी रतनपोळ, अमदावाद

HIS HOLINESS ĀCĀRYA MĀHĀRAJA

ŚRÎ VIJAYA NEMISŪRÎŚVARAJI

SHREE KRISHNA PRINTERY-AHMEDABAD

DEDICATED

INTO

THE LOTUS-LIKE HANDS

OF

MY MOST REVERED GURU

SARVA-TANTRA SVATANTRA, JAGAD-GURU

ŚĀSANA SAMRĀT, SŪRICAKRA CAKRAVARTI

TAPAGACCHĀDHIPATI TIRTHODDHĀRAKA

BHATTĀRAKA

HIS HOLINESS ĀCĀRYA MAHĀRĀJA

ŚRĪ VIJAYA NEMISŪRĪŚVARAJI

By

His most grateful and obedient

Disciple

RATNA-PRABHA VIJAYA.

प्राक्कथन

"ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः" का तात्पर्य—

इस अनादि अनन्त संसारमें निरन्तर प्रवर्तमान सुख और दुःख प्राणिमात्रके साथ संलग्न रहते हैं। एक दृष्टिसे तो यहां तक कह सकते हैं कि सुख दुःखके मिश्रणका ही नाम संसार है। दुःखकी मिलावटसे मुक्त केवल—आत्यन्तिक—सुख ही रह जाय तो वही मुक्ति या मोक्ष बन जाता है। सुख और दुःखकी भावना ही प्राणिमात्रकी प्रवृत्तिकी प्रेरक है।

हरेक जीव सुखके लिये लालायित रहता है और दुःखको दूर करनेकी कोशिश किया करता है। इस तरह सुखदुःख प्राणिमात्रको प्रवृत्तिशील बननेकी प्रेरणा देते हैं। इतर प्राणियोंसे मनुष्यका कुछ—बडा भारी—फर्क है। सुख और दुःखके कारण इतर प्राणियोंकी तरह मनुष्य केवल प्रवृत्तिशील ही नहीं बनता, वह विचारशील भी बन जाता है। यह चिन्तनशीलता या विचारशीलता ही मनुष्यको इतर प्राणिसृष्टिसे भिन्न व उसके ऊपर प्रस्थापित करती है। हमारे शास्त्रकारों व ज्ञानी—ध्यानी—योगियोंने मनुष्यजीवनको दुर्लभ व सर्वश्रेष्ठ कहा है वह इसी कारणसे। चिन्तनशीलता जितनी उज्ज्वल और उन्नत उतना ही जीवन अधिक निर्मल व प्रगतिशील बनते जाता है, क्योंकि यह चिन्तनशीलता ही मनुष्यको नीतिमत्ता, सदाचार व समुज्ज्वल चारित्रके मार्गपर अग्रसर करती है। ज्ञानियोंने 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' का जो अमर मंत्र सुनाया है उसका यही तात्पर्य है।

तत्त्वज्ञान और ईश्वर-उपासनाका हेतु—

इस चिन्तनशीलताने मनुष्यको अपनी चारों ओर फैले हुए विश्वकी निर्मर्याद विविधता और उसके अगणित पहलुओं पर विचार करके विश्वका रहस्य हृदयंगम करनेको अनादि कालसे मजबूर बना दिया है। ज्ञानी, ध्यानी, योगी और विज्ञानी सभीने अपने अपने ढंगसे विश्वनियमको और विश्वके रहस्यको पा कर विश्वका यथास्थित दर्शन करनेको भरसक कोशिश की है और आज भी कर रहे हैं। किसी घटनाको देखते ही उसका स्थूल कारण तो सामान्य मनुष्यको समझमें जल्दी आ जाता है, लेकिन जिसके मन और बुद्धि अधिक चिन्तनशील होते हैं उसे स्थूल कारणके समझनेमात्रसे सन्तोष नहीं होता, वह उसके भीतरी रहस्यको जाननेको उत्सुक हो जाता है। उदाहरणार्थ—दस बच्चे आनन्दमें खेल रहे हैं, एक मदोन्मत्त सांढ पागलसा दौडता आता है, किसी एक बच्चेको अपने सपाटेमें लेता है, और क्षणभरमें उसे निष्प्राण करके चला जाता है। सामान्य मनुष्य सोच कर कहते हैं, सांढकी मारके कारण बच्चा मर गया। विशेष चिन्तनशील मनुष्यको इतनेसे संतोष नहीं होता; वह सोचता है: इतने बच्चे खेलते थे उनमेंसे यही क्यों मारा गया? और मौतके अनेक तरीके होते हुए भी

सांढ ही क्यों उसकी मौतका कारण बना? इस विचारधारासे वह गभीर चिन्तनमें डूब जाता है और उस घटनाका भीतरी रहस्य जाननेकी कोशिश करता है। यही बात विश्वके अन्तस्तम रहस्यको समझनेके प्रयत्नके बारेमें कही जा सकती है। इस तरह विश्वके रहस्यको अवगत करनेका विविध पुरुषोंके प्रयत्नका जो परिणाम उसे शास्त्रके रूपमें संकलित करके हम 'तत्त्वज्ञान' के नामसे पुकारते हैं। किन्तु व्यक्तिकी अपूर्णताके कारण यह तत्त्वज्ञान भी अपूर्ण ही रह जाता है। और दुनिया–समष्टि–की दृष्टिसे अर्थात् विश्वके समग्र प्राणियों एवं मनुष्योंकी अपेक्षासे यह तत्त्वज्ञान अपूर्ण रहते हुए भी व्यक्तिकी दृष्टिसे यह अवश्य संपूर्ण हो सकता है। जो इसे संपूर्ण बनाता है उसे हम ईश्वर, परमेश्वर या परमात्माके नामसे पहिचानते है। ईश्वर या परमेश्वर विश्वके रहस्यको, उसकी चरम सीमा तक, इस ढंगसे जान लेते हैं कि उनके लिये फिर कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता; उनकी जिज्ञासा तृप्त हो जाती है। इस प्रकार वैयक्तिक–आत्मिक–परिपूर्ण विकासके बलसे निष्पन्न होनेवाले परिपूर्ण तत्त्वज्ञानके कारण ही ईश्वर हमारे लिये उपास्य बन जाते हैं। ईश्वर–उपासनाका यही सार है कि, हम हमारा विकास और हमारा दर्शन–तत्त्वज्ञान–परिपूर्ण करनेका पुरुषार्थ करें।

भारतीय दर्शन और धर्मकी आधारशिला—

विश्वका सच्चा दर्शन प्राप्त करके आत्मासे परमात्मा बननेका, नरसे नारायण बननेका, अर्थात् जीवनका विकास करनेका प्रयत्न, जिज्ञासामूलक होनेसे, दुनियाभरके मनुष्य अनादि कालसे करते आये हैं और अब भी कर रहे है। हां, किसी प्रदेशमें यह प्रयत्न कम गहराई तक पहुंच सका, तो कहीं अधिक गहराई तक। जहां ऐसे प्रयत्न अधिकसे अधिक गहराई तक पहुंच सके हैं ऐसे देशोंमें भारतवर्षका स्थान श्रेष्ठ है। और इसी वजहसे भारतवर्ष 'धर्मभूमि' के गौरवयुक्त बिरुदसे अंकित है। विश्वका यथास्थित दर्शन करके धर्मका मार्ग निश्चित करनेका प्रयत्न करनेवाले भारतीय छः दर्शन – जैन, बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, वैशेषिक और मीमांसक – बहुत प्रसिद्ध हैं। इन दर्शनोंने दुनियाका यथार्थ दर्शन करनेका प्रयत्न करके उसके आधार पर धर्ममार्गकी स्थापना की। इसका मतलब यह हुआ कि दर्शन यह धर्मकी आधारशिला है; धर्ममार्गका संस्थापन करके ही दर्शन चरितार्थ होता है।

जैन दर्शन-जैन तत्त्वज्ञान व जैनधर्म—

जैन, बौद्ध व ब्राह्मण ये तीन धर्म आर्यधर्म या आर्यसंस्कृतिके मुख्य अंग गिने जाते हैं। इन तीनोंका भी श्रमणसंस्कृति और ब्राह्मणसंस्कृति नामक दो भेदोंमें संक्षेप किया जाता है, और श्रमणसंस्कृतिमें जैन धर्म व बौद्ध धर्मका समावेश हो जाता है। जैनधर्मकी आधारशिला है जैन दर्शन या जैन तत्त्वज्ञान। यह जैन दर्शन या जैन तत्त्वज्ञान और कोई नहीं, किन्तु

अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ ऐसे जिनों या तीर्थंकरोंने किया हुआ विश्वका दर्शन ही है। सर्वज्ञ तीर्थंकरोंने–जिनोंने–अपने सर्वस्पर्शी दर्शनके अनुकूल जिस धर्ममार्गकी प्ररूपणा की वह है जैनधर्म।

जैनधर्मकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहिंसा—

'अहिंसा तो जैनधर्मकी ही'—इस प्रकार जैनधर्मकी अहिंसा जनतामें एक कहावत या मिसालरूप हो गई है। अहिंसाके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवलोकनकी जिस गहराई तक जैन धर्म–जैन दर्शन–पहूंच पाया है दुनियाका अन्य कोई धर्म वहां तक नहीं पहूंच सका; यहां तक कि किसी किसी विचारकके दिमागमें इतनी सूक्ष्म अहिंसा उतर न सकनेके कारण वे उसकी निन्दा करने या मजाक उडानेकी हद तक चले जाते हैं। किन्तु सच देखा जाय तो अहिंसाकी यह मजाक या निन्दा ही उस व्यक्तिकी खुदकी कम समझकी निशानी व अहिंसाकी प्रशस्ति बन जाता है। इस अहिंसाके बारेमें थोडासा विचार करें। ऐसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहिंसाकी स्थापनाका आधार है विश्वमें सर्वत्र व्याप्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवोंकी हस्ती। तीर्थंकरोंने अपने ज्ञानसे जब देखा कि–चलते फिरते जीवोंके अतिरिक्त पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पतिमें ही नहीं, उनसे भी अधिक सूक्ष्म, निगोद जैसे शरीरोंमें भी हमारे ही जैसी आत्माका वास है और उन्हें भी हमारे माफिक सुख दुःखका अनुभव होता है; और इतना ही क्यों, आत्मविकासकी–आत्मासे परमात्मा बननेकी–क्षमता (Potentiality) उनमें भी रही हुइ है; ऐसी हालतमें भला वे उनको जरा भी तकलीफ पहूंचे ऐसी प्रवृत्तिको किस तरह मंजूर रख सकते हैं? एक छोटीसी मिसाल: एक मनुष्य देखता है कि, अपने सामनेसे गुजरता हुआ रास्ता कंटक, कंकर और काचके टुकडोंसे आकीर्ण है, तब फिर वह उस रास्ते पर चलनेवालेको खूब समल समल कर चलनेको एवं बिलकुल अप्रमत्त–सावधान–हो कर ही कदम उठानेकी चेतावनी देनेके सिवा और कर ही क्या सकता है? यही बात अहिंसाके बारेमें समझनी चाहिए–तीर्थंकरोंने जैसा देखा वैसा कहा। "उपयोगे धर्मः" या "समयं गोयम! मा पमायए" ("सावधानीके बगैर धर्म नहीं" और "हे गौतम! समयमात्रके लिए भी असावधान नहीं रहना") इन सूत्रोंका यही तात्पर्य है। और इसी कारणसे अहिंसा जैनधर्मका प्राण बन गई है। और अन्य व्रत, नियम वगैरह इस अहिंसाको मध्यबिन्दुमें रखते हुए उसकी पुष्टि एवं उसके यथार्थ पालनके लिये हि बनाये गये हैं। इसका यथार्थ पालन हम न कर सके तो यह दोष या कमजोरी हमारी है; इसके लिये जैनधर्म या अहिंसाको दोषित मानना यह तो मुखके ऊपर लगे हुए दागके लिए आयनेको दोषित मानने जैसा बेहूदा है।

अनेकान्तवाद : अहिंसा व सत्यका सहायक—

अहिंसाके सिद्धान्तके उपरान्त जैन दर्शनकी मौलिक देन उसका स्याद्वाद या अनेकान्त-

वाद है। इसे सिद्धान्त कहनेके बजाय तत्त्वके रहस्यको पानेकी विशिष्ट दृष्टि या पद्धति कहना ठीक मालूम होता है। एक दृष्टिसे देखा जाय तो यह भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहिंसाके विकासमेंसे ही फलित हुआ प्रतीत होता है। किसी जीवके शरीरको चोट पहुंचाना जैसे हिंसा है उसी तरह उसके दिलको चोट पहुंचानेसे भी हिंसा होती है। अनेकान्तवाद हमें दूसरोंका दृष्टिबिन्दु समझनेकी आज्ञा देकर उनके दिलोंको नाहक दुःखित करनेसे रोकते हुए हमारी बुद्धिको समत्वयुक्त बना कर अप्रमत्त या उपयोगयुक्त बनाता है। तात्पर्य यह हुआ कि, किसी भी जीवकी मानसिक हिंसासे बचनेकी कला हमें अनेकान्तवादसे ही प्राप्त होती है।

हम जानते हैं कि सत्य भी अहिंसाके जैसा ही धर्मका महत्त्वपूर्ण अंग है। धर्मरूपी सिक्केकी अहिंसा व सत्य दो बाजुएं ही हैं। बिना सत्यके साक्षात्कार धर्मका यथार्थ पालन शक्य नहीं। और सत्यका साक्षात्कार कराना—किसी भी तत्त्व, वस्तु या घटनाके सत्य स्वरूपके एकदम नजदीक ले जाना—अनेकान्तका ही कार्य है। 'मेरा कहना या मानना ही सत्य है' —यह हुई एकान्त दृष्टि। ऐसी अपूर्ण दृष्टिसे भला कोई सत्यका संपूर्ण दर्शन कैसे कर सकता है? अनेकान्तवाद हमें अपूर्ण दृष्टिकी जगह व्यापक दृष्टिकी भेंट करता है। इससे ज्ञात होता है कि, धर्मके आधारभूत अहिंसा और सत्य दोनोंके साथ अनेकान्तवादका अति घनिष्ट सम्बन्ध है; जितना वह अहिंसा के पालनमें सहायक होता है उतना ही वह सत्यके साक्षात्कारमें मददगार बनता है। अनेकान्तवादकी यही खास खूबी है।

तार्किक पद्धति और जैन तार्किकोंकी परंपरा—

किसी भी वस्तुके रहस्यको पानेका सबसे अच्छा तरीका अन्तर्मुख बनकर उसके बारेमें गहरा चिन्तन, मनन या ध्यान करना है। तीर्थंकरों, योगियों एवं आत्मसाधकोंने इसी मार्गको अपनाया है। इस चिन्तन, मनन एवं ध्यानके बलसे जो ज्ञान या स्वानुभव प्राप्त होता है वह निश्चित और एकदम ठोस होता है। जैन दर्शन या तत्त्वज्ञानकी नींव तीर्थंकरोंका स्वानुभव ही है। लेकिन कालक्रमसे चिन्तन-मननकी परिपाटी कम होती गई और दूसरोंके आक्षेपों व आक्रमणोंसे स्वधर्मको बचानेके लिये खण्डनमण्डन करना जरूरी होता गया, तो स्वतन्त्र या स्वसिद्धान्तकी स्थापना या उसके समर्थनके लिये बुद्धिका आश्रय लेना अनिवार्य बन गया और इसके फलस्वरूप तार्किक पद्धतिका विकास होने लगा। चिन्तन-मननका लक्ष्य रहता था तत्त्वका दर्शन, तार्किक पद्धतिका लक्ष्य है स्वमतमंडन और परमतखंडन। चिन्तन और तर्कमें यही बडा भारी अन्तर है। ऐसा मालूम होता है कि, तार्किक पद्धतिसे स्वमतमण्डन करनेका एक युगसा चल पडा था। जैन दर्शनने भी समयकी इस मांगको पूरी की और युगयुगके सीमास्तम्भरूप अनेक तार्किक जैन आचार्य संसारको भेंट किये।

जहां तक मेरा ख्याल है, जैन वाङ्मयमें तार्किक पद्धतिके (जिसे दार्शनिक या न्याय पद्धति भी कह सकते हैं) प्रारम्भिक बीज भगवान् उमास्वातिजी (विक्रमकी तीसरी सदी)के 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्रमें' मिलते हैं। ये महापुरुष आगमिक होते हुए भी इन्होंने तत्त्वसमर्थनमें तार्किक पद्धतिका नया सिलसिला जैन साहित्यमें कायम किया, और वह उत्तरोत्तर बढता ही चला। ये आचार्य श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों जैन फिरकोंमें समान रूपसे मान्य हैं। तार्किक पद्धतिके श्री उमास्वातिजीके इस स्फुलिंगको अधिक प्रकाशमान बनानेका यश महातार्किक श्रीसिद्धसेन दिवाकरको मिलता है। इसके बाद तो तर्कप्रधान जैन वाङ्मयमें एक बाढसी आ गई, और दोनों जैन फिरकोंके अनेक स्वनामधन्य प्रकाण्ड विद्वान् जैनाचार्य उसे समय समय पर नवपल्लवित बनाते रहें। एसे प्रातःस्मरणीय आचार्योंमेंसे कुछ ये हैं—देवनन्दि, मल्लवादी, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, सिंहगणि, स्वामी समन्तभद्र, याकिनीमहत्तराधर्मसूनु श्री हरिभद्रसूरि, अकलंकदेव, विद्यानंद, सिद्धर्षि, देवसेन, माणिक्यनंदी, तर्कपंचानन अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, वादिराजसूरि, वसुनन्दी, सोमदेव, जिनेश्वरसूरि, चन्द्रप्रभसूरि, मुनिचन्द्रसूरि, वादी देवसूरि, कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि, मलयगिरि, रत्नप्रभसूरि, अभयतिलक, मल्लिषेणसूरि, राजशेखरसूरि, उपाध्याय विनयविजय, महोपाध्याय यशोविजयजी, यशस्वत्सागर इत्यादि।

प्रस्तुत ग्रन्थके निर्माता : महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी—

प्रस्तुत ग्रन्थ—जैन तर्कभाषा—के निर्माता महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज जैन तार्किकोंकी परम्पराके एक तेजस्वी सितारे थे। इतना ही क्यों? जैन वाङ्मयकी उन्होंने जो सर्वतोमुखी सेवा की है और जिस अगाध पाण्डित्यका उनके साहित्यमें दर्शन होता है उससे उन्हें हम बेखटके एक समर्थ जैन ज्योतिर्धर कह सकते हैं। वे न केवल तार्किक ही थे, प्रत्युत आध्यात्मिक, आगमिक, वैयाकरणीय, अलंकार व छन्दःशास्त्रके ज्ञाता और एक रसज्ञ कवि भी थे। गुजराती, मारवाडी भाषाकी उनकी छोटी मोटी कवितायें आज भी आदरसे गायी जाती हैं। ये कवितायें सामान्य या अल्पार्थक अलंकारोंसे मंडित न होकर गभीर अर्थको वहन करनेवाली, कर्णमनोहर और सुगेय हैं, यह इनके कवित्वकी विशिष्टता है। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, मारवाडी वगैरह भाषाओंमें बनी हुई इनकी छोटीमोटी अनेक कृतियोंके देखते हुए इन्हें हम विना संकोच 'प्रबन्धशतनिर्माता' कह सकते हैं।

इन महापुरुषका जन्म गुजरातमें अणहिलवाड पाटणके पास कनोडु गांवमें वैश्यजातिमें, वि. सं. १६७५ से १६८०के बीच, होनेका अनुमान है। इनके पिताका नाम नारायण और माताका नाम शोभा दे था। इनका नाम था जशवन्त। वि. सं. १६८८ में इन्होंने, अपने छोटे भाई पद्मसिंहके साथ, मुनि श्री नयविजयजीके पास दीक्षा ली। इनके नाम क्रमसे यशोविजय

और पद्मविजय रक्खे गये। दीक्षा लेनेके बाद ये बिलकुल वियारत हो गये और अपनी ज्ञान-पिपासाको पूरी करनेके लिये वे कई वर्ष तक विद्याधाम काशी- बनारसमें ही रहे। इनकी अपूर्व तर्कशक्तिके कारण बनारसके पंडितोने इन्हें 'न्यायविशारद' और 'न्यायाचार्य' की उपाधि दी और उनकी महातार्किकोंमें गिनती होने लगी। वि. सं. १६९९ में जैनपुरी अहमदाबाद शहरमें इन्हें वाचकपद—उपाध्यायपद प्रदान किया गया। उनके प्रखर पाण्डित्यके कारण लोगोंने उन्हें 'लघु हरिभद्रसूरि' का गौरवप्रद उपनाम दिया था। उपाध्यायपदकी प्राप्तिके पश्चात् २५ साल तक साहित्य और धर्मकी अविरत सेवा करके वि. सं. १७४३में गुजरातमें डभोई शहरमें आपका स्वर्गवास हुआ। अपनी संस्कृत कृतियोंका प्रारम्भ इन्होंने 'ऐं' अक्षरसे किया है और लोकभाषाकी छोटीमोटी कृतियोंका अंत 'जश' या 'वाचक जश' शब्द से अपना नाम सूचित करके किया है। अपने ढंगके ये एक निराले प्रकाण्ड पंडित हो गये।

प्रस्तुत ग्रन्थ और उसकी टीका—

प्रस्तुत ग्रन्थ—जैन तर्कभाषा—महोपाध्याय श्रीयशोविजयजीकी तर्कविषयक एक छोटीसी कृति है, और जैसा उसके नामसे सूचित होता है, जैन न्यायके अभ्यासीको जैन तर्कशास्त्रकी परिभाषाओंसे ज्ञात करना उसका उद्देश्य है। यह ग्रन्थ प्रमाण, नय और निक्षेप नामक तीन परिच्छेदोंमें विभक्त हैं। ग्रन्थके अन्तमें चार श्लोकात्मक प्रशस्ति दी गई है, उसमें ग्रन्थकार व उनके गुरु आदिका नाम होते हुए भी ग्रन्थरचनाका समय या स्थल निर्दिष्ट नहीं है।

'सूरिसम्राट्' व 'शासनसम्राट्' के नामसे विश्रुत पूज्य आचार्यवर्य श्रीविजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजके परमगुरुभक्त पट्टधर व समर्थ शास्त्रज्ञ पूज्य आचार्य महाराज श्रीविजयोदयसूरीश्वरजीने अपने गुरुभाई मु. श्रीरत्नप्रभविजयजी आदिके अध्ययनके हेतुसे, इस ग्रन्थके ऊपर 'रत्नप्रभा' नामक टीकाकी रचना की और उसका संशोधन टीकाकारके विद्वान् शिष्यरत्न पूज्य आचार्य श्रीविजयनन्दनसूरिवरने किया।

इस प्रकार यह ग्रन्थ विद्वानोंके करकमलोंमें सादर होता है।

उपसंहार—

जैन साहित्य विविध भाषामय, सर्वविषयस्पर्शी एवं विपुल है। अब भी इसके कई ग्रन्थरत्न अप्रकट ही पडे हैं। भारतीय साहित्य व संस्कृतिका यथार्थ आकलन करनेके लिये जैन साहित्यका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। संस्कृतिके नाते हमारे विद्वान् निष्पक्षदृष्टि व आदरभावसे जैन साहित्यको देखें और जैन विद्वान् अपने साहित्यको सुचारु रूपमें जनताके सामने पेश करते रहें ऐसी प्राथनाके साथ यह प्राक्कथन समाप्त करता हुं।

पटेलनो माढ : मांडलपुर : एलीसब्रीज
अमदावाद; वि. सं. २००७; श्रावण कृष्णा १० }

रतिलाल दीपचंद देसाई

न्यायविशारद-न्यायाचार्य-कूर्चालसरस्वती-सुगृहीतनामधेय-भगवद्धरि
भद्रसूरिलघुबान्धव प्रभृतिविशदबिरुदावली विभूषित
महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयगणिप्रणीता

॥ जैनतर्कभाषा ॥

१. अथ प्रमाणपरिच्छेदनामा प्रथमः परिच्छेदः

ऐन्द्रवृन्दनतं नत्वा जिनं तत्त्वार्थदेशिनम् ।
प्रमाणनयनिक्षेपैस्तर्कभाषां तनोम्यहम् ॥

। १. अथ प्रमाणसामान्यलक्षणनिरूपणम् ।

तत्र-स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्-स्वम् आत्मा ज्ञानस्यैव स्वरूपमित्यर्थः, परः तस्मादन्योऽर्थ इति यावत्, तौ व्यवस्यति यथास्थिततत्त्वेन निश्चिनोतीत्येवंशीलं स्वपरव्यवसायि। अत्र दर्शनेऽतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानपदम् । संशयविपर्ययानध्यवसायेषु तद्वारणाय व्यवसायिपदम् । परोक्षबुद्ध्यादिवादिनां मीमांसकादीनाम्, बाह्यार्थापलापिनां ज्ञानाद्यद्वैतवादिनां च मतनिरासाय स्वपरेति स्वरूपविशेषणार्थमुक्तम् । ननु यद्येवं सम्यग्ज्ञानमेव प्रमाणमिष्यते तदा किमन्यत् तत्फलं वाच्यमिति चेत्; सत्यम्; स्वार्थव्यवसितेरेव तत्फलत्वात् । नन्वेवं प्रमाणे स्वपरव्यवसायित्वं न स्यात्, प्रमाणस्य परव्यवसायित्वात् फलस्य च स्वव्यवसायित्वादिति चेत्; न; प्रमाणफलयोः कथञ्चिदभेदेन तदुपपत्तेः । इत्थं चात्मव्यापाररूपमुपयोगेन्द्रियमेव प्रमाणमिति स्थितम्; न ह्यव्यापृत आत्मा

स्पर्शादिप्रकाशको भवति, निर्व्यापारेण कारकेण क्रियाजननायोगात्, मसृणतूलिकादिसन्निकर्षेण सुषुप्तस्यापि तत्प्रसङ्गाच्च ।

केचित्तु—

“ततोऽर्थग्रहणाकारा शक्तिर्ज्ञानमिहात्मनः ।
करणत्वेन निर्दिष्टा न विरुद्धा कथञ्चन ॥१॥”

(तत्त्वार्थश्लोकवा० १-१-२२)

इति–लब्धीन्द्रियमेवार्थग्रहणशक्तिलक्षणं प्रमाणं सङ्गिरन्ते; तदपेशलम्, उपयोगात्मना करणेन लब्धेः फले व्यवधानात्, शक्तीनां परोक्षत्वाभ्युपगमेन करण–फलज्ञानयोः परोक्षप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमे प्राभाकरमतप्रवेशाच्च । अथ ज्ञानशक्तिरप्यात्मनि स्वाश्रये परिच्छिन्ने द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षेति न दोष इति चेत्; न; द्रव्यद्वारा प्रत्यक्षत्वेन सुखादिवत् स्वसंविदितत्वाव्यवस्थितेः, ‘ज्ञानेन घटं जानामि’ इति करणोल्लेखानुपपत्तेश्च; न हि कलशसमाकलनवेलायां द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षाणामपि कुशूलकपालादीनामुल्लेखोऽस्तीति ।

तद् द्विभेदम्–प्रत्यक्षम्, परोक्षं च । अक्षम् इन्द्रियं प्रतिगतम् कार्यत्वेनाश्रितं प्रत्यक्षम्, अथवाऽश्नुते ज्ञानात्मना सर्वार्थान् व्याप्नोतीत्यौणादिकनिपातनात् अक्षो जीवः तं प्रतिगतं प्रत्यक्षम् । न चैवमवध्यादौ मत्यादौ च प्रत्यक्षव्यपदेशो न स्यादिति वाच्यम्; यतो व्युत्पत्तिनिमित्तमेवैतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं तु एकार्थसमवायिनाऽनेनोपलक्षितं स्पष्टतावत्त्वमिति । स्पष्टता चानुमानादिभ्योऽतिरेकेण विशेषप्रकाशनमित्यदोषः । अक्षेभ्योऽक्षाद्वा परतो वर्तत इति परोक्षम्, अस्पष्टं ज्ञानमित्यर्थः ।

प्रत्यक्षं द्विविधम्–सांव्यवहारिकम्, पारमार्थिकं चेति । समीचीनो बाधारहितो व्यवहारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलोकाभिलापलक्षणः संव्यवहारः, तत्प्रयोजनकं सांव्यवहारिकम्–अपारमार्थि-

कमित्यर्थः, यथा अस्मदादिप्रत्यक्षम् । तद्धीन्द्रियानिन्द्रियव्यवहितात्मव्यापारसम्पाद्यत्वात्परमार्थतः परोक्षमेव, धूमात् अग्निज्ञानवद् व्यवधानाविशेषात् । किञ्च, असिद्धानैकान्तिकविरुद्धानुमानाभासवत् संशयविपर्ययानध्यवसायसम्भवात्, सदनुमानवत् सङ्केतस्मरणादिपूर्वकनिश्चयसम्भवाच्च परमार्थतः परोक्षमेवैतत् ।

एतच्च द्विविधम्–इन्द्रियजम्, अनिन्द्रियजं च । तत्रेन्द्रियजं चक्षुरादिजनितम्, अनिन्द्रियजं च मनोजन्म । यद्यपीन्द्रियजज्ञानेऽपि मनो व्यापिपर्ति; तथापि तत्रेन्द्रियस्यैवासाधारणकारणत्वाददोषः । द्वयमपीदं मतिश्रुतभेदाद् द्विधा । तत्रेन्द्रियमनोनिमित्तं श्रुताननुसारि ज्ञानं मतिज्ञानम्, श्रुतानुसारि च श्रुतज्ञानम् । श्रुतानुसारित्वं च सङ्केतविषयपरोपदेशं श्रुतग्रन्थं वाऽनुसृत्य वाच्यवाचकभावेन संयोज्य 'घटो घटः' इत्याद्यन्तर्जन्या (जल्पा) कारग्राहित्वम् । नन्वेवमवग्रह एव मतिज्ञानं स्यान्नत्वीहादयः, तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वेन श्रुतत्वप्रसङ्गादिति चेत्; न; श्रुतनिश्रितानामप्यवग्रहादीनां सङ्केतकाले श्रुतानुसारित्वेऽपि व्यवहारकाले तदननुसारित्वात्, अभ्यासपाटववशेन श्रुतानुसरणमन्तरेणापि विकल्पपरम्परापूर्वकविविधवचनप्रवृत्तिदर्शनात् । अङ्गोपाङ्गादौ शब्दाद्यवग्रहणे च श्रुताननुसारित्वान्मतित्वमेव, यस्तु तत्र श्रुतानुसारी प्रत्ययस्तत्र श्रुतत्वमेवेत्यवधेयम् ।

। अथ मतिज्ञाननिरूपणम् ।

मतिज्ञानम्–अवग्रहेहापायधारणाभेदाच्चतुर्विधम् । अवकृष्टो ग्रहः–अवग्रहः । स द्विविधः–व्यञ्जनावग्रहः, अर्थावग्रहश्च । व्यज्यते प्रकटीक्रियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनम्–कदम्बपुष्पगोलकादिरूपाणामन्तर्निर्वृत्तीन्द्रियाणां शब्दादिविषयपरिच्छेदहेतुशक्तिविशेषलक्षणमुपकरणेन्द्रियम्, शब्दादिपरिणतद्रव्यनिकुरुम्बम्, तदुभयसम्बन्धश्च । ततो व्यञ्जनेन व्यञ्जनस्यावग्रहो व्यञ्जनावग्रह इति मध्यमपदलोपी समासः । अथ अज्ञानम्

अयं बधिरादीनां श्रोत्रशब्दादिसम्बन्धवत् तत्काले ज्ञानानुपलम्भादिति चेत्; न; ज्ञानोपादानत्वेन तत्र ज्ञानत्वोपचारात्, अन्तेऽर्थावग्रहरूपज्ञानदर्शनेन तत्कालेऽपि चेष्टाविशेषाद्यनुमेयस्वप्नज्ञानादितुल्याव्यक्तज्ञानानुमानाद्वा एकतेजोऽवयववत् तस्य तनुत्वेनानुपलक्षणात् ।

स च नयन–मनोवर्जेन्द्रियभेदाच्चतुर्धा, नयन–मनसोरप्राप्यकारित्वेन व्यञ्जनावग्रहासिद्धेः, अन्यथा तयोर्ज्ञेयकृतानुग्रहोपघातपात्रत्वे जलानलदर्शन–चिन्तनयोः क्लेद-दाहापत्तेः। रवि–चन्द्राद्यवलोकने चक्षुषोऽनुग्रहोपघातौ दृष्टावेवेति चेत्; न; प्रथमावलोकनसमये तददर्शनात्, अनवरतावलोकने च प्राप्तेन रविकिरणादिनोपघातस्या (स्य), नैसर्गिकसौम्यादिगुणे चन्द्रादौ चावलोकिते उपघाताभावादनुग्रहाभिमानस्योपपत्तेः। मृतनष्टादिवस्तुचिन्तने, इष्टसङ्गमविभवलाभादिचिन्तने च जायमानौ दौर्बल्योरः–क्षतादि–वदनविकासरोमाञ्चोद्गमादिलिङ्गकावुपघातानुग्रहौ न मनसः, किन्तु मनस्त्वपरिणतानिष्टेष्टपुद्गलनिचयरूपद्रव्यमनोऽवष्टम्भेन हृन्निरुद्धवायुभेषजाभ्यामिव जीवस्यवेति न ताभ्यां मनसः प्राप्यकारित्वसिद्धिः। ननु यदि मनो विषयं प्राप्य न परिच्छिनत्ति तदा कथं प्रसुप्तस्य 'मेर्वादौ गतं मे मनः' इति प्रत्यय इति चेत्; न; मेर्वादौ शरीरस्येव मनसो गमनस्वप्नस्यासत्यत्वात्, अन्यथा विबुद्धस्य कुसुमपरिमलाद्यध्वजनितपरिश्रमाद्यनुग्रहोपघातप्रसङ्गात्। ननु स्वप्नानुभूतजिनस्नात्रदर्शन–समीहितार्थालाभयोरनुग्रहोपघातौ विबुध (द्ध) स्य सतो दृश्येते एवेति चेत्; दृश्येतां स्वप्नविज्ञानकृतौ तौ, स्वप्नविज्ञानकृतं क्रियाफलं तु तृप्त्यादिकं नास्ति, यतो विषयप्राप्तिरूपा प्राप्यकारिता मनसो युज्येतेति ब्रूमः। क्रियाफलमपि स्वप्ने व्यञ्जनविसर्गलक्षणं दृश्यत एवेति चेत्; तत् तीव्राध्यवसायकृतम्, न तु कामिनीनिधुवनक्रियाकृतमिति को दोषः? ननु स्त्यानर्धिनिद्रोदये गीतादिकं शृण्वतो व्यञ्जनावग्रहो मन-

सोऽपि भवतीति चेत्, न, तदा स्वप्नाभिमानिनोऽपि श्रवणाद्यवग्रहेणैवोपपत्तेः। ननु 'च्यवमानो न जानाति' इत्यादिवचनात् सर्वस्यापि छद्मस्थोपयोगस्यासङ्ख्येयसमयमानत्वात्, प्रतिसमयं च मनोद्रव्याणां ग्रहणात् विषयमसम्प्राप्तस्यापि मनसो देहादनिर्गतस्य तस्य च स्वसन्निहितहृदयादिचिन्तनवेलायां कथं व्यञ्जनावग्रहो न भवतीति चेत्, शृणु; ग्रहणं हि मनः, न तु ग्राह्यम्। ग्राह्यवस्तुग्रहणे च व्यञ्जनावग्रहो भवतीति न मनोद्रव्यग्रहणे तदवकाशः; सन्निहितहृदयादिदेशग्रहवेलायामपि नैतदवकाशः, बाह्यार्थापेक्षयैव प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्वव्यवस्थानात्, क्षयोपशमपाटवेन मनसः प्रथममर्थानुपलब्धिकालासम्भवाद्वा; श्रोत्रादीन्द्रियव्यापारकालेऽपि मनोव्यापारस्य व्यञ्जनावग्रहोत्तरमेवाभ्युपगमात्, 'मनुतेऽर्थान् मन्यन्तेऽर्थाः अनेनेति वा मनः' इति मनःशब्दस्यान्वर्थत्वात्, अर्थभाषणं विना भाषाया इव अर्थमननं विना मनसोऽप्रवृत्तेः। तदेवं नयनमनसोर्न व्यञ्जनावग्रह इति स्थितम्।

। अथ अर्थावग्रहनिरूपणम्।

स्वरूपनामजातिक्रियागुणद्रव्यकल्पनारहितं सामान्यग्रहणम् अर्थावग्रहः। कथं तर्हि 'तेन शब्द इत्यवगृहीतः' इति सूत्रार्थः, तत्र शब्दाद्युल्लेखराहित्याभावादिति चेत्; न; 'शब्दः' इति वक्त्रैव भणनात्, रूपरसादिविशेषव्यावृत्त्यनवधारणपरत्वाद्वा। यदि च 'शब्दोऽयम्' इत्यध्यवसायोऽवग्रहे भवेत् तदा शब्दोल्लेखस्यान्तर्मुहूर्त्तिकत्वादर्थावग्रहस्यैकसामा (म) यिकत्वं भज्येत। स्यान्मतम्-'शब्दोऽयम्' इति सामान्यविशेषग्रहणमप्यर्थावग्रह इष्यताम्, तदुत्तरम्-'प्रायो माधुर्यादयः शङ्खशब्दधर्मा इह, न तु शार्ङ्गधर्माः खरकर्कशत्वादयः' इतीहोत्पत्तेः-इति; मैवम्; अशब्दव्यावृत्त्या विशेषप्रतिभासेनास्याऽपायत्वात् स्तोकग्रहणस्योत्तरोत्तरभेदापेक्षयाऽव्यवस्थितत्वात्। किञ्च, 'शब्दोऽयम्' इति ज्ञान (नं) शब्दगतान्वयधर्मेषु रूपादिव्यावृत्तिपर्यालोचनरूपामीहां विनाऽनुपपन्नम्, सा च नागृ-

हीतेऽर्थे सम्भवतीति तद्ग्रहणं अस्मदभ्युपगतार्थावग्रहकालात् प्राक् प्रतिपत्तव्यम्, स च व्यञ्जनावग्रहकालोऽर्थपरिशून्य इति यत्किञ्चिदेतत्। नन्वनन्तरम्–'क एष शब्दः' इति शब्दत्वावान्तरधर्मविषयकेहानिर्देशात् 'शब्दोऽयम्' इत्याकार एवावग्रहोऽभ्युपेय इति चेत्; न, 'शब्दः शब्दः' इति भाषकेणैव भणनात् अर्थावग्रहेऽव्यक्तशब्दश्रवणस्यैव सूत्रे निर्देशात्, अव्यक्तस्य च सामान्यरूपत्वादनाकारोपयोगरूपस्य चास्य तन्मात्रविषयत्वात्। यदि च व्यञ्जनावग्रह एवाव्यक्तशब्दग्रहणमिष्येत तदा सोऽप्यर्थावग्रहः स्यात्, अर्थस्य ग्रहणात्।

केचित्तु–'सङ्केतादिविकल्पविकलस्य जातमात्रस्य बालस्य सामान्यग्रहणम्, परिचितविषयस्य त्वाद्यसमय एव विशेषज्ञानमित्येतदपेक्षया 'तेन शब्द इत्यवगृहीतः' इति नानुपपन्नम्' –इत्याहुः; तन्न; एवं हि व्यक्ततरस्य व्यक्तशब्दज्ञानमतिक्रम्यापि सुबहुविशेषग्रहप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः; 'न पुनर्जानाति क एष शब्दः' इति सूत्रावयवस्याविशेषेणोक्तत्वात्, प्रकृष्टमतेरपि शब्दं धर्मिणमगृहीत्वोत्तरोत्तरसुबहुधर्मग्रहणानुपपत्तेश्च।

अन्ये तु–'आलोचनपूर्वकमर्थावग्रहमाचक्षते, तत्रालोचनमव्यक्तसामान्यग्राहि अर्थावग्रहस्त्वितरव्यावृत्तवस्तुस्वरूपग्राहीति न सूत्रानुपपत्तिः'–इति; तदसत्; यत आलोचनं व्यञ्जनावग्रहात् पूर्वं स्यात्, पश्चाद्वा, स एव वा ? नाद्यः; अर्थव्यञ्जनसम्बन्धं विना तदयोगात्। न द्वितीयः; व्यञ्जनावग्रहान्त्यसमयेऽर्थावग्रहस्यैवोत्पादादालोचनानवकाशात्। न तृतीयः; व्यञ्जनावग्रहस्यैव नामान्तरकरणात्, तस्य चार्थशून्यत्वेनार्थालोचनानुपपत्तेः। किञ्च, आलोचनेनेहां विना झटित्येवार्थावग्रहः कथं जन्यताम् ? युगपच्चेहावग्रहौ पृथगसङ्ख्येयसमयमानौ कथं घटेताम् ? इति विचारणीयम्। नन्ववग्रहेऽपि क्षिप्रेतरादिभेदप्रदर्शनादसङ्ख्येयसमयमानत्वम्, विशेषविषयत्वं चाविरुद्धमिति

चेत्; न; तत्त्वतस्तेषामपायभेदत्वात्, कारणे कार्योपचारमाश्रित्यावग्रहभेदत्वप्रतिपादनात्, अविशेषविषये विशेषविषयत्वस्यावास्तवत्वात्।

अथवा अवग्रहो द्विविधः–नैश्चयिकः, व्यावहारिकश्च। आद्यः सामान्यमात्रग्राही, द्वितीयश्च विशेषविषयः तदुत्तरमुत्तरोत्तरधर्माकाङ्क्षारूपेहाप्रवृत्तेः, अन्यथा अवग्रहं विनेहानुत्थानप्रसङ्गात् अत्रैव क्षिप्रेतरादिभेदसङ्गतिः, अत एव चोपर्युपरि ज्ञानप्रवृत्तिरूपसन्तानव्यवहार इति द्रष्टव्यम्। ॥ ईहा ॥

अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षणम्–ईहा, व्यतिरेकधर्मनिराकरणपरोऽन्वयधर्मघटनप्रवृत्तो बोध इति यावत्, यथा–'श्रोत्रग्राह्यत्वादिना प्रायोऽनेन शब्देन भवितव्यम्' 'मधुरत्वादिधर्मयुक्तत्वात् शाङ्खादिना' वा इति। न चेयं संशय एव; तस्यैकत्रधर्मिणि विरुद्धनानार्थज्ञानरूपत्वात्, अस्याश्च निश्चयाभिमुखत्वेन विलक्षणत्वात्। ॥ अपायः ॥

ईहितस्य विशेषनिर्णयोऽवायः, यथा–'शब्द एवायम्', 'शाङ्ख एवायम्' इति वा।

स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा। सा च त्रिविधा–अविच्युतिः, स्मृतिः, वासना च। तत्रैकार्थोपयोगसातत्यानिवृत्तिः अविच्युतिः। तस्यैवार्थोपयोगस्य कालान्तरे 'तदेव' इत्युल्लेखेन समुन्मीलनं स्मृतिः। अपायाहितः स्मृतिहेतुः संस्कारो वासना। द्वयोरवग्रहयोरवग्रहत्वेन च तिसृणां धारणानां धारणात्वेनोपग्रहान्न विभागव्याघातः। ॥ धारणा ॥

केचित्तु–अपनयनमपायः, धरणं च धारणेति व्युत्पत्त्यर्थमात्रानुसारिणः–'असद्भूतार्थविशेषव्यतिरेकावधारणमपायः, सद्भूतार्थविशेषावधारणं च धारणा'–इत्याहुः; तन्न; क्वचित्तदन्यव्यतिरेकपरामर्शात्, क्वचिदन्वयधर्मसमनुगमात्, क्वचिच्चोभाभ्यामपि भवतोऽपायस्य निश्चयैकरूपेण भेदाभावात्, अन्यथा स्मृतेराधिक्येन मतेः पञ्चभेदत्वप्रसङ्गात्। अथ नास्त्येव भवदभिमता धारणेति भेदचतुष्टया (य) व्याघातः; तथाहि–उपयोगो-

परमे का नाम धारणा ? उपयोगसातत्यलक्षणा अविच्युतिश्चापायान्नातिरिच्यते । या च घटाद्युपयोगोपरमे सङ्ख्येयमसङ्ख्येयं वा कालं वासनाऽभ्युपगम्यते, या च 'तदेव' इतिलक्षणा स्मृतिः सा मत्यंशरूपा धारणा न भवति मत्युपयोगस्य प्रागेवोपरतत्वात्, कालान्तरे जायमानोपयोगेऽप्यन्वयमुख्यां धारणायां स्मृत्यन्तर्भावादिति चेत्; न; अपायप्रवृत्त्यनन्तरं क्वचिदन्तर्मुहूर्त्तं यावदपायधाराप्रवृत्तिदर्शनात् अविच्युतेः, पूर्वापरदर्शनानुसन्धानस्य 'तदेवेदम्' इति स्मृत्याख्यस्य प्राच्यापायपरिणामस्य, तदाधायकसंस्कारलक्षणाया वासनायाश्च अपायाभ्यधिकत्वात् ।

नन्वविच्युतिस्मृतिलक्षणौ ज्ञानभेदौ गृहीतग्राहित्वान्न प्रमाणम्; संस्कारश्च किं स्मृतिज्ञानावरणक्षयोपशमो वा तज्ज्ञानजननशक्तिर्वा, तद्वस्तुविकल्पो वेति त्रयी गतिः ? तत्र–आद्यपक्षद्वयमयुक्तम्; ज्ञानरूपत्वाभावात् तद्भेदानां चेह विचार्यत्वात् । तृतीयपक्षोऽप्ययुक्त एव; सङ्ख्येयमसङ्ख्येयं वा कालं वासनाया इष्टत्वात्, एतावन्तं च कालं वस्तुविकल्पायोगादिति न कापि धारणा घटत इति चेत्; न; स्पष्टस्पष्टतरस्पष्टतमभिन्नधर्मकवासनाजनकत्वेन अन्यान्यवस्तुग्राहित्वादविच्युतेः प्रागननुभूतवस्त्वेकत्वग्राहित्वाच्च स्मृतेः अगृहीतग्राहित्वात्, स्मृतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमरूपायास्तद्विज्ञानजननशक्तिरूपायाश्च वासनायाः स्वयमज्ञानरूपत्वेऽपि कारणे कार्योपचारेण ज्ञानभेदाभिधानाविरोधादिति ।

एते चावग्रहादयो नोत्क्रमव्यतिक्रमाभ्यां न्यूनत्वेन चोत्पद्यन्ते, ज्ञेयस्येत्थमेव ज्ञानजननस्वाभाव्यात् । क्वचिदभ्यस्तेऽपायमात्रस्य दृढवासने विषये स्मृतिमात्रस्य चोपलक्षणेऽप्युत्पलपत्रशतव्यतिभेद इव सौक्ष्म्यादवग्रहादिक्रमानुपलक्षणात् । तदेवम् अर्थावग्रहादयो मनइन्द्रियैः षोढा भिद्यमाना व्यञ्जनावग्रहचतुर्भेदैः सहाष्टाविंशतिर्मतिभेदा भवन्ति । अथवा बहु–बहुविध–

-क्षिप्रा-ऽनिश्रित-निश्रित-ध्रुवैः सप्रतिपक्षैर्द्वादशभिर्भेदैर्भिन्नानामेतेषां षट्त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि भवन्ति । बह्वादयश्च भेदा विषयापेक्षाः; तथाहि-कश्चित् नानाशब्दसमूहमाकर्णितं बहुं जानाति-'एतावन्तोऽत्र शङ्खशब्दा एतावन्तश्च पटहादिशब्दाः' इति पृथग्भिन्नजातीयं क्षयोपशमविशेषात् परिच्छिनत्तीत्यर्थः । अन्यस्त्वल्पक्षयोपशमत्वात् तत्समानदेशोऽप्यबहुम् । अपरस्तु क्षयोपशमवैचित्र्यात् बहुविधम्, एकैकस्यापि शङ्खादिशब्दस्य स्निग्धत्वादिबहुधर्मान्वितत्वेनाप्याकलनात् । परस्त्वबहुविधम्, स्निग्धत्वादिस्वल्पधर्मान्वितत्वेनाकलनात् । अन्यस्तु क्षिप्रम्, शीघ्रमेव परिच्छेदात् । इतरस्त्वक्षिप्रम्, चिरविमर्शेनाकलनात् । परस्त्वनिश्रितम्, लिङ्गं विना स्वरूपत एव परिच्छेदात् । अपरस्तु निश्रितम्, लिङ्गनिश्रयाऽऽकलनात् । [कश्चित्तु निश्चितम्, विरुद्धधर्मानालिङ्गितत्वेनावगतेः । इतरस्त्वनिश्चितम्, विरुद्धधर्मालिङ्गिततयावगमात् ।] अन्यो ध्रुवम्, बह्वादिरूपेणावगतस्य सर्वदैव तथा बोधात् । अन्यस्त्वध्रुवम्, कदाचिद्बह्वादिरूपेण कदाचित्त्वबह्वादिरूपेणावगमादिति । उक्ता मतिभेदाः ।

। अथ श्रुतज्ञाननिरूपणम् ।

श्रुतभेदा उच्यन्ते-श्रुतम् अक्षर-सञ्ज्ञि-सम्यक्-सादि-सपर्यवसित-गमिकाऽङ्गप्रविष्टभेदैः सप्रतिपक्षैश्चतुर्दशविधम् । तत्राक्षरं त्रिविधम्-सञ्ज्ञा-व्यञ्जन-लब्धिभेदात् । सञ्ज्ञाक्षरं बहुविधलिपिभेदम्, व्यञ्जनाक्षरं भाष्यमाणमकारादि-एते चोपचाराच्छ्रुते । लब्ध्यक्षरं तु इन्द्रियमनोनिमित्तः श्रुतोपयोगः, तदावरणक्षयोपशमो वा-एतच्च परोपदेशं विनापि नासम्भाव्यम्, अनाकलितोपदेशानामपि मुग्धानां गवादीनां च शब्दश्रवणे तदाभिमुख्यदर्शनात्, एकेन्द्रियाणामप्यव्यक्ताक्षरलाभाच्च । अनक्षरश्रुतमुच्छ्वासादि, तस्यापि भावश्रुतहेतुत्वात्, ततोऽपि 'सशोकोऽयम्' इत्यादिज्ञानाविर्भावात् । अथवा श्रुतोपयुक्तस्य सर्वात्मनैवोपयोगात् सर्वस्यैव व्यापारस्य श्रुतरूप-

त्वेऽपि अत्रैव शास्त्रज्ञलोकप्रसिद्धा रूढिः। समनस्कस्य श्रुतं सञ्ज्ञिश्रुतम्। तद्विपरीतमसञ्ज्ञिश्रुतम्। स्वामित्वचिन्तायां तु भजना-सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुतमेव वितथभाषित्वादिना यथास्थानं तदर्थविनियोगात्, विपर्ययान्मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं च सम्यक्श्रुतमपि मिथ्याश्रुतमेवेति। सादि द्रव्यत एकं पुरुषमाश्रित्य, क्षेत्रतश्च भरतैरावते। कालत उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ, भावतश्च तत्तज्ज्ञापकप्रयत्नादिकम्। अनादि द्रव्यतो नानापुरुषानाश्रित्य, क्षेत्रतो महाविदेहान्, कालतो नोउत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणम्, भावतश्च सामान्यतः क्षयोपशममिति। एवं सपर्यवसितापर्यवसितभेदावपि भाव्यौ। गमिकं सदृशपाठं प्रायो दृष्टिवादगतम्। अगमिकमसदृशपाठं प्रायः कालिकश्रुतगतम्। अङ्गप्रविष्टं गणधरकृतम्। अनङ्गप्रविष्टं तु स्थविरकृतमिति। तदेवं सप्रभेदं सांव्यवहारिकं मतिश्रुतलक्षणं प्रत्यक्षं निरूपितम्।

॥ पारमार्थिकम् ॥

स्वोत्पत्तावात्मव्यापारमात्रापेक्षं पारमार्थिकम्। तत् त्रिविधम्-अवधि-मनःपर्यय-केवलभेदात्। सकलरूपिद्रव्यविषयकजातीयम् आत्ममात्रापेक्षं ज्ञानमवधिज्ञानम्। तच्च षोढा अनुगामि-वर्धमान-प्रतिपातीतरभेदात्। तत्रोत्पत्तिक्षेत्रादन्यत्राप्यनुवर्तमानमानुगामिकम्, भास्करप्रकाशवत्, यथा भास्करप्रकाशः प्राच्यामाविर्भूतः प्रतीचीमनुसरत्यपि तत्रावकाशमुद्योतयति, तथैतदप्येकत्रोत्पन्नमन्यत्र गच्छतोऽपि पुंसो विषयमवभासयतीति। उत्पत्तिक्षेत्र एव विषयावभासकमनानुगामिकम्, प्रश्नादेशपुरुषज्ञानवत्, यथा प्रश्नादेशः क्वचिदेव स्थाने संवादयितुं शक्नोति पृच्छ्यमानमर्थम्, तथेदमपि अधिकृत एव स्थाने विषयमुद्योतयितुमलमिति। उत्पत्तिक्षेत्रात्क्रमेण विषयव्याप्तिमवगाहमानं वर्धमानम्, अधरोत्तरारणिनिर्मथनोत्पन्नोपात्तशुष्कोपचीयमानाधीयमानेन्धनराश्यग्निवत्, यथा अग्निः प्रयत्नादुपजातः सन् पुनरिन्धनलाभाद्विवृद्धिमुपाग-

च्छति एवं परमशुभाध्यवसायलाभादिदमपि पूर्वोत्पन्नं वर्धत इति। उत्पत्तिक्षेत्रापेक्षया क्रमेणाल्पीभवद्विषयं हीयमानम्, परिच्छिन्नेन्धनोपादानसन्तत्यग्निशिखावत्, यथा अपनीतेन्धनाग्निज्वाला परिहीयते तथा इदमपीति। उत्पत्त्यनन्तरं निर्मूलनश्वरं प्रतिपाति, जलतरङ्गवत्, यथा जलतरङ्ग उत्पन्नमात्र एव निर्मूलं विलीयते तथा इदमपि। आ केवलप्राप्तेः आ मरणाद्वा अवतिष्ठमानम् अप्रतिपाति, वेदवत्, यथा पुरुषवेदादिरापुरुषादिपर्यायं तिष्ठति तथा इदमपीति।

। अथ मनःपर्यायज्ञाननिरूपणम्।

मनोमात्रसाक्षात्कारि मनःपर्यवज्ञानम्। मनःपर्यायानिदं साक्षात्परिच्छेत्तुमलम्, बाह्यानर्थान् पुनस्तदन्यथाऽनुपपत्त्याऽनुमानेनैव परिच्छिनत्तीति द्रष्टव्यम्। तद् द्विविधम्—ऋजुमति-विपुलमतिभेदात्। ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः। सामान्यशब्दोऽत्र विपुलमत्यपेक्षयाऽल्पविशेषपरः, अन्यथा सामान्यमात्रग्राहित्वे मनः पर्यायदर्शनप्रसङ्गात्। विपुला विशेषग्राहिणी मतिर्विपुलमतिः। तत्र ऋजुमत्या घटादिमात्रमनेन चिन्तितमिति ज्ञायते, विपुलमत्या तु पर्यायशतोपेतं तत् परिच्छिद्यत इति। एते च द्वे ज्ञाने विकलविषयत्वाद्विकलप्रत्यक्षे परिभाष्येते।

। अथ केवलज्ञाननिरूपणम्।

निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि केवलज्ञानम्। अत एवैतत्सकलप्रत्यक्षम्। तच्चावरणक्षयस्य हेतोरैक्याद्भेदरहितम्। आवरणं चात्र कर्मैव, स्वविषयेऽप्रवृत्तिमतोऽस्मदादिज्ञानस्य सावरणत्वात्, असर्वविषयत्वे व्याप्तिज्ञानाभावप्रसङ्गात्, सावरणत्वाभावेऽस्पष्टत्वानुपपत्तेश्च। आवरणस्य च कर्मणो विरोधिना सम्यग्दर्शनादिना विनाशात् सिध्यति कैवल्यम्।

'योगजधर्मानुगृहीतमनोजन्यमेवेदमस्तु' इति केचित्; तन्न;

धर्मानुगृहीतेनापि मनसा पञ्चेन्द्रियार्थज्ञानवदस्य जनयितुमशक्यत्वात् ।

'कवलभोजिनः कैवल्यं न घटते' इति दिक्पटः; तन्न; आहारपर्याप्त्यसातवेदनीयोदयादिप्रसूतया कवलभुक्त्या कैवल्याविरोधात्, घातिकर्मणामेव तद्विरोधित्वात् । दग्धरज्जुस्थानीयात्ततो न तदुत्पत्तिरिति चेत्; नन्वेवं तादृशादायुषो भवोपग्रहोऽपि न स्यात् । किञ्च, औदारिकशरीरस्थितिः कथं कवलभुक्तिं विना भगवतः स्यात् । अनन्तवीर्यत्वेन तां विना तदुपपत्तौ छद्मस्थावस्थायामप्यपरिमितबलत्वश्रवणाद् भुक्त्यभावः स्यादित्यन्यत्र विस्तरः । उक्तं प्रत्यक्षम् ।

। अथ परोक्षप्रमाणनिरूपणम् ।

अथ परोक्षमुच्यते—अस्पष्टं परोक्षम् । तच्च स्मरण-प्रत्यभिज्ञान-तर्का-ऽनुमानाऽऽगमभेदतः पञ्चप्रकारम् । अनुभवमात्रजन्यं ज्ञानं स्मरणम्, यथा तत् तीर्थकरबिम्बम् । न चेदमप्रमाणम्, प्रत्यक्षादिवत् अविसंवादकत्वात् । अतीततत्तांशे वर्तमानत्वविषयत्वादप्रमाणमिदमिति चेत्; न; सर्वत्र विशेषणे विशेष्यकालभानानियमात् । अनुभवप्रमात्वपारतन्त्र्यादत्राप्रमात्वमिति चेत्; न; अनुमितेरपि व्याप्तिज्ञानादिप्रमात्वपारतन्त्र्येणाप्रमात्वप्रसङ्गात् । अनुमितेरुत्पत्तौ परापेक्षा, विषयपरिच्छेदे तु स्वातन्त्र्यमिति चेत्; न; स्मृतेरप्युत्पत्तावेवानुभवसव्यपेक्षत्वात्, स्वविषयपरिच्छेदे तु स्वातन्त्र्यात् । अनुभवविषयीकृतभावावभासिन्याः स्मृतेर्विषयपरिच्छेदेऽपि न स्वातन्त्र्यमिति चेत्; तर्हि व्याप्तिज्ञानादिविषयीकृतानर्थान् परिच्छिन्दत्या अनुमितेरपि प्रामाण्यं दूरत एव । नैयत्येनाऽभात एवार्थोऽनुमित्या विषयीक्रियत इति चेत्; तर्हि तत्तयाऽभात एवार्थः स्मृत्या विषयीक्रियत इति तुल्यमिति न किञ्चिदेतत् ।

। अथ प्रत्यभिज्ञाननिरूपणम् ।

अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं सङ्कल-

नात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । यथा 'तज्जातीय एवायं गोपिण्डः' 'गोसदृशो गवयः' 'स एवायं जिनदत्तः' 'स एवानेनार्थः कथ्यते' 'गोविलक्षणो महिषः' 'इदं तस्माद् दूरम्' 'इदं तस्मात् समीपम्' 'इदं तस्मात् प्रांशु ह्रस्वं वा' इत्यादि ।

तत्तेदन्तारूपस्पष्टास्पष्टाकारभेदान्नैकं प्रत्यभिज्ञानस्वरूपमस्तीति शाक्यः; तन्न; आकारभेदेऽपि चित्रज्ञानवदेकस्य तस्यानुभूयमानत्वात्, स्वसामग्रीप्रभवस्यास्य वस्तुतोऽस्पष्टैकरूपत्वाच्च, इदन्तोल्लेखस्य प्रत्यभिज्ञानिबन्धनत्वात् । विषयाभावान्नेदमस्तीति चेत्; न; पूर्वापरविवर्तवर्त्त्येकद्रव्यस्य विशिष्टस्यैतद्विषयत्वात् । अत एव 'अगृहीतासंसर्गकमनुभवस्मृतिरूपं ज्ञानद्वयमेवैतद्' इति निरस्तम्; इत्थं सति विशिष्टज्ञानमात्रोच्छेदापत्तेः । तथापि 'अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् प्रत्यक्षरूपमेवेदं युक्तम्' इति केचित्; तन्न; साक्षादक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वस्यासिद्धेः, प्रत्यभिज्ञानस्य साक्षात्प्रत्यक्षस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेनानुभूयमानत्वात्, अन्यथा प्रथमव्यक्तिदर्शनकालेऽप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् ।

अथ पुनर्दर्शने पूर्वदर्शनाहितसंस्कारप्रबोधोत्पन्नस्मृतिसहायमिन्द्रियं प्रत्यभिज्ञानमुत्पादयतीत्युच्यते; तदनुचितम्; प्रत्यक्षस्य स्मृतिनिरपेक्षत्वात् । अन्यथा पर्वते वह्निज्ञानस्यापि व्याप्तिस्मरणादिसापेक्षमनसैवोपपत्तौ अनुमानस्याप्युच्छेदप्रसङ्गात् । किञ्च, 'प्रत्यभिजानामि' इति विलक्षणप्रतीतेरप्यतिरिक्तमेतत्, एतेन 'विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षसत्त्वाद्विशेषणज्ञाने सति विशिष्टप्रत्यक्षरूपमेतदुपपद्यते' इति निरस्तम्; 'एतत्सदृशः सः' इत्यादौ तदभावात्, स्मृत्यनुभवसङ्कलनक्रमस्यानुभविकत्वाच्चेति दिक् ।

अत्राह भाट्टः—नन्वेकत्वज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमस्तु, सादृश्यज्ञानं तूपमानमेव, गवये दृष्टे गवि च स्मृते सति सादृश्यज्ञानस्योपमानत्वात्, तदुक्तम्—

"तस्माद्यत् स्मर्यते तत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥ १ ॥
प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते ।
विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥ २ ॥"

[श्लोकवा० उप० श्लो० ३७-३८]

इति; तन्न; दृष्टस्य सादृश्यविशिष्टपिण्डस्य स्मृतस्य च गोः सङ्कलनात्मकस्य 'गोसदृशो गवयः' इति ज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानताऽनतिक्रमात् । अन्यथा 'गोविसदृशो महिषः' इत्यादेरपि सादृश्याविषयत्वेनोपमानातिरेके प्रमाणसङ्ख्याव्याघातप्रसङ्गात् ।

एतेन-'गोसदृशो गवयः' इत्यतिदेशवाक्यार्थज्ञानकारणकं सादृश्यविशिष्टपिण्डदर्शनव्यापारकम् 'अयं गवयशब्दवाच्यः' इति सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरूपमुपमानम्-इति नैयायिकमतमप्यपहस्तितं भवति । अनुभूतव्यक्तौ गवयपदवाच्यत्वसङ्कलनात्मकस्यास्य प्रत्यभिज्ञानत्वानतिक्रमात् प्रत्यभिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषेण यद्धर्मावच्छेदेनातिदेशवाक्यानूद्यधर्मदर्शनं तद्धर्मावच्छेदेनैव पदवाच्यत्वपरिच्छेदोपपत्तेः। अत एव "पयोम्बुभेदी हंसः स्यात्" इत्यादिवाक्यार्थज्ञानवतां पयोऽम्बुभेदित्वादिविशिष्टव्यक्तिदर्शने सति 'अयं हंसपदवाच्यः' इत्यादिप्रतीतिर्जायमानोपपद्यते । यदि च 'अयं गवयपदवाच्यः' इति प्रतीत्यर्थं प्रत्यभिज्ञातिरिक्तं प्रमाणमाश्रीयते तदा आमलकादिदर्शनाहितसंस्कारस्य बिल्वादिदर्शनात् 'अतस्तत् सूक्ष्मम्' इत्यादिप्रतीत्यर्थं प्रमाणान्तरमन्वेषणीयं स्यात् । मानसत्वे चासामुपमानस्यापि मानसत्वप्रसङ्गात् । 'प्रत्यभिजानामि' इति प्रतीत्या प्रत्यभिज्ञानत्वमेवाभ्युपेयमिति दिक् ।

। अथ तर्कस्य निरूपणम् ।

सकलदेशकालाद्यवच्छेदेन साध्यसाधनभावादिविषय

ऊहस्तर्कः, यथा 'यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवति, वह्निं विना वा न भवति' 'घटशब्दमात्रं घटस्य वाचकम्' 'घटमात्रं घटशब्दवाच्यम्' इत्यादि । तथाहि—स्वरूपप्रयुक्ताऽव्यभिचारलक्षणायां व्याप्तौ भूयोदर्शनसहितान्वयव्यतिरेकसहकारेणापि प्रत्यक्षस्य तावदविषयत्वादेवाप्रवृत्तिः, सुतरां च सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारेण तद्ग्रह इति साध्यसाधनदर्शनस्मरणप्रत्यभिज्ञानोपजनितस्तर्क एव तत्प्रतीतिमाधातुमलम् ।

अथ स्वव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्यलक्षणाया व्याप्तेर्योग्यत्वाद् भूयोदर्शनव्यभिचारादर्शनसहकृतेनेन्द्रियेण व्याप्तिग्रहोऽस्तु, सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारस्यापि सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या सम्भवादिति चेत्; न; 'तर्कयामि' इत्यनुभवसिद्धेन तर्केणैव सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारेण व्याप्तिग्रहोपपत्तौ सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिकल्पने प्रमाणाभावात्, ऊहं विना ज्ञातेन सामान्येनापि सकलव्यक्त्यनुपस्थितेश्च । वाच्यवाचकभावोऽपि तर्केणैवावगम्यते, तस्यैव सकलशब्दार्थगोचरत्वात् । प्रयोजकवृद्धोक्तं श्रुत्वा प्रवर्तमानस्य प्रयोज्यवृद्धस्य चेष्टामवलोक्य तत्कारणज्ञानजनकतां शब्देऽवधारयन्तो(यतो)ऽन्त्यावयवश्रवण-पूर्वावयवस्मरणोपजनितवर्णपदवाक्यविषयसङ्कलनात्मकप्रत्यभिज्ञानवत आवापोद्वापाभ्यां सकलव्यक्त्युपसंहारेण च वाच्यवाचकभावप्रतीतिदर्शनादिति । अयं च तर्कः सम्बन्धप्रतीत्यन्तरनिरपेक्ष एव स्वयोग्यतासामर्थ्यात्सम्बन्धप्रतीतिजनयतीति नानवस्था ।

प्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्परूपत्वान्नायं प्रमाणमिति बौद्धाः; तन्न; प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्यापि प्रत्यक्षगृहीतमात्राध्यवसायित्वेन सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राहकत्वाभावात् । तादृशस्य तस्य सामान्यविषयस्याप्यनुमानवत् प्रमाणत्वात्, अवस्तुनिर्भासेऽपि परम्परया पदार्थप्रतिबन्धेन भवतां व्यवहारतः प्रामाण्य-

प्रसिद्धेः । यस्तु–अग्निधूमव्यतिरिक्तदेशे प्रथमं धूमस्यानुपलम्भ एकः, तदनन्तरमग्नेरुपलम्भस्ततो धूमस्येत्युपलम्भद्वयम्, पश्चादग्नेरनुपलम्भोऽनन्तरं धूमस्याप्यनुपलम्भ इति द्वावनुपलम्भाविति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकाद्व्याप्तिग्रहः–इत्येतेषां सिद्धान्तः, तदुक्तम्–

“धूमधीर्वह्निविज्ञानं धूमज्ञानमधीस्तयोः ।
प्रत्यज्ञानुपलम्भाभ्यामिति पञ्चभिरन्वयः ॥”

इति; स तु मिथ्या; उपलम्भानुपलम्भस्वभावस्य द्विविधस्यापि प्रत्यक्षस्य सन्निहितमात्रविषयतयाऽविचारकतया च देशादिव्यवहितसमस्तपदार्थगोचरत्वायोगात् ।

यत्तु ‘व्याप्यस्याहार्यारोपेण व्यापकस्याहार्यप्रसञ्जनं तर्कः । स च विशेषदर्शनवद् विरोधिशङ्काकालीनप्रमाणमात्रसहकारी, विरोधिशङ्कानिवर्तकत्वेन तदनुकूल एव वा । न चायं स्वतः प्रमाणम्’ इति नैयायिकैरिष्यते; तन्न; व्याप्तिग्रहरूपस्य तर्कस्य स्वपरव्यवसायित्वेन स्वतः प्रमाणत्वात्, पराभिमततर्कस्यापि क्वचिदेतद्विचाराङ्गतया, विपर्ययपर्यवसायिन आहार्यशङ्काविघटकतया, स्वातन्त्र्येण शङ्कामात्रविघटकतया वोपयोगात् । इत्थं चाज्ञाननिवर्तकत्वेन तर्कस्य प्रामाण्यं धर्मभूषणोक्तं सत्येव तन्न (तत्र) मिथ्याज्ञानरूपे व्यवच्छेद्ये सङ्गच्छते, ज्ञानाभावनिवृत्तिस्त्वर्थज्ञातताव्यवहारनिबन्धनस्वव्यवसितिपर्यवसितैव सामान्यतः फलमिति द्रष्टव्यम् ।

। अथ अनुमानप्रमाणनिरूपणम् ।

साधनात्साध्यविज्ञानम्–अनुमानम् । तद् द्विविधं स्वार्थं परार्थं च । तत्र हेतुग्रहण–सम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्, यथा गृहीतधूमस्य स्मृतव्याप्तिकस्य ‘पर्वतो वह्निमान्’ इति ज्ञानम् । अत्र हेतुग्रहण–सम्बन्धस्मरणयोः समुदितयोरेव कारणत्वमवसेयम्, अन्यथा विस्मृताप्रतिपन्नसम्बन्धस्यागृहीतलिङ्गकस्य च कस्यचिदनुमानोत्पादप्रसङ्गात् ।

। अथ हेतुस्वरूपनिरूपणम् ।

निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः, न तु त्रिलक्षणकादिः । तथाहि–त्रिलक्षण एव हेतुरिति बौद्धाः । पक्षधर्मत्वाभावेऽसिद्धत्वव्यवच्छेदस्य, सपक्ष एव सत्त्वाभावे च विरुद्धत्वव्युदासस्य, विपक्षेऽसत्त्वनियमाभावे चानैकान्तिकत्वनिषेधस्यासम्भवेनानुमित्यप्रतिरोधानुपपत्तेरिति; तन्न; पक्षधर्मत्वाभावेऽपि उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयाद्, उपरि सविता भूमेरालोकवत्त्वाद्, अस्ति नभश्चन्द्रो जलचन्द्रादित्याद्यनुमानदर्शनात् । न चात्रापि 'कालाकाशादिकं भविष्यच्छकटोदयादिमत् कृत्तिकोदयादिमत्त्वात्' इत्येवं पक्षधर्मत्वोपपत्तिरिति वाच्यम्; अननुभूयमानधर्मिविषयत्वेनेत्थं पक्षधर्मत्वोपपादने जगद्धर्म्यपेक्षया काककार्ष्ण्येन प्रासादधावल्यस्यापि साधनोपपत्तेः ।

ननु यद्येवं पक्षधर्मताऽनुमितौ नाङ्गं तदा कथं तत्र पक्षभाननियम इति चेत्; क्वचिदन्यथाऽनुपपत्त्यवच्छेदकतया ग्रहणात् पक्षभानं यथा नभश्चन्द्रास्तित्वं विना जलचन्द्रोऽनुपपन्न इत्यत्र, क्वचिच्च हेतुग्रहणाधिकरणतया यथा पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादित्यत्र धूमस्य पर्वते ग्रहणाद्वह्नेरपि तत्र भानमिति । व्याप्तिग्रहवेलायां तु पर्वतस्य सर्वत्रानुवृत्त्यभावेन न ग्रह इति ।

यत्तु अन्तर्व्याप्त्या पक्षीयसाध्यसाधनसम्बन्धग्रहात् पक्षसाध्यसंसर्गभानम्, तदुक्तम्–"पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः" (प्र. न. ३. ३८) इति; तन्न; अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायनशक्तौ सत्यां बहिर्व्याप्तेरुद्भावनव्यर्थत्वप्रतिपादनेन तस्याः स्वरूपप्रयुक्त(क्ता)ऽव्यभिचारलक्षणत्वस्य, बहिर्व्याप्तेश्च सहचारमात्रत्वस्य लाभात्, सार्वत्रिकया व्याप्तेर्विषयभेदमात्रेण भेदस्य दुर्वचत्वात् । न चेदेवं तदान्तर्व्याप्तिग्रहकाल एष एव(काल एव) पक्षसाध्यसंसर्गभानादनुमानवैक(फ)ल्यापत्तिः विना पर्वतो वह्निमानित्युद्देश्यप्रतीतिमिति यथातन्त्रं भावनीयं सुधीभिः । इत्थं च 'पक्षा-

न्येतानि सहकारफलानि एकशाखाप्रभवत्वाद् उपयुक्तसहकारफलवदित्यादौ बाधितविषये, मूर्खोऽयं देवदत्तः तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवदित्यादौ सत्प्रतिपक्षे चातिप्रसङ्गवारणाय अबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वसहितं प्रागुक्तरूपत्रयमादाय पाञ्चरूप्यं हेतुलक्षणम्' इति नैयायिकमतमप्यपास्तम्; उदेष्यति शकटमित्यादौ पक्षधर्मत्वस्यैवासिद्धेः, स श्यामः तत्पुत्रत्वादित्यत्र हेत्वाभासेऽपि पाञ्चरूप्यसत्त्वाच्च, निश्चितान्यथानुपपत्तेरेव सर्वत्र हेतुलक्षणत्वौचित्यात् ।

। अथ साध्यस्वरूपनिरूपणम् ।

ननु हेतुना साध्यमनुमातव्यम् । तत्र किं लक्षणं साध्यमिति चेत्; उच्यते–अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं च साध्यम् । शङ्कितविपरीतानध्यवसितवस्तूनां साध्यताप्रतिपत्त्यर्थमप्रतीतमिति विशेषणम् । प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यनिराकृतग्रहणम् । अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिपत्तयेऽभीप्सितग्रहणम् ।

कथायां शङ्कितस्यैव साध्यस्य साधनं युक्तमिति कश्चित्; तन्न; विपर्यस्ताव्युत्पन्नयोरपि परपक्षदिदृक्षादिना कथायामुपसर्पणसम्भवेन संशयनिरासार्थमिव विपर्ययानध्यवसायनिरासार्थमपि प्रयोगसम्भवात्, पित्रादेर्विपर्यस्ताव्युत्पन्नपुत्रादिशिक्षाप्रदानदर्शनाच्च । न चेदेवं जिगीषुकथायामनुमानप्रयोग एव न स्यात् तस्य साभिमानत्वेन विपर्यस्तत्वात् ।

अनिराकृतमिति विशेषणं वादिप्रतिवाद्युभयापेक्षया, द्वयोः प्रमाणेनाबाधितस्य कथायां साध्यत्वात् । अभीप्सितमिति तु वाद्यपेक्षयैव, वक्तुरेव स्वाभिप्रेतार्थप्रतिपादनायेच्छासम्भवात् । ततश्च परार्थाश्चक्षुरादय इत्यादौ पारार्थ्यमात्राभिधानेऽप्यात्मार्थत्वमेव सायं(॰मेव साध्यं) सिध्यति । अन्यथा संहतपरार्थत्वेन बौद्धैश्चक्षुरादीनामभ्युपगमा[त् साधनवैफल्या]दित्यनन्वयादिदोषदुष्टमेतत्साङ्ख्यसाधनमिति वदन्ति । स्वार्थानुमानावसरेऽपि

परार्थानुमानोपयोग्यभिधानम्, परार्थस्य स्वार्थपुरःसरत्वेनानतिभेदज्ञापनार्थम् ।

व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया साध्यं धर्म एव, अन्यथा तदनुपपत्तेः, आनुमानिकप्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी । इत्थं च स्वार्थानुमानस्य त्रीण्यङ्गानि धर्मी साध्यं साधनं च । तत्र साधनं गमकत्वेनाङ्गम्, साध्यं तु गम्यत्वेन, धर्मी पुनः साध्यधर्माधारत्वेन, आधारविशेषनिष्ठतया साध्याद्वे(साध्यसिद्धे)रनुमानप्रयोजनत्वात् । अथवा पक्षो हेतुरित्यङ्गद्वयं स्वार्थानुमाने, साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः पक्षत्वात् इति धर्मधर्मिभेदाभेदविवक्षया पक्षद्वयं द्रष्टव्यम् ।

धर्मिणः प्रसिद्धिश्च क्वचित्प्रमाणात् क्वचिद्विकल्पात् क्वचित्प्रमाणविकल्पाभ्याम् । तत्र निश्चितप्रामाण्यकप्रत्यक्षाद्यन्यतमावधृतत्वं प्रमाणप्रसिद्धत्वम् । अनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्ययगोचरत्वं विकल्पप्रसिद्धत्वम् । तद्द्वयविषयत्वं प्रमाणविकल्पप्रसिद्धत्वम् । तत्र प्रमाणसिद्धो धर्मी यथा धूमवत्त्वादग्निमत्त्वे साध्ये पर्वतः, स खलु प्रत्यक्षेणानुभूयते । विकल्पसिद्धो धर्मी यथा सर्वज्ञोऽस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादित्यस्तित्वे साध्ये सर्वज्ञः, अथवा खरविषाणं नास्तीति नास्तित्वे साध्ये खरविषाणम् । अत्र हि सर्वज्ञखरविषाणे अस्तित्वनास्तित्वसिद्धिभ्यां प्राग् विकल्पसिद्धे । उभयसिद्धो धर्मी यथा शब्दः परिणामी कृतकत्वादित्यत्र शब्दः, स हि वर्तमान(नः) प्रत्यक्षगम्यः, भूतो भविष्यंश्च विकल्पगम्यः, स सर्वोऽपि धर्मीति प्रमाणविकल्पसिद्धो धर्मी । प्रमाणोभयसिद्धयोर्धर्मिणोः साध्ये सर्वज्ञः, अथवा खरविषाणं नास्तीति नास्तित्वे साध्ये खरविषाणम् । अत्र हि सर्वज्ञखरविषाणे अस्तित्वनास्तित्वसिद्धिभ्यां प्राग् विकल्पसिद्धे । उभयसिद्धो धर्मी यथा शब्दः परिणामी कृतकत्वादित्यत्र शब्दः, स हि वर्तमान(नः) प्रत्यक्षगम्यः, भूतो भविष्यंश्च विकल्पगम्यः; स सर्वोऽपि धर्मीति

प्रमाणविकल्पसिद्धो धर्मी । प्रमाणोभयसिद्धयोर्धर्मिणोः साध्ये कामचारः । विकल्पसिद्धे तु धर्मिणि सत्तासत्तयोरेव साध्यत्वमिति नियमः तदुक्तम्–"विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये" [परी० ३. २३] इति ।

अत्र बौद्धः सत्तामात्रस्यानभीप्सितत्वाद्विशिष्टसत्तासाधने वानन्वयाद्विकल्पसिद्धे धर्मिणि न सत्ता साध्येत्याह; तदसत्; इत्थं सति प्रकृतानुमानस्यापि भङ्गप्रसङ्गात्, वह्निमात्रस्यानभीप्सितत्वाद्विशिष्टवह्नेश्चानन्वयादिति । अथ तत्र सत्तायां साध्यायां तद्धेतुः भावधर्मः, भावाभावधर्मः, अभावधर्मो वा स्यात्? । आद्येऽसिद्धिः, असिद्धसत्ताके भावधर्मासिद्धेः । द्वितीये व्यभिचारः, अस्तित्वाभाववत्यपि वृत्तेः । तृतीये च विरोधाभा (विरोधोऽभा)वधर्मस्य भावे क्वचिदप्यसम्भवात्, तदुक्तम्–

"नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः ।
धर्मो विरुद्धोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम्? ॥"
[प्रमाणवा० १. १९२]

इति चेत्; न; इत्थं वह्निमद्धर्मत्वादिविकल्पैर्धूमेन वह्न्यनुमानस्याप्युच्छेदापत्तेः ।

विकल्पस्याप्रमाणत्वाद्विकल्पसिद्धो धर्मी नास्त्येवेति नैयायिकः । तस्येत्थंवचनस्यैवानुपपत्तेस्तूष्णीम्भावापत्तिः, विकल्पसिद्धधर्मिणोऽप्रसिद्धौ तत्प्रतिषेधानुपपत्तेरिति ।

इदं त्ववधेयम्–विकल्पसिद्धस्य धर्मिणो नाखण्डस्यैव भानमसत्ख्यातिप्रसङ्गादिति, शब्दादेर्विशिष्टस्य तस्य [भा]नाभ्युपगमे विशेषणस्य संशयेऽभावनिश्चये वा वैशिष्ट्यभा[ना]नुपपत्तेः विशेषणाद्यंशे आहार्यारोपरूपा विकल्पात्मिकैवानुमितिः स्वीकर्तव्या, देशकालसत्तालक्षणस्यास्तित्वस्य, सकलदेशकालसत्ताऽभावलक्षणस्य च नास्तित्वस्य साधनेन परपरिकल्पितविपरीतारोपव्यवच्छेदमात्रस्य फलत्वात् ।

वस्तुतस्तु खण्डशः प्रसिद्धपदार्थोऽस्तित्वनास्तित्वसाधनमेवोचितम् । अत एव "असतो नत्थि णिसेहो" [विशेषा० गा० १५७४] इत्यादि भाष्यग्रन्थे खरविषाणं नास्तीत्यत्र 'खरे विषाणं नास्ति' इत्येवार्थ उपपादितः । एकान्तनित्यमर्थक्रियासमर्थं न भवति क्रमयौगपद्याभावादित्यत्रापि विशेषावमर्शदशायां क्रमयौगपद्यनिरूपकत्वाभावेनार्थक्रियानियामकत्वाभावो नित्यत्वादौ सुसाध इति सम्यग्विभालनीयं स्वपरसमयदत्तदृष्टिभिः ।

। अथ परार्थानुमानस्वरूपनिरूपणम् ।

परार्थं पक्षहेतुवचनात्मकमनुमानमुपचारात्, तेन श्रोतुरनुमानेनार्थबोधनात् । पक्षस्य विवादादेव गम्यमानत्वादप्रयोग इति सौगतः; तन्न; यत्किञ्चिद्वचनव्यवहितात् ततो व्युत्पन्नमतेः पक्षप्रतीतावप्यन्यान् प्रत्यवश्यनिर्देश्यत्वात् प्रकृतानुमानवाक्यावयवान्तरैकवाक्यतापन्नात्ततोऽवगम्यमानस्य पक्षस्याप्रयोगस्य चेष्टत्वात् । अवश्यं चाभ्युपगन्तव्यं हेतोः प्रतिनियतधर्मिधर्मताप्रतिपत्त्यर्थमुपसंहारवचनवत् साध्यस्यापि तदर्थं पक्षवचनं ताथागतेनापि, अन्यथा समर्थनोपन्यासादेव गम्यमानस्य हेतोरप्यनुपन्यासप्रसङ्गात्, मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थस्य चोभयत्राविशेषादिति । किञ्च, प्रतिज्ञायाः प्रयोगानर्हत्वे शास्त्रादावप्यसौ न प्रयुज्येत, दृश्यते च प्रयुज्यमानेयं शाक्यशास्त्रेऽपि । परानुग्रहार्थं शास्त्रे तत्प्रयोगश्च वादेऽपि तुल्यः, विजिगीषूणामपि मन्दमतीनामर्थप्रतिपत्तेस्तत एवोपपत्तेरिति ।

आगमात्परेणैव ज्ञातस्य वचनं परार्थानुमानम्, यथा बुद्धिरचेतना उत्पत्तिमत्त्वात् घटवदिति साङ्ख्यानुमानम् । अत्र हि बुद्धावुत्पत्तिमत्त्वं साङ्ख्याने(ख्येन) नैवाभ्युपगम्यते इति; तदेतदपेशलम्; वादिप्रतिवादिनोरागमप्रामाण्यविप्रतिपत्तेः, अन्यथा तत एव साध्यसिद्धिप्रसङ्गात् । परीक्षापूर्वमागमाभ्युपगमेऽपि परीक्षाकाले तद्बाधात् । नन्वेवं भवद्भिरपि कथमापाद्यते

परं प्रति 'यत् सर्वथैकं तत् नानेकत्र सम्बध्यते, तथा च सामान्यम्' इति ?। सत्यम्; एकधर्मोपगते(मे) धर्मान्तरसन्दर्शनमात्रं (त्र) तत्परत्वेनैतदापादनस्य वस्तुनिश्चायकत्वाभावात्, प्रसङ्गविपर्ययरूपस्य मौलहेतोरेव तन्निश्चायकत्वात्, अनेकवृत्तित्वव्यापकानेकत्वनिवृत्त्यैव तन्निवृत्तेः मौलहेतुपरिकरत्वेन प्रसङ्गोपन्यासस्यापि न्याय्यत्वात्। बुद्धिरचेतनेत्यादौ च प्रसङ्गविपर्ययहेतोर्व्याप्तिसिद्धिनिबन्धनस्य विरुद्धधर्माध्यासस्य विपक्षबाधकप्रमाणस्यानुपस्थापनात् प्रसङ्गस्याप्यन्याय्यत्वमिति वदन्ति।

हेतुः साध्योपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विधा प्रयोक्तव्यः, यथा पर्वतो वह्निमान्, सत्येव वह्नौ धूमोपपत्तेः असत्यनुपपत्तेर्वा। अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः।

पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव च परप्रतिपत्त्यङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम्, पक्षहेतुवचनादेव परप्रतिपत्तेः, प्रतिबन्धस्य तर्कत एव निर्णयात्, तत्स्मरणस्यापि पक्षहेतुदर्शनेनैव सिद्धेः, असमर्थितस्य दृष्टान्तादेः प्रतिपत्त्यनङ्गत्वात्तत्समर्थनेनैवान्यथासिद्धेश्च। समर्थनं हि हेतोरसिद्धत्वादिदोषान्निराकृत्य स्वसाध्येनाविनाभावसाधनम्, तत एव च परप्रतीत्युपपत्तौ किमपरप्रयासेनेति ?।

मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तादिप्रयोगोऽप्युपयुज्यते, तथाहि–यः खलु क्षयोपशमविशेषादेव निर्णीतपक्षो दृष्टान्तस्मार्यप्रतिबन्धग्राहकप्रमाणस्मरणनिपुणोऽपरावयवाभ्यूहनसमर्थश्च भवति, तं प्रति हेतुरेव प्रयोज्यः। यस्य तु नाद्यापि पक्षनिर्णयः, तं प्रति पक्षोऽपि। यस्तु प्रतिबन्धग्राहिणः प्रमाणस्य न स्मरति, तं प्रति दृष्टान्तोऽपि। यस्तु दार्ष्टान्तिके हेतुं योजयितुं न जानीते, तं प्रत्युपनयोऽपि। एवमपि साकाङ्क्षं प्रति च निगमनम्। पक्षादिस्वरूपविप्रतिपत्तिमन्तं प्रति च पक्षशुद्ध्यादि-

क्रमपीति सोऽयं दशावयवो हेतुः पर्यवस्यति।

। अथ हेतुविभागः।

स चायं द्विविधः—विधिरूपः प्रतिषेधरूपश्च। तत्र विधिरूपो द्विविधः—विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्च। तत्राद्यः षोढा, तद्यथा—कश्चिद्व्याप्य एव, यथा शब्दोऽनित्यः प्रयत्नेनान्तरीयकत्वादिति। यद्यपि व्याप्यो हेतुः सर्व एव, तथापि कार्याद्यनात्मव्याप्यस्यात्र (त्र) ग्रहणाद्भेदः, वृक्षः शिंशपाया इत्यादेरप्यत्रैवान्तर्भावः। कश्चित्कार्यरूपः, यथा पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र धूमः, धूमो ह्यग्नेः कार्यभूतः तदभावेऽनुपपद्यमानोऽग्निं गमयति। कश्चित्कारणरूपः, यथा वृष्टिर्भविष्यति, विशिष्टमेघान्यथानुपपत्तेरित्यत्र मेघविशेषः, स हि वर्षस्य कारणं स्वकार्यभूतं वर्षं गमयति। ननु कार्याभावेऽपि सम्भवत् कारणं न कार्यानुमापकम्, अत एव न वह्निर्धूमं गमयतीति चेत्; सत्यम्; यस्मिन्सामर्थ्याप्रतिबन्धः कारणान्तरसाकल्यं च निश्चेतुं शक्यते, तस्यैव कारणस्य कार्यानुमापकत्वात्। कश्चित् पूर्वचरः, यथा उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयान्यथानुपपत्तेरित्यत्र कृत्तिकोदयानन्तरं मुहूर्तान्ते नियमेन शकटोदयो जायत इति कृत्तिकोदयः पूर्वचरो हेतुः शकटोदयं गमयति। कश्चित् उत्तरचरः, यथोदगाद्भरणिः प्राक्, कृत्तिकोदयादित्यत्र कृत्तिकोदयः, कृत्तिकोदयो हि भरण्युदयोत्तरचरस्तं गमयतीति कालव्यवधानेनानयोः कार्यकारणाभ्यां भेदः। कश्चित् सहचरः, यथा मातुलिङ्गरूपवद्भवितुमर्हति रसवत्तान्यथानुपपत्तेरित्यत्र रसः, रसो हि नियमेन रूपसहचरितः, तदभावेऽनुपपद्यमानस्तद्गमयति, परस्परस्वरूपपरित्यागोपलम्भ—पौर्वापर्याभावाभ्यां स्वभावकार्यकारणेभ्योऽस्य भेदः। एतेषूदाहरणेषु भावरूपानेवाग्न्यादीन् साधयन्ति धूमादयो हेतवो भावरूपा एवेति विधिसाधकाविधिरूपास्त एवाविरुद्धोपलब्धय इत्युच्यन्ते।

द्वितीयस्तु निषेधसाधको विरुद्धोपलब्धिनामा। स च स्वभा-

वविरुद्धतद्व्याप्याद्युपलब्धिभेदात् सप्तधा । यथा नास्त्येव सर्वथा एकान्तः, अनेकान्तस्योपलम्भात् । नास्त्यस्य तत्त्वनिश्चयः, तत्र सन्देहात् । नास्त्यस्य क्रोधोपशान्तिः, वदनविकारादेः । नास्त्यस्यासत्यं वचः, रागाद्यकलङ्कितज्ञानकलितत्वात् । नोद्गमिष्यति मुहूर्त्तान्ते पुष्यतारा, रोहिण्युद्गमात् । नोदगान्मुहूर्तात्पूर्वं मृगशिरः, पूर्वफा(फ)ल्गुन्युदयात् । नास्त्यस्य मिथ्याज्ञानं, सम्यग्दर्शनादिति । अत्रानेकान्तः प्रतिषेध्यस्यैकान्तस्य स्वभावतो विरुद्धः । तत्त्वसन्देहश्च प्रतिषेध्यतत्त्वनिश्चयविरुद्धतदनिश्चयव्याप्यः । वदनविकारादिश्च क्रोधोपशमविरुद्धतदनुपशमकार्यम् । रागाद्यकलङ्कितज्ञानकलितत्वं चासत्यविरुद्धसत्यकारणम् । रोहिण्युद्गमश्च पुष्यतारोद्गमविरुद्धमृगशीर्षोदयपूर्वचरः । पूर्वफल्गुन्युदयश्च मृगशीर्षोदयविरुद्धमघोदयोत्तरचरः । सम्यग्दर्शनं च मिथ्याज्ञानविरुद्धसम्यग्ज्ञानसहचरमिति ।

। अथ प्रतिषेधरूपहेतुनिरुपणम् ।

प्रतिषेधरूपोऽपि हेतुर्द्विविधः—विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्चेति । आद्यो विरुद्धानुपलब्धिनामा विधेयविरुद्धकार्यकारणस्वभावव्यापकसहचरानुपलम्भभेदात्पञ्चधा । यथा अस्त्यत्र रोगातिशयः, नीरोगव्यापारानुपलब्धेः । विद्यतेऽत्र कष्टम्, इष्टसंयोगाभावात् । वस्तुजातमनेकान्तात्मकम्, एकान्तस्वभावानुपलम्भात् । अस्त्यत्र च्छाया, औष्ण्यानुपलब्धेः । अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानम्, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेरिति ।

द्वितीयोऽविरुद्धानुपलब्धिनामा प्रतिषेध्याविरुद्धस्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचरानुपलब्धिभेदात् सप्तधा । यथा नास्त्यत्र भूतले कुम्भः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलम्भात् । नास्त्यत्र पनसः, पादपानुपलब्धेः । नास्त्यत्राप्रतिहतशक्तिकम् बीजम्, अङ्कुरानवलोकनात् । न सन्त्यस्य प्रशमप्रभृतयो भावाः, तत्त्वार्थश्रद्धानाभावात् । नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते स्वातिः, चित्रोदयादर्शनात् । नोदगमत्पूर्वभद्रपदा मुहूर्तात्पूर्वम्, उत्तर-

भद्रपदोद्गामानवगमात् । नास्त्यत्र सम्यग्ज्ञानम्, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेरिति । सोऽयमनेकविधोऽन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरुक्तोऽतोऽन्यो हेत्वाभासः ।

। अथ हेत्वाभासनिरूपणम् ।

स त्रेधा–असिद्धविरुद्धानैकान्तिकभेदात् । तत्राप्रतीयमानस्वरूपो हेतुरसिद्धः । स्वरूपाप्रतीतिश्चाज्ञानात्सन्देहाद्विपर्ययाद्वा । स द्विविधः–उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च । आद्यो यथा शब्दः परिणामी चाक्षुषत्वादिति । द्वितीयो यथा अचेतनास्तरवः, विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वात्, अचेतनाः सुखादयः उत्पत्तिमत्त्वादिति वा ।

नन्वन्यतरासिद्धो हेत्वाभास एव नास्ति, तथाहि–परेणासिद्ध इत्युद्भाविते यदि वादी न तत्साधकं प्रमाणमाचक्षीत, तदा प्रमाणाभावदुभयोरप्यसिद्धः । अथाचक्षीत तदा प्रमाणस्यापक्षपातित्वादुभयोरपि सिद्धः । अथ यावन्न परं प्रति प्रमाणेन प्रसाध्यते, तावत्तं प्रत्यसिद्ध इति चेत्; गौणं तर्ह्यसिद्धत्वम्, न हि रत्नादिपदार्थस्तत्त्वतोऽप्रतीयमानस्तावन्तमपि कालं मुख्यतया तदाभासः । किञ्च, अन्यतरासिद्धो यदा हेत्वाभासस्तदा वादी निगृहीतः स्यात्, न च निगृहीतस्य पश्चादनिग्रह इति युक्तम् । नापि हेतुसमर्थनं पश्चाद्युक्तम्, निग्रहान्तत्वाद्वादस्येति । अत्रोच्यते–यदा वादी सम्यग्घेतुत्वं प्रतिपद्यमानोऽपि तत्समर्थनन्यायविस्मरणादिनिमित्तेन प्रतिवादिनं प्राश्निकान् वा प्रतिबोधयितुं न शक्नोति, असिद्धतामपि नानुमन्यते, तदान्यतरासिद्धत्वेनैव निगृह्यते । तथा, स्वयमनभ्युपगतोऽपि परस्य सिद्ध इत्येतावानै(इत्येतावतै)वोपन्यस्तो हेतुरन्यतरासिद्धो निग्रहाधिकरणम्, यथा साङ्ख्यस्य जैनं प्रति 'अचेतनाः सुखादय उत्पत्तिमत्त्वात् घटवत्' ।

। अथ विरुद्धहेत्वाभासनिरूपणम् ।

साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः । यथा अपरिणामी शब्दः कृत-

कत्वादिति । कृतकत्वं ह्यपरिणामित्वविरुद्धेन परिणामित्वेन व्याप्तमिति ।

। अथ अनैकान्तिकहेत्वाभासनिरूपणम् ।

यस्यान्यथानुपपत्तिः सन्दिह्यते सोऽनैकान्तिकः । स द्वेधा निर्णीतविपक्षवृत्तिकः सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकश्च । आद्यो यथा नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् । अत्र हि प्रमेयत्वस्य वृत्तिर्नित्ये व्योमादौ सपक्ष इव विपक्षेऽनित्ये घटादावपि निश्चिता । द्वितीयो यथा अभिमतः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वादिति । अत्र हि वक्तृत्वं विपक्षे सर्वज्ञे संदिग्धवृत्तिकम्, सर्वज्ञः किं वक्ताऽऽहोस्विन्नेति सन्देहात् । एवं स श्यामो मित्रापुत्रत्वादित्याद्यप्युदाहार्यम् ।

अकिञ्चित्कराख्यश्चतुर्थोऽपि हेत्वाभासभेदो धर्मभूषणेनोदाहृतो न श्रद्धेयः । सिद्धसाधनो बाधितविषयश्चेति द्विविधस्याप्यप्रयोजकाह्वयस्य तस्य प्रतीत–निराकृताख्यपक्षाभासभेदानतिरिक्तत्वात् । न च यत्र पक्षदोषस्तत्रावश्यं हेतुदोषोऽपि वाच्यः, दृष्टान्तादिदोषस्याप्यवश्यं वाच्यत्वापत्तेः । एतेन कालात्ययापदिष्टोऽपि प्रत्युक्तो वेदितव्यः । प्रकरणसमोऽपि नातिरिच्यते, तुल्यबलसाध्य तद्विपर्ययसाधकहेतुद्वयरूपे सत्यसत्यस्मिन् प्रकृतसाध्यसाधनयोरन्यथानुपपत्त्यनिश्चयेऽसिद्ध एवान्तर्भावादिति संक्षेपः ।

। अथ आगमप्रमाणनिरूपणम् ।

आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः । न च व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्वाद् धूमवदस्यानुमानेऽन्तर्भावः, कूटाकूटकार्षापणनिरूपणप्रवणप्रत्यक्षवदभ्यासदशायां व्याप्तिग्रहनैरपेक्ष्येणैवास्यार्थबोधकत्वात् । यथास्थितार्थपरिज्ञानपूर्वकहितोपदेशप्रवण आप्तः । वर्णपदवाक्यात्मकं तद्वचनम् । वर्णोऽकारादिः पौद्गलिकः । पदं सङ्केतवत् । अन्योऽन्यापेक्षाणां पदानां समुदायो वाक्यम् ।

तदिदमागमप्रमाणं सर्वत्र विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधानं सप्तभङ्गीमनुगच्छति, तथैव परिपूर्णार्थप्रापकत्वलक्षणतात्त्विकप्रामाण्यनिर्वाहात्, क्वचिदेकभङ्गदर्शनेऽपि व्युत्पन्नमतीनामितरभङ्गाक्षेपध्रौव्यात् । यत्र तु घटोऽस्तीत्यादिलोकवाक्ये सप्तभङ्गीसंस्पर्शशून्यता तत्रार्थप्रापकत्वमात्रेण लोकापेक्षया प्रामाण्येऽपि तत्त्वतो न प्रामाण्यमिति द्रष्टव्यम् ।

। अथ सप्तभङ्गीस्वरूपनिरूपणम् ।

केयं सप्तभङ्गीति चेदुच्यते-एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी । इयं च सप्तभङ्गी वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तविधधर्माणां सम्भवात् सप्तविधसंशयोत्थापितसप्तविधजिज्ञासामूलसप्तविधप्रश्नानुरोधादुपपद्यते । तत्र स्यादस्त्येव सर्वमिति प्राधान्येन विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः । स्यात्–कथञ्चित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयेत्यर्थः । अस्ति हि घटादिकं द्रव्यतः पार्थिवादित्वेन, न जलादित्वेन । क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकादित्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन । कालतः शैशिरादित्वेन, न वासन्तिकादित्वेन । भावतः श्यामादित्वेन, न रक्तादित्वेनेति । एवं स्यान्नास्त्येव सर्वमिति प्राधान्येन निषेधकल्पनया द्वितीयः । न चासत्त्वं काल्पनिकम्; सत्त्ववत् तस्य स्वातन्त्र्येणानुभवात्, अन्यथा विपक्षासत्त्वस्य तात्त्विकस्याभावेन हेतोस्त्रैरूप्यव्याघातप्रसङ्गात् । स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति प्राधान्येन क्रमिकविधिनिषेधकल्पनया तृतीयः । स्यादवक्तव्यमेवेति युगपत्प्राधान्येन विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः, एकेन पदेन युगपदुभयोर्वक्तुमशक्यत्वात् । शतृशानचौ सदित्यादौ साङ्केतिकपदेनापि क्रमेणार्थद्वयबोधनात् । अन्यतरत्वादिना कथञ्चिदुभयबोधनेऽपि प्रातिस्विकरूपेणैकपदादुभयबोधस्य ब्रह्मणापि दुरुपपादत्वात् । स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः ।

स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः। स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तम इति।

। अथ सप्तभङ्ग्यास्सकलादेश-विकलादेशस्वभावनिरूपणम् ।

सेयं सप्तभङ्गी प्रतिभङ्ग(ङ्गं) सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च। तत्र प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः। नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद्भेदोपचाराद्वा क्रमेणाभिधायकं वाक्यं विकलादेशः। ननु कः क्रमः, किं वा यौगपद्यम्?। उच्यते—यदास्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा तदैकशब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः। यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद्यौगपद्यम्।

के पुनः कालादयः?। उच्यते—काल आत्मरूपमर्थः सम्बन्ध उपकारः गुणिदेशः संसर्गः शब्द इत्यष्टौ। तत्र स्याज्जीवादि वस्त्वस्त्येवेत्यत्र यत्कालमस्तित्वं त्वत् (तत्) कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाभेदवृत्तिः। यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यानन्तगुणानामपीत्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिः। य एव चाधारे (रो)ऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः। य एव चाविष्वग्भावः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एवान्येषामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः। य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एवान्यैरपीत्युपकारेणाभेदवृत्तिः। य एव गुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्येषामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः। य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एवान्येषामिति

संसर्गेणाभेदवृत्तिः । गुणीभूतभेदादभेदप्रधानात् सम्बन्धाद्विपर्ययेण संसर्गस्य भेदः । य एव चास्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एवाशेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः, पर्यायार्थिकनयगुणभावेन द्रव्यार्थिकनयप्राधान्यादुपपद्यते । द्रव्यार्थिकगुणभावेन पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवति, समकालमेकत्र नानागुणानामसम्भवात्, सम्भवे वा तदाश्रयस्य भेदप्रसङ्गात् । नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात्, अन्यथा तेषां भेदविरोधात्, स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वात्, अन्यथा नानागुणाश्रयत्वविरोधात् । सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनात्, नानासम्बन्धिभिरेकत्रैकसम्बन्धाघटनात् । तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात्, अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्यैकस्य विरोधात् । गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात्, तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसङ्गात् । संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गि भेदात्, तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात् । शब्दस्य प्रतिविषयं नानात्वात्, सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेरिति कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते । एवं भेदवृत्तितदुपचारावपि वाच्याविति । पर्यवसितं परोक्षम् । ततश्च निरूपितः प्रमाणपदार्थः ।

इति महामहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यावतंसपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनयविजयगणिशिष्येण पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण पण्डितयशोविजयगणिना कृतायां जैनतर्कभाषायां प्रमाणपरिच्छेदः सम्पूर्णः ।

। अथ नयपरिच्छेदनामा द्वितीयः परिच्छेदः ।

२. नयपरिच्छेदः ।

। अथ नयनिरूपणम् ।

प्रमाणान्युक्तानि । अथ नया उच्यन्ते । प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेशग्राहिणस्तदितरांशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषा नयाः । प्रमाणैकदेशत्वात् तेषां ततो भेदः । यथा हि समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाणं न वाऽप्रमाणमिति । ते च द्विधा–द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभेदात् । तत्र प्राधान्येन द्रव्यमात्रग्राही द्रव्यार्थिकः । प्राधान्येन पर्यायमात्रग्राही पर्यायार्थिकः । तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रिधा नैगमसङ्ग्रहव्यवहारभेदात् । पर्यायार्थिकश्चतुर्धा ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतभेदात् । ऋजुसूत्रो द्रव्यार्थिकस्यैव भेद इति तु जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः ।

तत्र सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसायो नैगमः, यथा पर्याययोर्द्रव्ययोः पर्यायद्रव्ययोश्च मुख्यामुख्यरूपतया विवक्षणपरः । अत्र सच्चैतन्यमात्मनीति पर्याययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम् । अत्र चैतन्याख्यस्य व्यञ्जनपर्यायस्य विशेष्यत्वेन मुख्यत्वात्, सत्त्वाख्यस्य तु विशेषणत्वेनामुख्यत्वात् । प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनार्थक्रियाकारित्वोपलक्षितो व्यञ्जनपर्यायः । भूतभविष्यत्त्वसंस्पर्शरहितं वर्तमानकालावच्छिन्नं वस्तुस्वरूपं चार्थपर्यायः । वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति द्रव्ययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम्, पर्यायवद्द्रव्याख्यस्य धर्मिणो विशे-

ष्यत्वेन प्राधान्यात्, वस्त्वाख्यस्य विशेषणत्वेन गौणत्वात्। क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति पर्यायद्रव्ययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम्, अत्र विषयासक्तजीवाख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन मुख्यत्वात्, सुखलक्षणस्य तु धर्मस्य तद्विशेषणत्वेनामुख्यत्वात्। न चैवं द्रव्यपर्यायोभयावगाहित्वेन नैगमस्य प्रामाण्यप्रसङ्गः, प्राधान्येन तदुभयावगाहिन एव ज्ञानस्य प्रमाणत्वात्।

सामान्यमात्रग्राही परामर्शः सङ्ग्रहः–स द्वेधा, परोऽपरश्च। तत्राशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परः सङ्ग्रहः। यथा विश्वमेकं सदविशेषादिति। द्रव्यत्वादीन्यवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसङ्ग्रहः। सङ्ग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः। यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वा। यद् द्रव्यं तज्जीवादि षड्विधम्। यः पर्यायः स द्विविधः-क्रमभावी सहभावी चेत्यादि।

ऋजु वर्तमानक्षणस्थायिपर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूचयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः। यथा सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्ति। अत्र हि क्षणस्थायि सुखाख्यं पर्यायमात्रं प्राधान्येन प्रदर्श्यते, तदधिकरणभूतं पुनरात्मद्रव्यं गौणतया नार्प्यत इति।

कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः। कालकारकलिङ्गसङ्ख्यापुरुषोपसर्गाः कालादयः। तत्र बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यत्रातीतादिकालभेदेन सुमेरोर्भेदप्रतिपत्तिः, करोति क्रियते कुम्भ इत्यादौ कारकभेदेन, तटस्तटी तटमित्यादौ लिङ्गभेदेन, दाराः कलत्रमित्यादौ संख्याभेदेन, यास्यसि त्वम्, यास्यति भवानित्यादौ पुरुषभेदेन, सन्तिष्ठते अवतिष्ठते इत्यादावुपसर्गभेदेन।

पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः। शब्दनयो हि पर्यायभेदेऽप्यर्थाभेदमभिप्रैति, समभिरूढस्तु पर्यायभेदे भिन्नानर्थानभिमन्यते। अभेदं त्वर्थगतं पर्या-

यशब्दानामुपेक्षत इति, यथा इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात्पुरन्दर इत्यादि ।

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भूतः । यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः । समभिरूढनयो हीन्दनादिक्रियायां सत्यामसत्यां च वासवादेरर्थस्येन्द्रादिव्यपदेशमभिप्रैति, क्रियोपलक्षितसामान्यस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, पशुविशेषस्य गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्, तथारूढेः सद्भावात् । एवम्भूतः पुनरिन्दनादिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्रादिव्यपदेशभाजमभिमन्यते । न हि कश्चिद्क्रियाशब्दोऽस्यास्ति । गौरश्वइत्यादिजातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वात्, गच्छतीति गौः, आशुगामित्वादश्व इति । शुक्लो, नील इति गुणशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव, शुचीभवनाच्छुक्लो, नीलनान्नील इति । देवदत्तो यज्ञदत्त इति यदृच्छाशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव, देव, एनं देयात्, यज्ञ एनं देयादिति । संयोगिद्रव्यशब्दाः समवाय(यि)द्रव्यशब्दाश्चाभिमताः क्रियाशब्दा एव दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी, विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यस्तिक्रियाप्रधानत्वात् । पञ्चत्रयी तु शब्दानां व्यवहारमात्रात्, न तु निश्चयादित्ययं नयः स्वीकुरुते ।

एतेष्वाद्याश्चत्वारः प्राधान्येनार्थगोचरत्वादर्थनयाः अन्त्यास्तु त्रयः प्राधान्येन शब्दगोचरत्वाच्छब्दनयाः । तथा विशेषग्राहिणोऽर्पितनयाः, सामान्यग्राहिणश्चानर्पितनयाः । तत्रानर्पितनयमते तुल्यमेव रूपं सर्वेषां सिद्धानां भगवताम् । अर्पितनयमते त्वेकद्वित्र्यादिसमयसिद्धाः स्वसमानसमयसिद्धैरेव तुल्या इति । तथा, लोकप्रसिद्धार्थानुवादपरो व्यवहारनयः यथा पञ्चस्वपि वर्णेषु भ्रमरे सत्सु श्यामो भ्रमर इति व्यपदेशः । तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरस्तु निश्चयः, स पुनर्मन्यते पञ्चवर्णो भ्रमरः, बादरस्कन्धत्वेन तच्छरीरस्य पञ्चवर्णपुद्गलैर्निष्पन्नत्वात्, शुक्लादीनां च न्यग्भूतत्वेनानुपलक्षणात् । अथवा एकनयमतार्थग्राही

व्यवहारः, सर्वनयमतार्थग्राही च निश्चयः। न चैवं निश्चयस्य प्रमाणत्वेन नयत्वव्याघातः, सर्वनयमतस्यापि स्वार्थस्य तेन प्राधान्याभ्युपगमात्। तथा, ज्ञानमात्रप्राधान्याभ्युपगमपरा ज्ञाननयाः। क्रियामात्रप्राधान्याभ्युपगमपराश्च क्रियानयाः। तत्रर्जुसूत्रादयश्चत्वारो नयाश्चारित्रलक्षणायाः क्रियाया एव प्राधान्यमभ्युपगच्छन्ति, तस्या एव मोक्षं प्रत्यव्यवहितकारणत्वात्। नैगमसंग्रहव्यवहारास्तु यद्यपि चारित्रश्रुतसम्यक्त्वानां त्रयाणामपि मोक्षकारणत्वमिच्छन्ति, तथापि व्यस्तानामेव, न तु समस्तानाम्, एतन्मते ज्ञानादित्रयादेव मोक्ष इत्यनियमात्, अन्यथा नयत्वहानिप्रसङ्गात्, समुदयवादस्य स्थितपक्षत्वादिति द्रष्टव्यम्।

कः पुनरत्र बहुविषयो नयः को वाऽल्पविषयः?, इति चेदुच्यते–सन्मात्रगोचरात्संग्रहात्तावन्नैगमो बहुविषयो भावाभावभूमिकत्वात्। सद्विशेषप्रकाशकाद्व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद्बहुविषयः। वर्तमानविषयावलम्बिन ऋजुसूत्रात्कालत्रितयवर्त्यर्थजातावलम्बी व्यवहारो बहुविषयः। कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदेशकाच्छब्दात्तद्विपरीतवेदक ऋजुसूत्रो बहुविषयः। न केवलं कालादिभेदेनैवर्जुसूत्रादल्पार्थता शब्दस्य, किन्तु भावघटस्यापि सद्भावासद्भावादिनाऽर्पितस्य स्याद् घटः स्यादघट इत्यादिभङ्गपरिकरितस्य तेनाभ्युपगमात् तस्यर्जुसूत्राद् विशेषिततरत्वोपदेशात्। यद्यपीदृशसम्पूर्णसप्तभङ्गपरिकरितं वस्तु स्याद्वादिन एव सङ्गिरन्ते, तथापि ऋजुसूत्रकृतैतदभ्युपगमापेक्षयाऽन्यतरभङ्गेन विशेषितप्रतिपत्तिरत्रादुष्टेत्यदोष इति वदन्ति। प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विषया(द्विपर्यया)नुयायित्वाद्बहुविषयः। प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवम्भूतात्समभिरूढः तदन्यथार्थस्थापकत्वाद्बहुविषयः।

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्त-

भङ्गीमनुगच्छति, विकलादेशत्वात्, परमेतद्वाक्यस्य प्रमाणवाक्याद्विशेष इति द्रष्टव्यम् ।

। अथ नयाभासनिरूपणम् ।

अथ नयाभासाः । तत्र द्रव्यमात्रग्राही पर्यायप्रतिक्षेपी द्रव्यार्थिकाभासः । पर्यायमात्रग्राही द्रव्यप्रतिक्षेपी पर्यायार्थिकाभासः । धर्मिधर्मादीनामे (मै) कान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाभासः, यथा नैयायिकवैशेषिकदर्शनम् । सत्ताऽद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणः संग्रहाभासः यथाऽखिलान्यद्वैतवादिदर्शनानि सांख्यदर्शनं च । अपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागाभिप्रायो व्यवहाराभासः, यथा चार्वाकदर्शनम्, चार्वाको हि प्रमाणप्रतिपन्नं जीवद्रव्यपर्यायादिप्रविभागं कल्पनारोपितत्वेनापह्नुतेऽविचारितरमणीयं भूतचतुष्टयप्रविभागमात्रं तु स्थूललोकव्यवहारानुयायितया समर्थयत इति । वर्तमानपर्यायाभ्युपगन्ता सर्वथा द्रव्यापलापी ऋजुसूत्राभासः, यथा ताथागतं मतं । कालादिभेदेनार्थभेदमेवाभ्युपगच्छन् शब्दाभासः, यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात्तादृक्सिद्धान्यशब्दवदिति । पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणः समभिरूढाभासः, यथा इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव, भिन्नशब्दत्वात्, करिकुरङ्गशब्दवदिति । क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपन्नेवंभूताभासः, यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्, पटवदिति । अर्थाभिधायी शब्दप्रतिक्षेपी अर्थनयाभासः । शब्दाभिधाय्यर्थप्रतिक्षेपी शब्दनयाभासः । अर्पितमभिदधानोऽनर्पित प्रतिक्षिपन्नर्पितनयाभासः । अनर्पितमभिदधदर्पितं प्रतिक्षिपन्ननर्पिताभासः । लोकव्यवहारमभ्युपगम्य तत्त्वप्रतिक्षेपी व्यवहाराभासः । तत्त्वमभ्युपगम्य व्यवहारप्रतिक्षेपी निश्चयाभासः । ज्ञानमभ्युपगम्य क्रियाप्रतिक्षेपी ज्ञाननया-

भासः । क्रियामभ्युपगम्य ज्ञानप्रतिक्षेपी क्रियानयाभास इति ।

इति महामहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीलाभविजयगणि-शिष्यावतंसपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनयविजयगणिशिष्येण पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण पण्डितयशोविजयगणिना विरचितायां जैनतर्कभाषायां नयपरिच्छेदः सम्पूर्णः ।

। अथ निःक्षेपपरिच्छेदनामा तृतीयः परिच्छेदः ।

३. निक्षेपपरिच्छेदः ।

। अथ निःक्षेपसामान्यनिरूपणम् ।

नया निरूपिताः । अथ निःक्षेपा निरूप्यन्ते । प्रकरणादिवशेनाप्रतिपत्त्या(त्त्या)दिव्यवच्छेदकयथास्थानविनियोगाय शब्दार्थरचनाविशेषा निःक्षेपाः । मङ्गलादिपदार्थनिःक्षेपान्नाममङ्गलादिविनियोगोपपत्तेश्च निःक्षेपाणां फलवत्त्वम्, तदुक्तम्–"अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निःक्षेपः फलवान्" [लघी० स्ववि० ७. २] इति । ते च सामान्यतश्चतुर्धा–नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् ।

तत्र प्रकृतार्थनिरपेक्षा नामार्थान्यतरपरिणतिर्नामनिःक्षेपः । यथा सङ्केतितमात्रेणान्यार्थस्थितेनेन्द्रादिशब्देन वाच्यस्य गोपालदारकस्य शक्रादिपर्यायशब्दानभिधेया परिणतिरियमेव वा यथान्यत्रावर्तमानेन यदृच्छाप्रवृत्तेन डित्थडवित्थादिशब्देन वाच्या । तत्त्वतोऽर्थनिष्ठा उपचारतः शब्दनिष्ठा च । मेर्वादिनामापेक्षया यावद्द्रव्यभाविनी, देवदत्तादिनामापेक्षया चायावद्द्रव्यभाविनी, यथा वा पुस्तकपत्रचित्रादिलिखिता वस्त्वभिधानभूतेन्द्रादिवर्णावली ।

। अथ स्थापनानिःक्षेपनिरूपणम् ।

यत्तु वस्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण स्थाप्यते चित्रादौ तादृशाकारम्, अक्षादौ च निराकारम्, चित्राद्यपेक्षयेत्वरं नन्दीश्वरचैत्यप्रतिमाद्यपेक्षया च यावत्कथिकं स स्थापनानिःक्षेपः, यथा जिनप्रतिमा स्थापनाजिनः, यथा चेन्द्रप्रतिमा स्थापनेन्द्रः।

भूतस्य भाविनो वा भावस्य कारणं यन्निक्षिप्यते स द्रव्यनिःक्षेपः, यथाऽनुभूतेन्द्रपर्यायोऽनुभविष्यमाणेन्द्रपर्यायो वा इन्द्रः, अनुभूतघृताधारत्वपर्यायेऽनुभविष्यमाणघृताधारत्वपर्याये च घृतघटव्यपदेशवत्तत्रेन्द्रशब्दव्यपदेशोपपत्तेः। क्वचिदप्राधान्येऽपि द्रव्यनिःक्षेपः प्रवर्तते, यथाऽङ्गारमर्दको द्रव्याचार्यः; आचार्यगुणरहितत्वात् अप्रधानाचार्य इत्यर्थः। क्वचिदनुपयोगेऽपि, यथाऽनाभोगेनेहपरलोकाद्याशंसालक्षणेनाविधिना च भक्त्यापि क्रियमाणा जिनपूजादिक्रिया द्रव्यक्रियैव, अनुपयुक्तक्रियायाः साक्षान्मोक्षाङ्गत्वाभावात्। भक्त्याऽविधिनापि क्रियमाणा सा पारम्पर्येण मोक्षाङ्गत्वापेक्षया द्रव्यतामश्नुते, भक्तिगुणेनाविधिदोषस्य निरनुबन्धीकृतत्वादित्याचार्याः।

विवक्षितक्रियानुभूतिविशिष्टं स्वतत्त्वं यन्निक्षिप्यते स भावनिःक्षेपः, यथा इन्दनक्रियापरिणतो भावेन्द्र इति।

ननु भाववर्जितानां नामादीनां कः प्रतिविशेषस्त्रिष्वपि वृत्त्यविशेषात्?, तथाहि–नाम तावन्नामवति पदार्थे स्थापनायां द्रव्ये चाविशेषेण वर्तते। भावार्थशून्यत्वं स्थापनारूपमपि त्रिष्वपि समानम्, त्रिष्वपि भावस्याभावात्। द्रव्यमपि नामस्थापनाद्रव्येषु वर्तत एव, द्रव्यस्यैव नामस्थापनाकरणात्, द्रव्यस्य द्रव्ये सुतरां वृत्तेश्चेति विरुद्धधर्माध्यासाभावान्नैषां भेदो युक्त इति चेत्; न; अनेन रूपेण विरुद्धधर्माध्यासाभावेऽपि रूपान्तरेण विरुद्धधर्माध्यासात्तद्भेदोपपत्तेः। तथाहि–नामद्रव्याभ्यां स्थापना तावदाकाराभिप्रायबुद्धिक्रियाफलदर्शनाद्भिद्यते, यथा हि स्थापनेन्द्रे लोचनसहस्राद्याकारः, स्थापनाकर्तुश्च

सद्भूतेन्द्राभिप्रायो, द्रष्टुश्च तदाकारदर्शनादिन्द्रबुद्धिः, भक्तिपरिणतबुद्धीनां नमस्कारणादिक्रिया, तत्फलं च पुत्रोत्पत्त्यादिकं संवीक्ष्यते, न तथा नामेन्द्रे द्रव्येन्द्रे चेति ताभ्यां तस्य भेदः । द्रव्यमपि भावपरिणामिकारणत्वान्नामस्थापनाभ्यां भिद्यते, यथा ह्यनुपयुक्तो वक्ता द्रव्यम्, उपयुक्तत्वकाले उपयोगलक्षणस्य भावस्य कारणं भवति, यथा वा साधुजीवो द्रव्येन्द्रः सद्भावेन्द्ररूपायाः परिणतेः, न तथा नामस्थापनेन्द्राविति । नामापि स्थापनाद्रव्याभ्यामुक्तवैधर्म्यादेव भिद्यत इति । दुग्धतक्रादीनां श्वेतत्वादिनाऽभेदेऽपि माधुर्यादिना भेदवन्नामादीनां केनचिद्रूपेणाभेदेऽपि रूपान्तरेण भेद इति स्थितम् ।

ननु भाव एव वस्तु, किं तदर्थशून्यैर्नामादिभिरिति चेत्; न; नामादीनामपि वस्तुपर्यायत्वेन सामान्यतो भावत्वानतिक्रमात्, अविशिष्टे इन्द्रवस्तुन्युच्चरिते नामादिभेदचतुष्टयपरामर्शनात् प्रकरणादिनैव विशेषपर्यवसानात् । भावाङ्गत्वेनैव वा नामादीनामुपयोगः जिननामजिनस्थापनापरिनिर्वृतमुनिदेहदर्शनाद्भावोल्लासानुभवात् । केवलं नामादित्रयं भावोल्लासेनैकान्तिकमनात्यन्तिकं च कारणमिति एकान्तिकात्यन्तिकस्य भावस्याभ्यर्हितत्वमनुमन्यन्ते प्रवचनवृद्धाः । एतच्च भिन्नवस्तुगतनामाद्यपेक्षयोक्तम् । अभिन्नवस्तुगतानां तु नामादीनां भावाविनाभूतत्वादेव वस्तुत्वम्, सर्वस्य वस्तुनः स्वाभिधानस्य नामरूपत्वात्, स्वाकारस्य स्थापनारूपत्वात्, कारणतायाश्च द्रव्यरूपत्वात्, कार्यापन्नस्य च स्वस्य भावरूपत्वात् । यदि च घटनाम घटधर्मो न भवेत्तदा ततस्तत्संप्रत्ययो न स्यात्, तस्य स्वापृथग्भूतसंबन्धनिमित्तकत्वादिति सर्वं नामात्मकमेष्टव्यम् । साकारं च सर्वं मति-शब्द-घटादीनामाकारवत्त्वात्, नीलाकारसंस्थानविशेषादीनामाकाराणामनुभवसिद्धत्वात् । द्रव्यात्मकं च सर्वं उत्फणविफणकुण्डलिताकारसमन्वितसर्पवत् विकाररहितस्याविर्भावतिरोभावमात्रपरिणामस्य द्रव्यस्यैव सर्वत्र सर्वदानुभ-

वात्। भावात्मकं च सर्वं परापरकार्यक्षणसन्तानात्मकस्यैव तस्यानुभवादिति चतुष्टयात्मकं जगदिति नामादिनयसमुदयवादः।

। अथ निःक्षेपनयसंयोजना।

अथ नामादिनिक्षेपा नयैः सह योज्यन्ते। तत्र नामादित्रयं द्रव्यास्तिकनयस्यैवाभिमतम्, पर्यायास्तिकनयस्य च भाव एव। आद्यस्य भेदौ संग्रहव्यवहारौ, नैगमस्य यथाक्रम सामान्यग्राहिणो विशेषग्राहिणश्च अनयोरेवान्तर्भावात्। ऋजुसूत्रादयश्च चत्वारो द्वितीयस्य भेदा इत्याचार्यसिद्धसेनमतानुसारेणाभिहितं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादैः–

"नामाइतियं दव्वट्ठियस्स भावो अ पज्जवणयस्स।
संगहववहारा पढमगस्स सेसा उ इयरस्स॥" [७५]

इत्यादिना विशेषावश्यके। स्वमते तु नमस्कारनिक्षेपविचारस्थले

"भावं चिय सद्दणया सेसा इच्छन्ति सव्वणिक्खेवे" [२८४७]

इति वचसा त्रयोऽपि शब्दनयाः शुद्धत्वाद्भावमेवेच्छन्ति ऋजुसूत्रादयस्तु चत्वारश्चतुरोऽपि निक्षेपानिच्छन्ति अविशुद्धत्वादित्युक्तम्। ऋजुसूत्रो नामभावनिक्षेपावेवेच्छतीत्यन्ये, तन्न (तन्न); ऋजुसूत्रेण द्रव्याभ्युपगमस्य सूत्राभिहितत्वात्, पृथक्त्वाभ्युपगमस्य परं निषेधात्। तथा च सूत्रम्—"उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ एगं दव्वावस्सयं, पुहत्तं नेच्छइ त्ति" [अनुयो॰ सू॰ १४]। कथं चायं पिण्डावस्थायां सुवर्णादिद्रव्यमनाकारं भविष्यत्कुण्डलादिपर्यायलक्षणभावहेतुत्वेनाभ्युगच्छन् विशिष्टेन्द्राद्यभिलापहेतुभूतां साकारामिन्द्रादिस्थापनां नेच्छेत्?, न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति। किञ्च, इन्द्रादिसञ्ज्ञामात्रं तदर्थरहितमिन्द्रादिशब्दवाच्यं वा नामेच्छन् अयं भावकारणत्वाविशेषात् कुतो नामस्थापने नेच्छेत्?। प्रत्युत सुतरां तद-

भ्युपगमो न्याय्यः । इन्द्रमूर्तिलक्षणद्रव्य–विशिष्टतदाकाररूपस्थापनयोरिन्द्रपर्यायरूपे भावे तादात्म्यसंबन्धेनावस्थितत्वात्तत्र वाच्यवाचकभावसंबन्धेन संबद्धान्नाम्नोऽपेक्षया सन्निहिततरकारणत्वात् । सङ्ग्रहव्यवहारौ स्थापनावर्जांस्त्रीन्निक्षेपानिच्छत इति केचित्; तन्नानवद्यं यतः संग्रहिकोऽसंग्रहिकोऽनर्पितभेदः परिपूर्णो वा नैगमस्तावत् स्थापनामिच्छतीत्यवश्यमभ्युपेयम्, सङ्ग्रहव्यवहारयोरन्यत्र द्रव्यार्थिके स्थापनाभ्युपगमावर्जनात् । तत्राद्यपक्षे संग्रहे स्थापनाभ्युपगमप्रसङ्गः, संग्रहनयमतस्य संग्रहिकनैगममताविशेषात् । द्वितीये व्यवहारे तदभ्युपगमप्रसङ्गः, तन्मतस्य व्यवहारमतादविशेषात् । तृतीये च निरपेक्षयोः संग्रहव्यवहारयोः स्थापनाभ्युपगमोपपत्तावपि समुदितयोः संपूर्णनैगमरूपत्वात्तदभ्युपगमस्य दुर्निवारत्वम्, अविभागस्थान्नैगमात्प्रत्येकं तदेकैकभागग्रहणात् । किञ्च, सङ्ग्रहव्यवहारयोर्नैगमान्तर्भावात्स्थापनाभ्युपगमलक्षणं तन्मतमपि तत्रान्तर्भूतमेव, उभयधर्मलक्षणस्य विषयस्य प्रत्येकमप्रवेशेऽपिस्थापनालक्षणस्यैकधर्मस्य प्रवेशस्य सूपपादत्वात्, स्थापनासामान्यतद्विशेषाभ्युपगममात्रेणैव सङ्ग्रहव्यवहारयोर्भेदोपपत्तेरिति यथागमं भावनीयम् । एतैश्च नामादिनिक्षेपैर्जीवादयः पदार्था निक्षेप्याः ।

। अथ जीवविषयेनिःक्षेपानुगमनम् ।

तत्र यद्यपि यस्य जीवस्याजीवस्य वा जीव इति नाम क्रियते स नामजीवः, देवतादिप्रतिमा च स्थापनाजीवः, औपशमिकादिभावशाली च भावजीव इति जीवविषयं निक्षेपत्रयं सम्भवति, न तु द्रव्यनिक्षेपः । अयं हि तदा सम्भवेत्, यद्यजीवः सन्नायत्यां जीवोऽभविष्यत्, यथाऽदेवः सन्नायत्यां देवो भविष्यत्(न्) द्रव्यदेव इति । न चैतदिष्टं सिद्धान्ते, यतो जीवत्वमनादिनिधनः पारिणामिको भाव इष्यत इति । तथापि गुणपर्यायवियुक्तत्वेन बुद्ध्या कल्पितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो द्रव्यजीवः, शून्योऽयं भङ्ग इति यावत्, सतां गुणपर्या-

याणां बुद्ध्यापनयस्य कर्तुमशक्यत्वात्। न खलु ज्ञानायत्तार्थपरिणतिः, किन्तु अर्थो यथा यथा विपरिणमते तथा तथा ज्ञानं प्रादुरस्तीति। न चैवं नामादिचतुष्टयस्य व्यापिताभङ्गः, यतः प्रायः सर्वपदार्थेष्वन्येषु तत् सम्भवति। यत्रैकस्मिन्न सम्भवति नैतावता भवत्यव्यापितेति वृद्धाः। जीवशब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तो द्रव्यजीव इत्यप्याहुः। अपरे तु वदन्ति—अहमेव मनुष्यजीवो [द्रव्यजीवो]ऽभिधातव्यः उत्तरं देवजीवमप्रादुर्भूतमाश्रित्य अहं हि तस्योत्पित्सोर्देवजीवस्य कारणं भवामि, यतश्चाहमेव तेन देवजीवभावेन भविष्यामि, अतोऽहमधुना द्रव्यजीव इति। एतत्कथितं तैर्भवति-पूर्वः पूर्वो जीवः परस्य परस्योत्पित्सोः कारणमिति। अस्मिंश्च पक्षे सिद्ध एव भावजीवो भवति, नान्य इति-एतदपि नानवद्यमिति तत्त्वार्थटीकाकृतः।

इदं पुनरिहावधेयं-इत्थं संसारिजीवे द्रव्यत्वेऽपि भावत्वाविरोधः, एकवस्तुगतानां नामादीनां भावाविनाभूतत्वप्रतिपाद- तदाह भाष्यकारः–

"अहवा वत्थूभिहाणं, नामं ठवणा य जो तयागारो।
कारणया से दव्वं, कज्जावन्नं तयं भावो ॥१॥" [६०]

इति। केवलमविशिष्टजीवापेक्षया द्रव्यजीवत्वव्यवहार एव न स्यात्, मनुष्यादेर्देवत्वादिविशिष्टजीवं प्रत्येव हेतुत्वादिति अधिकं नयरहस्यादौ विवेचितमस्माभिः॥

॥ इति महामहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यावतंसपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनयविजयगणिशिष्येण पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसोदरेण पण्डितयशोविजयगणिना विरचितायां जैनतर्कभाषायां निक्षेपपरिच्छेदः संपूर्णः, तत्संपूर्तौ च संपूर्णेयं जैनतर्कभाषा॥

॥ स्वस्तिश्रीश्रमणसङ्घाय॥

सूरिश्रीविजयादिदेवसुगुरोः पट्टाम्बराहर्मणौ,
सूरिश्रीविजयादिसिंहसुगुरौ शक्रासनं भेजुषि ।
तत्सेवाऽप्रतिमप्रसादजनितश्रद्धानशुद्ध्या कृतः,
ग्रन्थोऽयं वितनोतु कोविदकुले मोदं विनोदं तथा ॥ १ ॥

यस्यासन् गुरवोऽत्र जीतविजयप्राज्ञाः प्रकृष्टाशयाः,
भ्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदरः
तेन न्यायविशारदेन रचिता स्तात्तर्कभाषा मुदे ॥ २ ॥

तर्कभाषामिमां कृत्वा मया यत्पुण्यमर्जितम् ।
प्राप्नुयां तेन विपुलां परमानन्दसम्पदम् ॥ ३ ॥

पूर्वं न्यायविशारदत्वबिरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधैः
न्यायाचार्यपदं ततः कृतशतग्रन्थस्य यस्यार्पितम् ।
शिष्यप्रार्थनया नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशुः
तत्त्व किञ्चिदिदं यशोविजय इत्याख्याभृदाख्यातवान् ॥४॥

। ॐ अर्हम् नमः ।

श्री रत्नप्रभा टीका ॥

यज्ज्ञाने भाति विश्वं करबदरमिवातीनदोषस्य यस्य ।
वाणी सत्याऽनवद्या मितिनयभजनोद्गारकान्ताऽमितार्था ॥
देवेन्द्राद्यैः सुपूज्यं जिनवरमखिलं मङ्गलं मङ्गलानां ।
विघ्नव्रातापनुत्यै तमतनुविभवं नौमि योगीशगम्यम् ॥ १ ॥

येषां तत्त्वार्थचर्चा स्वपरमतगता नापसिद्धान्तमुख्यै ।
र्दोषैः स्पृष्टा गुणोघैरथपरिकलिता बोधसम्पादयित्री ॥
तान् श्रीमद्धेमचन्द्रप्रभृतिबुधवरान्सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा ।
नाचार्यान्नौमि भक्त्या जिनमतविततोल्लासदत्तावधानान् ॥ २ ॥

ऊहापोहानुषक्तामितप्रमितिलसन्नव्यमार्गप्रचारा ।
चान्तस्वान्तावभातातिगहनमननालीढप्राचीनपक्षाः ॥
न्यायाचार्याःपरार्थातनुतनुरचनासूत्रधारानमस्याः ।
सन्तूपाध्यायवर्या मममननविधौ साक्षिणोमानसस्थाः ॥ ३ ॥

श्रीमन्तो नेमिसूरीश्वरगुरुप्रवराः सर्वविद्याविदग्धा ।
न्यायालोकादिजैनाभ्युपगतविषयग्रन्थटीकापटिष्ठाः ॥
श्रीहैमव्याकृतेरप्यनुगतिरचनालम्पटा धर्मशास्त्र ।
व्याख्यानैकान्तदक्षा नुतचरणकजा स्सन्तु विघ्नौघशान्त्यै ॥४॥

श्रीनेमिसूरीश्वरशिष्यरत्न-रत्नप्रभादिप्रतिबोधनाय ।
रत्नप्रभाख्यां मिततर्कभाषा- व्याख्यां करोमि प्रकटार्थभावाम् ॥५॥

चिकीर्षितग्रन्थनिर्विघ्नसमाप्तये शिष्टाः क्वचिदप्यभीष्टे प्रवर्तमाना मङ्गलपुरस्सरमेव प्रवर्तन्त इति शिष्टाचारपरिपालनाय च कृतं मङ्गलं शिष्या अप्येवं

कुर्युरिति शिष्यशिक्षार्थं ग्रन्थादौ निबध्नन्ग्रन्थाध्ययन प्रवृत्त्यनुकूलानुबन्धचतुष्टयमुपदर्शयन् प्रतिजानीते ।

पृ. १. पं. २. "ऐन्द्रवृन्दनतमिति" अर्हं तत्त्वार्थदेशिनमैन्द्रवृन्दनतं जिनं नत्वा तर्कभाषां प्रमाणनयनिक्षेपैस्तनोमीति सम्बन्धः । तत्त्वार्थदेशिनमिति च विशेषणं जिनस्य साक्षाद्वचनातिशयस्य तद्द्वारा ज्ञानातिशयस्य च ज्ञापनार्थम्, वाक्यरचनाम्प्रति वाक्यार्थज्ञानस्य कारणत्वेन तत्त्वार्थलक्षणवाक्यार्थज्ञानमन्तरेण तत्त्वार्थोपदेशलक्षणवाक्यस्यासम्भवेन तत्त्वार्थोपदेष्टरि जिने तत्त्वार्थज्ञानस्यावश्यम्भावात्, अर्थे तत्त्वेति विशेषणोपादानेनातत्त्वात्मकस्यैकान्तवाद्यभिमतार्थस्य प्रतिपादकं यद्वचनं तन्नातिशय इति तदुपदेष्टृणामेकान्तवादसूत्रण कुशलानां सूक्ष्ममतीनामपि न वचनातिशयस्तद्वचनस्यार्थशुद्ध्यभावात्, वचनस्य देशनास्वरूपतयाऽभिधानेन समवसरणमभिव्याप्यावस्थितानशेषानपि नरामरतिर्यगादीन् प्राणिनः श्रोतॄन्प्रतिप्रतिनियततत्तद्भाषापरिणतिस्वरूपतयैवाविशेषेणार्थावबोधनिबन्धनत्वमितिशब्दस्य स्वरूपतोऽप्यतिशयावेदिकाशुद्धिरावेदिता भवति, न च तीर्थान्तरीयाणां वचनमिदृशमिति नतस्य स्वरूपतोऽपि वैशिष्टयम् । ऐन्द्रवृन्दनतमिति विशेषणेन पूजातिशयो दर्शितः, यस्य पुरुषधौरे यस्यामराधीश्वरसमूहप्रणतिकर्मत्वं तस्यान्यनरनाथादिपूजनीयत्वं कैमुतिक न्यायागतमेवेत्यतः सर्वेभ्यो नरामराधीश्वरादिपूजार्हस्य पूजातिशयो व्यक्त भवति, यद्यपि इन्द्रवृन्दनतमित्युक्तयापि निरुक्तार्थलाभः, तथापि यस्य सारस्वतमन्त्रस्य प्रसादात्कवित्वविवादिप्राप्तिः तस्य मन्त्रस्य सङ्ग्रथनमप्यादौ परमं मङ्गलं यतः सरस्वत्यास्स्मरणमपि हितमाह्वयतीतिमन्यमानः श्रीमान् यशोविजयोपाध्यायः स्वोपज्ञेषु सर्वेष्वपि ग्रन्थरत्नेषु ऐङ्कारमादावुपनिबध्नात्येवेत्येदनुरोधेनात्रापि ऐन्द्रवृन्दनतमित्युक्तिः । जिनमितिविशेष्यवचनेन च रागद्वेषादीन् शत्रूञ्जितवान् इति जिन इति व्युत्पत्तिमहिम्नाऽवयवशक्तिलक्षणयागताऽवयवार्थप्रतिप्रतितोऽपायापगमातिशय आवेदितो भवति । जिनशब्दस्तु ऋषभादिचतुर्विंशतिजिनेषु रूढयैव जिनत्वलक्षणमेकमनुगतप्रवृत्तिनिमित्तमुपादाय प्रवर्तत इति समुदायशक्तिलक्षणरूढिविषये जिनत्वलक्षणानुगतधर्मविशिष्टे नतिक्रियाकर्मणि योगार्थस्य रागद्वेषादिशत्रुजेतृत्वस्यापायापगमातिशयपर्यवसन्नस्य विशेषणत्वमुपपन्नमेव ॥

पृ. १. पं. २. "नत्वा" नमस्कृत्य, नमस्कारश्च स्ववधिकोत्कृष्टत्वप्रका-

रकज्ञानानुकूलव्यापारः, जिनमिति द्वितीयार्थश्च कर्मत्वं तच्च प्रकृते विशेष्यत्वं तस्य नमस्कारघटकज्ञाने निरूपकत्वसम्बन्धेनान्वयः, नमस्कार घटकस्वपदेन च नमस्कर्तुर्ग्रहणम्। तथा च ज्ञानातिशय–वचनातिशय–पूजातिशयापगमातिशय-चतुष्टयोपपन्नं जिनम्प्रणम्यं [जिनवृत्तिविशेष्याताकं यद्ग्रन्थकर्त्रविधिकोत्कृष्टत्व-प्रकारकं ज्ञानं मतउत्कृष्टो जिनइत्याकारकं तदनुकूलव्यापारानन्तरम्] इत्यर्थः

पृ. १. पं. ३. "अहं" प्राप्त न्यायविशारद न्यायाचार्यादिविरुदः श्रीमान् यशोविजयः, अस्मच्छब्दस्य अन्यदीय स्वार्थतात्पर्यकोच्चारणनधी नोच्चारणरूपस्व-स्वतन्त्रोच्चारणकर्तरिशक्तिरिति, प्रकृतास्मच्छब्दोच्चारयितुः श्रीयशोविजयोपाध्या-यस्यास्मच्छब्देनावगतिः। अहम्पदानुपादानेऽपि तनोमीत्युत्तमपुरुषेण तदर्थाव-गतिः स्यादेव, तथापि स्वगतविदितचारुचिन्तामणित्वादिधर्मलक्षणासाधारण-पाण्डित्याभिव्यञ्जनद्वारा स्वकर्तृकोक्तग्रन्थस्योपादेयत्वाभिव्यक्तये तदुक्तिः

पृ. १. पं. ३ "प्रमाणनयनिक्षेपैरिति" समासेऽल्पाचः पूर्वमुपादान-मितिनियमेऽपि बह्वचः प्रमाणपदस्य यत्पूर्वमुपादानं तन्नयापेक्षया प्रमाणस्याभ्य-र्हितत्वादिति बोध्यम्,। प्रमाणादीनां स्वरूपं ग्रन्थ एव व्यक्तम्

पृ. १. पं. ३. "तर्कभाषामिति" तर्क्यन्ते प्रमितिविषयी क्रियन्त इति तर्काः प्रमाणादयस्तेषां भाषाप्रतिपादकवचनसमष्टिः पूर्वापरसङ्गतिविशेषभावापन्न-वाक्यकदम्बकसन्निवेशलक्षणसन्दर्भात्मग्रन्थ इति यावत् तान्, नौमि-विस्तारयामि तावन्मात्राभिधाने च तर्कपदव्युत्पत्तिनिमित्तस्य प्रमितिविषयत्वस्य–जीवाऽजीव-पुण्यपापबन्धास्रवसंवरनिर्जरामोक्षाख्यनवतत्त्वेषु पुण्यपापयोर्जीवाजीवयोरन्तर्भाव-माश्रित्य सप्ततत्त्वेषु जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालात्मक षड् द्रव्येषु तथा क्रमा-क्रमभाविपर्यायेषु च सत्त्वेन तत्प्रतिपादकसन्दर्भविशेषस्यापि तर्कभाषात्वेनो-त्तरकालीनकर्तव्यत्वप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापारलक्षणप्रतिज्ञाविषयतया ग्रन्थे चास्मिन् जीवादिपदार्थानामनिरूपणेन सम्पूर्णतया प्रतिज्ञातार्थानिर्वाहान्न्यूनत्वं स्यात्, व्युत्पत्त्यर्थमनाश्रित्य चिकीर्षितग्रन्थविशेषे रूढ एवायं तर्कभाषाशब्द इति यावान् विषयोऽत्रप्रतिपादितोऽस्ति तावदभिधेयकग्रन्थ एव प्रतिज्ञाविषय इति न प्रतिज्ञातार्थानिर्वाह इति यदि विभाव्यते तदापि चिकीर्षितग्रन्थादौ तदध्यय-नादिप्रवृत्त्यर्थमनुबन्धचतुष्टयमवश्यमेव वक्तव्यम्। अनुबन्ध चतुष्टयाज्ञाने

प्रवृत्तिकारणयोरिदम्मदिष्टसाधनमिति इदम्मत्कृतिसाध्यमितिज्ञानयोरभावात्तदध्ययनार्थं प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरेव न स्यात् । अभिधेयः प्रयोजनमधिकारीसम्बन्धश्चेत्येतदनुबन्धचतुष्टयम्, तल्लक्षणन्तु प्रवृत्ति प्रयोजकज्ञानविषयत्वं प्रवृत्तिजनकज्ञानजनकज्ञानविषयत्वं वा । प्रथमे जनकजनकं प्रयोजकम्भवतीतिकृत्वा प्रवृत्तिप्रयोजकमभिधेयादिचतुष्टयज्ञानं तद्विषयत्वमभिधेयादिचतुष्टये । द्वितीये प्रवृत्तिजनकम्मदिष्टसाधनताज्ञानं मत्कृतिसाध्यताज्ञानञ्च तज्जनकमनुबन्धचतुष्टयज्ञानं तद्विषयत्वमनुबन्धचतुष्टये समस्तीतिलक्षणसमन्वयः । तथा चैतद्ग्रन्थाध्ययनप्रवृत्त्यर्थमभिधेयादिस्वरूपानुबन्धचतुष्टयप्रतिपादनायोक्तं प्रमाणनयनिक्षेपैरिति, उपलक्षणे चेयं तृतीया, प्रमाणनयनिक्षेपोपलक्षितत्वञ्च प्रकृत तर्कभाषाभिधग्रन्थस्य प्रतिपादकतयेति, न तु करणाभिधायिनीयं तृतीया । तथा सति तस्यास्तनोमीत्यनेनैवान्वयस्य वक्तव्यत्वेन तर्कभाषाभिधेयस्यान्यस्यैव कस्यचिद्विशदीकरणमेभिरिति स्यान्न च तथात्र समस्तीति, एवञ्च प्रमाणनयनिक्षेपा अभिधेयाः । तैस्सह ग्रन्थस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावस्सम्बन्ध इत्येतदयं साक्षात्प्रतीयते, प्रमाणनयनिक्षेपज्ञानं प्रयोजनं तत्कामोऽधिकारीति प्रयोजनाधिकारिणावर्थात्प्रतीयेते । प्रमाणनयनिक्षेपाणाञ्च ज्ञानरूपमेवानुष्ठानं तच्च शक्यमेवेति नाशक्यानुष्ठेयत्वमभिधेयस्य, तत्प्रतिपादकत्वमप्युक्तशास्त्रस्य सम्भवत्येवेति नासम्बद्धत्वं, निरुक्ताभिधेयपरिज्ञानञ्चोपादेयार्थविषयकत्वेन काम्यत्वाद्भवत्येव प्रयोजनं, तत्कामनाऽपि प्रेक्षवतां सम्भवत्येवेति नाधिकारिणामप्यसम्भव इति, न चन्द्रानयनोपदेशवन्नागशिरोमण्याहरणोपदेशवच्चाशक्यानुष्ठेयार्थत्वं, न वोन्मत्तवाक्यसन्दर्भवत्पूर्वापरासङ्गतार्थत्वं न रसाभासादिवर्णनवदुत्तमपुरुषानभिमतार्थज्ञानजनकत्वं नातएव चासम्भवद्विशिष्टपुरुषाधिकारत्वमिति निष्कम्पप्रवृत्तिविषयाध्ययनकोऽयं ग्रन्थ इति

॥ अथ प्रमाणसामान्यलक्षणनिरूपणम् ॥

अथ प्रथमोद्दिष्टं प्रमाणं निरूपयति ।

पृ. १. पं. ४. "तत्रेति" प्रमाणादीनां मध्य इत्यर्थः, देवसूर्युपदिष्टं प्रमाणलक्षणमाह--

पृ. १. पं. ४. "स्वपरेति" अत्र प्रमाणमितिलक्ष्यनिर्देशः, स्वपरव्यवसायिज्ञानमिति लक्षणनिर्देशः, यद्यपि स्वपरव्यवसायित्वस्वरूपप्रकर्षविशिष्टं

ज्ञानं, प्रशब्दाव्यवहितोत्तरेण भावल्युडन्तेन करणल्युडन्तेन वा "मा" धातुना प्रत्याय्यत इति प्रमाणमिति लक्ष्यवचनं स्वपरव्यवसायिज्ञानमिति लक्षणवचनं च समानार्थमिति उद्देश्यतावच्छेदक विधेयतावच्छेदकयोरेके य घटो घट इत्यस्मादिव प्रकृतलक्षणवाक्यादपि शाब्दबोधानुपपत्तिः, व्युत्पत्तिनिमित्तादन्यत्प्रमाणपद-प्रवृत्तिनिमित्तञ्चाखण्डं दुर्निरूपम्, तथापि प्रत्यक्षं प्रमाणमनुमानं प्रमाणम्प्रत्य-भिज्ञानम्प्रमाणं स्मृतिःप्रमाणमित्याद्यनुगतप्रतीति सिद्धमनुगतमस्त्येव किञ्चित्प्र-माणत्वं स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वसमनियतं तदन्यत्तदेव च लक्ष्यतावच्छेदकं तद्विशिष्टमेव च प्रमाणमिह प्रमाणपदेन विवक्षितम्, स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वाभिन्न-त्वेऽपि वा प्रमाणत्वस्य प्रमाणत्वत्वेन लक्ष्यतावच्छेदकत्वं स्वपरव्यवसायिज्ञान-त्वत्वेन लक्षणतावच्छेदकत्वमित्यपि स्याद्वादिना वक्तुं शक्यत एव, तन्मते एकस्यापि निरुक्तज्ञानत्वस्योक्तरूपाभ्यां भेदसम्भवात् । तथा, स्वपरव्यवसायि-ज्ञानत्वमपि स्वव्यवसायिज्ञानत्वपरव्यवसायिज्ञानत्वाभ्यामभेदेनाकलितं द्विस्वभा-वमिति, तत्र स्वव्यवसायिज्ञानत्वस्वभावात्मना प्रमात्मकफलतावच्छेदकं, परव्य-वसायिज्ञानत्वस्वभावात्मना प्रमाणात्मककरणशक्त्यवच्छेदकमित्यपि बोध्यम् । लक्षणांशं विवृणोति ।

पृ. १. पं. ४ "स्वमिति" आत्मेति, कस्यात्मेत्यनुक्तौ घटात्मापटात्मे-त्येवं घटादिस्वरूपे सर्वत्रात्मशब्दप्रयोगाद् घटाद्यात्मनोऽपि स्वशब्देन ग्रहणं प्रस-ज्येत, एवं जैनमते घटादिव्यवसायो घटमहञ्जानामीत्यादिस्वरूपमेव । तत्र चाहम्पदवाच्यस्य प्रमातुरात्मनोऽपि भानम्भवतीति प्रमातास्वशब्द ग्राह्य इति भ्रान्तिरपि प्रसज्येतेत्यतस्तत्पर्यवसितार्थमाह–"ज्ञानस्यैव स्वरूपमित्यर्थः" इति । साक्षात्परम्परया वा यः स्वार्थस्य विशेष्यः यश्च समभिव्याहृतक्रियाकार-कपदार्थस्तदुभयत्र स्वपदस्य शक्तिरिति स्वपरव्यवसायिज्ञानमित्यत्र स्वशब्दार्थस्य परम्परया विशेष्यज्ञानमेवेति ज्ञानस्यैव स्वरूपं स्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताक्रान्तत्वा-त्स्वशब्देन ग्रहीतव्यमित्यर्थः । परपदेन भिन्नस्वरूपबोधकेनाशेषस्यापि जगतो ग्रहणं प्रसज्येतेत्यत आह–

पृ. १. पं. ५. "परःतस्मादन्य" इति, ज्ञानस्वरूपाद्भिन्नः परपदेन ग्राह्य इत्यर्थः । ज्ञानस्वरूपादन्य आत्माऽपि तद्व्यवसायिभ्रमज्ञानमपीत्यत आहः–

पृ. १. पं. ५. "अर्थ इति यावदिति ।" यज्ज्ञानस्य यो ज्ञेयो वा ह्रियऽर्थस्य एव परपदेनात्राभिप्रेत इत्यर्थः । तौ ज्ञानस्वरूपबाह्यार्थौ–

पृ. १. पं. ६. "यथास्थिततत्वेन" यस्य ज्ञानस्य यद्रूपं प्रत्यक्षत्वानुमितित्वादिकं बाह्यार्थस्य च स्वस्मिन् वर्तमान यद्रूपं तद्रूपेण यद्यपि लक्षणवाक्ये लक्ष्यमुद्दिश्य लक्षणं विधीयत इति उद्देश्यविधेयवचनयोरावश्यकत्वमेवेति केवलं प्रमाणमितिपदं विभक्तिलक्षणपदसमभिव्याहारमाश्रित्य वाक्यं भवदपि लक्ष्यमात्रप्रतिपादकत्वान्न लक्षणवाक्यमतो ज्ञानपदानुपादानेऽन्यदेव किञ्चिदुपयोगादिपदमुपात्तं स्यात्। न च तदुपात्तमितिलक्षणवाक्यत्वोपपत्त्यर्थमेव ज्ञानपदम्, तथापि प्रमाणमित्यस्यैव रूढ्यर्थं किञ्चिल्लक्ष्यं किञ्चिच्च प्रमाणत्वादिनापरिकल्पितादिरूपं लक्षणमित्यभ्युपेत्य प्रमाणमिति लक्षणवाक्यं काममस्तु, किं ज्ञानपदोपादानेनेत्यत आह–

पृ. १. पं. ७. "अत्रेति" उक्तलक्षणवाक्य इत्यर्थः, स्वमते सामान्यमात्रविषयकग्रहणमनाकारोपयोगस्वरूपं दर्शनमित्युच्यते। तत्स्थाने सामान्यनुपगन्त्राबौद्धेन स्वलक्षणमात्रगोचरं निर्विकल्पकप्रत्यक्षमुपेयते, तच्च न प्रमाणमथापि प्रत्यक्षप्रमाणतया तेनाभ्युपेयते, वस्तुतोऽलक्ष्ये तत्र लक्षणगमनादातिव्याप्तिस्स्यादतस्तद्वारणाय ज्ञानपदं। तच्च विशेषावगाहिबोधे सविकल्पकात्मके सङ्कुचितमिति दर्शनस्यातथात्वात्रतत्राति व्याप्तिः; यदा च बौद्धाभ्युपगतस्वलक्षणविषयकनिर्विकल्पकप्रत्यक्षात्मकदर्शन एवातिव्याप्तिवारणाय ज्ञानपदोपादानमुपपादितं तदा ज्ञानदर्शनयोरैक्यमभ्युपगच्छतान्नव्यानां मते लक्ष्यतया दर्शनेऽतिव्याप्त्यसम्भवेऽपिग्रन्थकारोपाध्यायमते नैश्चयिकावग्रहस्वरूपस्य दर्शनस्य मतिज्ञानत्वेन प्रामाण्येऽपि न क्षतिः। अपि चोक्तलक्षणं श्रीमद्देवसूरिनिर्दिष्टमेव, तन्मते च दर्शनं ज्ञानात्पृथगेवाभिमतमिति तदुक्तलक्षणघटकविशेषणव्यावृत्तिस्तन्मतमवलम्ब्ययुक्तमेव। वस्तुतो दृश्यतेऽनेनेति दर्शनमितिव्युत्पत्या दर्शनपदेन प्रत्यक्षकारणमिन्द्रियमिन्द्रियसन्निकर्षो वाऽज्ञानरूपमपि प्रमाणतया नैयायिक वैशेषिकाग्यामुपगतं, तस्य चाज्ञानरूपतया प्रामाण्यान्न जैनमतेऽभ्युपगतमिति लक्ष्यभिन्ने तत्र लक्षणगमनवारणाय ज्ञानपदमिति बोध्यम्, व्यवसायीति विशेषणस्य प्रयोजनमुपदर्शयति।

पृ १. पं. ७. "संशयेति" "साधक–बाधक प्रमाणाभावादनवस्थितानेककोटि संस्पर्शिज्ञान संशयः" इति सूत्र लक्षितेऽयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्याकारके संशये, "विपरीतैककोटिनिष्टङ्कनं विपर्ययः" इतिसूत्रलक्षिते शुक्तिकायामिदं

रजतमित्याकारेक विपर्यये, "किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः" इतिसूत्रलक्षिते किमपि मया स्पृष्टमित्याकारके गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानरूपे अनध्यवसायज्ञाने च प्रमाणातात्मके ज्ञानत्वस्य सत्त्वेनातिव्याप्तिवारणाय व्यवसायिपदमित्यर्थः। तथा, च यथास्थिततत्वेन निश्चयत्वलक्षणव्यवसायत्वं तद्वति तत्प्रकारकनिश्चयत्व-पर्यवसितं। संशये च तदभावाप्रकारकत्वस्य निश्चयत्वघटकस्याभावाद्विपर्यये च तद्वतितत्प्रकारकत्वस्याभावादनध्यवसाये च नियतप्रकारताविशेष्यत्वयोर्निरूपक-त्वस्याभावान्नव्यवसायित्वं, संशयविपर्ययानध्यवसायाश्च समारोपास्तद्विरोधी च व्यवसाय इति समारोपेऽतिव्याप्तिवारणायेत्युक्तौ लाघवसम्भवेऽपि स्पष्टप्रतिपत्त-यइत्थमभिधानम्। यद्यपि स्वमते ज्ञानमात्रं स्वप्रकाशस्वरूपं परप्रकाशकं चेति स्वपरेतिविशेषणानुपादानेऽपि नातिव्याप्तिः, तथापि ज्ञानमात्रमतीन्द्रियं, किन्तु स्वजन्यज्ञाततालिङ्गकानुमानेन तद्गृह्यते, तदनुमानप्रयोगश्च इयं घटनिष्ठज्ञातता घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकज्ञानजन्या घटत्वप्रकारकघटनिष्ठज्ञातता त्वाद्, यायत्प्र-कारिका यन्निष्ठज्ञातता सा तत्प्रकारक तद्विशेष्यकज्ञानजन्या यथा पटत्व प्रकारक-पटनिष्ठज्ञाततेतीत्थं परोक्षज्ञानवादिनो मीमांसकप्रकाण्डस्य कुमारिलभट्टस्य, निर्विकल्पकज्ञानातिरिक्तं ज्ञानमात्रं यद्यपि प्रत्यक्षस्वरूपयोग्यं तथापि ईश्वरयोगि-ज्ञानातिरिक्तस्य तस्य स्वविषयकत्वं न सम्भवतीति स्वसमानाधिकरणस्वानन्त-रोत्पन्नानुव्यवसायात्मकप्रत्यक्षज्ञानेन व्यवसायो गृह्यते, यथा अयं घट इति व्यवसायो घटमहञ्जानामीत्यनुव्यवसायेन गृह्यत इत्येवं स्वसमानाधिकरणसमन-न्तरप्रत्ययवेद्यं ज्ञानमितिवादिनो नैयायिकस्य, वैशेषिकस्य चापरप्रकाशज्ञानिनो मतं, तादात्म्यमेव विषयविषयिभावनिबन्धनमिति ज्ञानाभिन्नो ज्ञानाकारं एव ज्ञानविषयः ज्ञानाकाराद्भिन्नं बाह्यं वस्तु समस्त्येव नेतिस्वमात्रविषयकमेव सर्वं ज्ञानं बाह्यवस्तुनोऽभावादेव न बाह्यवस्तुविषयकमितिज्ञानाद्वैतवादिनो योगाचारस्य बौद्धविशेषस्य मतञ्चापहस्तयितुं स्वपरेति विशेषणमित्याह—

पृ. १. पं. ८. "**परोक्षबुद्ध्यादीति,**" आदिपदात्समानाधिकरणसमन-न्तरस्वविषयकप्रत्यक्षवेद्यबुद्ध्युपग्रहः, **मीमांसकादीनामि**त्यत्रादिपदाद्वैशेषिका-द्युपग्रहः। स्वरूप विशेषणार्थमुक्तमिति। विशेषणं द्विविधं—स्वरूपविशेषणं व्याव-र्त्तकविशेषणञ्च। स्वरूपविशेषणमेव चोपरञ्जकविशेषणमुच्यते, स्वरूपपरिज्ञानरूप-फलत्वेनास्यापि न निष्फलत्वम्, सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवदिति

वचनञ्च व्यावर्तकविशेषणपरं, तस्य हि विशेष्ये सम्भवोऽपि वर्तते, व्यभिचारोऽपि, तद्भिनाऽपि विशेष्यतावच्छेदकाक्रान्तस्यान्यस्य सद्भावात्, तस्यापि च विशेष्यतावच्छेदकशून्ये वृत्तेः, तत्र शुक्लं जलमित्यत्र जलस्य शौक्ल्यं विशेषणं प्रथमं, तत्र सम्भवमात्रम्, द्वितीयं नीलो घट इत्यत्र घटस्य नीलरूपत्वम्, प्रकृते च स्वपरेति विशेषणं व्यवसायिज्ञानात्मकप्रमाणस्य स्वरूपपरिज्ञानफलकमुक्तमित्यर्थः। ननु स्वपरेति स्वरूपविशेषणमेवेत्याश्रयणे व्यवसायिज्ञानं प्रमाणमित्येवाश्रितं स्यात् यथावस्थिततत्त्वेन निश्चय एव व्यवसाय इति शब्दान्तरेण सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमित्याख्यातं, सम्यग्ज्ञानञ्च प्रमैव तस्येदानीं प्रमाणत्वे आश्रिते करणत्वसंवृत्तं, तदतिरिक्तं फलं वक्तव्यं, न च तद्वक्तुं शक्यमिति फलाभावात्करणमप्यनुपपन्नमिति, करणार्थकप्रत्ययान्तमाधातुनिष्पन्नप्रमाणपदार्थरूपलक्ष्यस्य तादात्म्येन लक्षणत्वमप्युक्तज्ञानस्य न सम्भवतीत्याशङ्कते।

पृ. १. पं. ११ ‘नन्विति’ किमित्याक्षेपे, न किञ्चिदिति तदर्थः।

पृ. १. पं. ११ ‘अन्यत्’ सम्यग्ज्ञानरूपप्रमाणाद्भिन्नम्, “तत्फलं” सम्यग्ज्ञानलक्षणप्रमाणफलम्, प्रमाणतत्फलयोः कथञ्चिद्भेदाभेदस्यैव स्याद्वादे स्वीकृतत्वेन प्रमाणात्सर्वथाभिन्नस्य तत्फलस्याभावेनोपदेष्टुमशक्यत्वेऽपि प्रमाणात्कथञ्चिद्भिनाभिन्नस्य स्वार्थव्यवसितिलक्षणस्य तत्फलस्य सम्भवान्नोक्ताक्षेपः स्याद्वादिनम्प्रति कमपि दोषमावहतीति समाधत्ते “सत्यमिति” अन्यत्फलापाकरणमिष्टमेवेत्यर्थः।

पृ. १. पं. १२ “तत्फलत्वात्” प्रमाणफलत्वात्, ननु यथा च भवन्मते व्यवसायिज्ञानमात्रस्य प्रमाणलक्षणत्वोपपत्तौ स्वपरेतिस्वरूपविशेषणार्थमेव, लक्षणे तदनिवेशेऽपि नाव्याप्त्यादिदोषः, तथा स्वार्थे त्वपि स्वरूपविशेषणार्थमेव, स्वार्थव्यवसितिरूपत्वादेव तद्रूपाया एव तस्याः फलत्वसिद्धेः। न चैवं व्यवसितिः प्रमाणं व्यवसितिः फलमित्येकेनैव धर्मेण प्रमाणत्वं फलत्वञ्च स्यात्तच्च न सम्भवति प्रमाणफलभावस्य भेदनियतत्वादिति वाच्यम्, तथा सति स्वव्यवसायित्वेन फलत्वं परव्यवसायित्वेन प्रमाणत्वमित्येवमवश्यमभ्युपगन्तव्यत्वेन प्रमाणस्य स्वपरव्यवसायित्वं स्वाभ्युपगतं न स्यादिति शङ्कते।

पृ. १. पं. १३ “नन्वेवमिति” एवं स्वार्थव्यवसितेः फलत्वाङ्गीकारे,

ननु योग्यताज्ञानशाब्दबोधयोः कार्यकारणभावेऽपि समानविषयकत्वं दृश्यत एवेति फलस्य स्वपरव्यवसायित्वेऽपि प्रमाणस्यापि स्वपरव्यवसायित्वं स्यादेवेति प्रमाणस्य परव्यवसायित्वात्फलस्य च स्वव्यवसायित्वादितिहेतूपादानं प्रमाणस्य स्वपरव्यवसायित्वासम्भवप्रतिपत्तयेऽयुक्तमिति चेत्, न, अन्यत्रभिन्नयोः समानविषयतया कार्यकारणभावे समानविषयतया कार्यकारणभावे समानविषयकत्वस्य सम्भवेऽपि प्रकृते य एव प्रमाणस्य स एव यदि फलस्यापि विषयस्तदा फलेन यत्प्रकाशयितव्यं तत्प्रमाणेन प्रकाशितमेवेति न तत्प्रकाशनेन फलं किञ्चिदित्यतः प्रमाणफलयोर्विषयभेदस्यावश्यमभ्युपगन्तव्यत्वात्, ननु प्रमाणफलयोर्विषयभेदः प्रमाणस्य स्वप्रकाशकत्वेन स्वव्यवसायित्वात् फलस्य परप्रकाशकत्वेन परव्यवसायित्वादुपपद्यत इति प्रमाणस्य परव्यवसायित्वं फलस्य स्वव्यवसायित्वमित्यत्र विनिगमकन्नास्तीति वाच्यम् । यतः घटमहञ्जानामीत्याद्यनुव्यवसायस्यायं घट इत्यादि व्यवसायफलत्वं ज्ञानस्य समानाधिकरणसमनन्तरज्ञानवेद्यत्वमभ्युपगच्छता नैयायिकेनाभ्युपेयत एव, तद्विषयकप्रत्यक्षम्प्रतितिविषयस्य तस्य कारणत्वात्, इतिवस्तुस्थितौ परप्रकाशेऽनवस्थानात्स्वप्रकाशमभ्युपगच्छद्भिः स्याद्वादिभिरेकस्यैव ज्ञानस्यायं घटः घटमहञ्जानामीत्युभयाकारकत्वमुपेयते इति घटमहञ्जानामीत्यनुव्यवसायस्थानीयस्वसंवेदनरूपस्वव्यवसितेः फलत्वं तज्ज्ञानीयव्यवसायस्थानीयायं घट इति बाह्यघटादिलक्षणपरप्रकाशस्वरूपस्य परव्यवसितेः प्रमाणत्वं युज्यत एव । अपि च सर्वमेव ज्ञानं स्वसंविदितमिति स्वांशेन संशयवादिरूपं, न हि भवति यस्यकस्यचिदपि ज्ञानस्योत्पत्तौ ज्ञानवानहं न वेति संशयो न ज्ञानवानिति विपर्ययोऽनध्यवसायो वेति स्वांशे समारोपानात्मकत्वात्स्वव्यवसितिरूपमिति तदंशस्य ज्ञानसामान्यकारणकूटलक्षणज्ञानसामग्रीजन्यत्वान्न प्रत्यक्षादिप्रमाणलक्षणज्ञानविशेषप्रयोजकसामग्रीजन्यत्वमिति प्रमाणकोटिबहिर्भावात्प्रमाणफलत्वं घटपटादिबाह्यविषयकत्वात्परप्रकाशकत्वं तदंशे दोषादिघटितसामग्रीप्रभवत्वे प्रमेयव्यभिचारित्वलक्षणमप्रामाण्यं, तच्चावान्तरसामग्रीविशेषप्रभवत्वेन संशयत्वविपर्ययत्वादिरूपतामश्नुते । गुणादिघटितसामग्रीप्रभवत्वे यथावस्थितत्वेन निश्चयत्वलक्षणप्रमेयाव्यभिचारित्वस्वरूपपरव्यवसायित्वम्, तच्च अवान्तरसामग्रीविशेषप्रभवत्वेन प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणत्वतदवान्तरप्रमाणभेदरूपतामासादयतीति, प्रमाणकोटिसन्निवेशस्तदंशस्येति, एवं प्रत्यक्षमात्रस्य संवेदनं साक्षात्करोमीति, अनुमितिमात्रस्य संवेदनमनुमिनोमीति प्रत्यभिज्ञानमात्रस्य संवेदनं प्रत्यभिजा-

नामीति तादृशेन संवेदनेन ज्ञानस्य कुत्र प्रामाण्यमिति न निर्णीयते, तादृशसंवेदनस्वरूपतयैव च ज्ञानस्य प्रामाण्याभ्युपगमे स्वसंविदितं घटप्रत्यक्षमिव पटप्रत्यक्षमपीति स्वसंवेदनस्वरूपत्वाविशेषाद् घटप्रत्यक्षवत्पटप्रत्यक्षमपि घटे प्रमाणं स्यादिति पटप्रत्यक्षसंवेदनादपि घटसिद्धिः प्रसज्येत परव्यवसायित्वेन प्रामाण्ये च स्वव्यवसितित्वस्याविशेषेऽपि परव्यवसितित्वस्वभावाद् घटप्रत्यक्षमेव घटे प्रमाणं न पटप्रत्यक्षम्, तत एव चार्थेनैव विशेषो हि निराकारतयाधियामीति वचनमपि व्याख्यातं भवति । यन्न स्वस्वरूपमवभासयति तन्न परस्वरूपमप्यवभासयति यथा स्तम्भादिकम्, स्वस्वरूपं नावभासयति चाज्ञानरूपमिन्द्रियतत्सन्निकर्षादिस्ततो नार्थावभासकमिति नैयायिकाभ्युपगतस्यास्वसंविदितज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वाभावात्परप्रकाशकत्वं न स्यादिति । परव्यवसितित्वाभावेन प्रामाण्यं न भवेदेवेति प्रामाण्योपपादकत्वेन स्वसंवेदनस्य स्वव्यवसितिपर्यवसन्नस्य भवेदुपादेयताऽपीति युक्तमुक्तं प्रमाणस्य परव्यवसायित्वं फलस्य च स्वव्यवसायित्वमिति । प्रमाणफलयोरुक्तदिशा भेदेऽपि उपयोगात्मना कथञ्चिदभेदस्यापि भावेन फलस्य स्वव्यवसायित्वे तदभिन्नत्वात्प्रमाणस्यापि स्वव्यवसायित्वमेवं प्रमाणस्य परव्यवसायित्वात्तदभिन्नत्वात्फलस्यापि परव्यवसायित्वमित्येवं तयोर्द्वयोरपि स्वपरव्यवसायित्वस्योपपत्तिरिति समाधत्ते ।

पृ. १. पं. १४ **न प्रमाणफलयोः कथञ्चिदभेदेनेति**, तदुपपत्तेः स्वपरव्यवसायित्वस्य सम्भवात्, उक्तशङ्कासमाधानमूलीभूतस्य ।

ज्ञानस्याथ प्रमाणत्वे फलत्वं कस्य कथ्यते ।
स्वार्थसंवित्तिरस्त्येव ननु किन्न विलोक्यते ? ॥ १ ॥
स्यात्फलं स्वार्थसंवित्तिर्यदि नाम तदा कथम् ।
स्वपरव्यवसायित्वं प्रमाणे घटना मियात् ॥ २ ॥
स्यादभेदात्प्रमाणस्य स्वार्थव्यवसितेः फलात् ।
नैव ते सर्वथा कश्चिद्दूषणक्षण ईक्ष्यते ॥ ३ ॥

इति वचनकदम्बकस्यापि स्याद्वादरत्नाकरगतस्योक्ताभिप्रायोऽनुशीलनीयः । यदा च प्रमाणफलयोरुक्तदिशा भेदाऽभेदोऽपि च तदाऽऽत्मनो व्यापाररूपमुपयोगेन्द्रियमेव स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वात्प्रमाणं न तु चक्षुरादीन्द्रियं जडरूपं स्वपरव्यवसायिज्ञानरूपत्वाभावात्प्रमाणमिति निगमयति । इत्थञ्चेति स्वपरव्यव-

सायिज्ञानस्य प्रमाणलक्षणत्वे चेत्यर्थः, अत्र आत्मा ज्ञानेनार्थम्प्रमिणोतीत्यनुभवः साक्षिभावं भजते, स्पर्शादिविषयप्रकाशस्वरूपक्रियाम्प्रति कर्तृकारकरूपस्यात्मनस्सव्यापारत्वं छेदनलक्षणक्रियाकर्तुस्तीक्ष्णकुठारादिकरणोत्पतननिपतनानुकूलयत्नलक्षणव्यापारवत्त्वमावश्यकं व्यापारमन्तरेण कर्तुःक्रियाकारकत्वासम्भवात्, स च व्यापारउपयोग एव तस्य स्वपरव्यवसायित्वात्क्रियायाश्चापि स्वपरव्यवसायित्वमित्याशयेनाह ।

पृ. १. पं. १६ "न ह्यव्यापृतेति" सव्यापारायैवात्मनो ज्ञानलक्षण क्रियाजनकत्वमिति नियमानभ्युपगमे इन्द्रियसन्निकर्षमात्रेणात्मनस्तत्क्रियाकर्तृत्वाभ्युपगमे च सुषुप्तिसमयेऽपि देहव्यापकत्वगिन्द्रियेण मसृणतूलिकादिसन्निकर्षस्य सद्भावात्तेन तूलिकादिस्पार्शनज्ञानस्योत्पत्तिप्रसङ्गे न स्पार्शनज्ञानाद्यभावलक्षणसुषुप्त्यवस्थैव विलीयेतेत्याह । "मसृणेति" तत्प्रसङ्गात्स्पर्शादिप्रकाशप्रसङ्गात्, ननुआत्मव्यापाररूपस्योपयोगेन्द्रियस्य प्रमाणत्वे तद्भिन्नमेव फलं स्यादन्यथा स्वस्यैव स्वम्प्रतिकरणत्वं स्वम्प्रति क्रियात्वं विरुद्धं स्यात्क्रियाकरणभावस्य पौर्वार्यनियतत्वात्, न हि स्वमेव स्वस्मात्पूर्वं परश्च सम्भवति, भेदे च स्वव्यवसायिनः फलस्य परव्यवसायित्वं परव्यवसायिनः प्रमाणस्य स्वव्यवसायित्वञ्चानुपपन्नम् स्वरूपतो भिन्नयोरपि प्रमाणफलयोरुपयोगस्वभावत्वेनाभेदमभ्युपेत्य स्वपरव्यवसायित्वस्याभ्युपगमे नीलज्ञानाज्जायमाने पीतज्ञानेऽपि नीलविषयत्वं स्यात्पीतज्ञानजनके च नीलज्ञाने पीतविषयत्वं च प्रसज्येत, उपयोग स्वभावत्वेन तयोरप्यभेदस्य भावादिति चेत् । न, एकविषयकैकजातीयोपयोगस्थले यावन्नविषयान्तरोपयोगस्तावत्कालं समानविषयकोपयोगस्यावान्तरवैलक्षण्ये न वैलक्षण्यभावेऽपि तावदुपयोगव्यापिदीर्घोपयोगस्यैकस्य भावेन तदात्मनाऽवान्तरवैलक्षण्यापन्नोपयोगयोरभेदस्याभ्युपगमेन तद्बलात्फलाभिन्नस्य प्रमाणस्य फलविषयस्वव्यवसायित्वस्य प्रमाणाभिन्नस्य फलस्य च प्रमाणविषयपरव्यवसायित्वस्य च सम्भवेन फलप्रमाणयोः स्वपरव्यवसायित्वस्योपपत्तेः, नीलज्ञानपीतज्ञानयोश्च भिन्नविषयकयोर्विजातीययोर्वा कार्यकारणभावमापन्नयोर्यावत्कालमवस्थानं तदन्यतरनिरूपितं तावत्कालीनस्तदुपयोगद्वयव्यापीदीर्घोपयोग एको नाभ्युपगम्यत इति न तदात्मना तदुपयोगद्वयस्याभेद इति तयोरन्योन्यविषयविषयकत्वस्य तद्बलादापत्तेरसम्भवात् । यद्वा प्रमाणफलभाव एकस्याप्युपयोग-

स्यैकस्मिन्नपि क्षणे उपपद्यते । तथाहि, नैयायिकवैशेषिकादिभिरीश्वरज्ञानं नित्यमपि प्रमोपेयते, ईश्वरश्च तदकर्ताऽपि प्रमाता, तथा तदकरणमपीश्वरः प्रमाणं, तथा च प्रमाणजन्यत्वाभावेऽपि प्रमास्वरूपतया फलस्वरूपमीश्वरज्ञानं तत्कर्तृत्वाभावेऽतद्वत्त्वान्प्रमाता महेशः प्रमात्मकस्वज्ञानकरणत्वाभावेऽपि तदयोगव्यवच्छेदवत्त्वात् प्रमाणमीश्वरः । तदुक्तं कुसुमाञ्जलावुदयनाचार्येण—

मितिः सम्यक् परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता ।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥ १ ॥ इति ॥

अस्यार्थः—मितिः—प्रमितिः सम्यक् परिच्छित्तिः यथार्थज्ञानं तद्वत्ता सम्यक्परिच्छित्तिलक्षणप्रमाधिकरणता, प्रमातृता—प्रमातृभावः, तदयोगव्यवच्छेदः सम्यक् परिच्छित्तिलक्षणया प्रमया सह अयोगस्यासम्बन्धस्य व्यवच्छेदोऽभावः, प्रामाण्यं प्रमाणत्वं गौतमे मते न्यायमते, इति एवमेव स्याद्वादेऽपि स्वव्यवसायिन्या प्रमया सह तदात्मकस्य स्वपरव्यवसायिनः प्रमाणस्य तादात्म्यलक्षणस्य योगस्य सद्भावे तदभावलक्षणायोगस्य व्यवच्छेदस्तादात्म्यलक्षणो योगोऽस्तीति तल्लक्षणं प्रामाण्यं सङ्गतिमञ्चत्येव । स्वम्प्रति स्वस्य करणत्वाभावेऽपि यथा प्रमाणोपपत्तिस्तथा स्वकार्यत्वाभावेऽपि प्रमायाः फलत्वं निर्वहत्येव, प्रमाणस्य हि अज्ञाननिवृत्तिः फलं ज्ञानाभावत्वाज्ञानं तन्निवृत्तिस्तु ज्ञानमेवाभावाभावस्य प्रतियोगिरूपत्वात्, ज्ञानञ्च यद्यपि प्रमाणप्रमोभयस्वभावं तथापि स्वव्यवसितिस्वभावस्वरूपमेव तत्फलरूपमज्ञाननिवृत्तिलक्षणं ज्ञानं, यतोऽयं घटः इत्यतो न भवति ज्ञातो घट इति व्यवहारः किन्तु घटमहं जानामीत्यनन्तरमेव, ज्ञातो घट इति व्यवहारोऽज्ञाननिवृत्त्यनन्तरमेवावश्यम्भावीत्यतो निर्णीयतेऽर्थज्ञातताव्यवहारनिबन्धनत्वात्स्वव्यवसितिलक्षणप्रमाणरूपैवाज्ञाननिवृत्तिः फलं, यदाऽपि च संशयविपर्ययानध्यवसायलक्षणसमारोप एवाज्ञानं तदाऽपि तन्निवृत्तिः सम्यग्ज्ञानस्वरूपैवेति । तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके विद्यानन्देन अर्थग्रहणशक्तिस्वरूपमेव प्रमाणं प्रकटीकृतं तन्मतं प्रतिक्षेप्तुमुपन्यस्यति । केचिदिति अस्य सङ्गिरन्ते इत्यनेनान्वयः, अर्थग्रहणशक्तेः प्रमाकरणत्वात्प्रमाणत्वमित्यर्थकस्य ततोऽअर्थग्रहणकारेति पद्यस्य तदीयं व्याख्यानं यथा "न हि अन्तरङ्गबहिरङ्गार्थग्रहणरूपात्मनो ज्ञानशक्तिकरणत्वेन कथञ्चिन्निर्दिश्यमाना विरुध्यते," सर्वथा शक्तिवतोर्भेदस्य प्रतिहननात् । ननु च ज्ञानशक्तिर्यदि प्रत्यक्षा तदा सकलपदार्थशक्तेः प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गादनुमेय-

त्वविरोधः । यदि पुनरप्रत्यक्षा ज्ञानशक्तिस्तदा तस्याः करणज्ञानत्वे प्राभाकरमतसिद्धिः, तत्र करणज्ञानस्य परोक्षव्यवस्थितेः फलज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वोपगमात् । ततः प्रत्यक्षकरणज्ञानमिच्छतां (द्भिः) न तच्छक्तिरूपमेषितव्यं स्याद्वादिभिरिति चेत्; तदनुपपन्नम्; एकान्ततोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वस्य करणज्ञानेऽन्यत्र वा वस्तुनि प्रतीतिविरुद्धत्वेनाऽनभ्युपगमात् । द्रव्यार्थतो हि ज्ञानमस्मादेः प्रत्यक्षम्, प्रतिक्षणपरिणामशक्त्यादिपर्यायार्थतस्तु न प्रत्यक्षम् । तत्र स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं स्वसंविदितं फलं प्रमाणाभिन्नं वदतां करणज्ञानं प्रमाणं कथम प्रत्यक्षं नाम ? । न च येनैव रूपेण तत्प्रमाणं तेनैव फलं येन विरोधः । किं तर्हि ? । साधकतमत्वेन प्रमाणं साध्यत्वेन फलम् । साधकतमत्वं तु परिच्छेनशक्तिरिति प्रत्यक्षफलज्ञानात्मकत्वात् प्रत्यक्षं, शक्तिरूपेण परोक्षम् । ततः स्यात्प्रत्यक्षं स्यादप्रत्यक्षमित्यनेकान्तसिद्धिः । यदा तु प्रमाणाद्भिन्नं फलं हानोपादानोपेक्षाज्ञानलक्षणं तदा स्वार्थव्यवसायात्मकं करणसाधनं ज्ञानं प्रत्यक्षं सिद्धमेवेति, न परमतप्रवेशः, तच्छक्तेरपि सूक्ष्मायाः परोक्षत्वात् । तदेतेन सर्वं कर्त्रादिकारकत्वेन परिणतं वस्तु कस्यचित्प्रत्यक्षं परोक्षं च कर्त्रादिशक्तिरूपतयोक्तं प्रत्येयम् । ततो ज्ञानशक्तिरपि च करणत्वेन निर्दिष्टा न स्वागमेन युक्त्या च विरुद्धा इति सूक्तम्" इति ।

पृ. २. पं. ६ **लब्धीन्द्रियमेवेति,** इन्द्रियं द्विविधं द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियभेदात् । तत्र द्रव्येन्द्रियं निर्वृतीन्द्रियोपकरणेन्द्रियभेदाद्द्विधा निवृत्तीन्द्रियं चक्षुरादीनां गोलकाद्यधिष्ठानम् उपकरणेन्द्रियं तद्गतशक्तिविशेषः । भावेन्द्रियमपि द्विधा उपयोगेन्द्रियलब्धीन्द्रियभेदात्, तत्र उपयोगेन्द्रियं स्वपरव्यवसायिज्ञानस्वरूपमात्मनोऽर्थोपलब्धिक्रियाजनने व्यापारस्वरूपम् । तस्योपयोगस्यार्थग्रहणशक्तिस्वरूपं लब्धीन्द्रियम्, तस्यैव प्रमाणत्वं नान्येन्द्रियाणामित्येतदर्थमेवकारोपादानम् एतन्मतं प्रतिक्षिपति ।

पृ. २. पं. ७. **तदपेशलमिति**–लब्धीन्द्रियस्य प्रमाणत्वसमर्थनमसुन्दरमित्यर्थः । अर्थप्रमितिलक्षणफलम्प्रति यदव्यवधानेन करणं तदेव साधकतमत्वात्प्रमाणम् । एतादृशश्च स्वपरव्यवसायिज्ञानमेव तदात्मकोपयोगद्वाराअर्थग्रहणशक्तिलक्षणं लब्धीन्द्रियश्च व्यवहितं कारणमिति तन्न साधकतममिति न प्रमाणम्, व्यवहितकारणस्य प्रमाणत्वाभ्युपगमे द्रव्येन्द्रियादेरज्ञानस्यापि प्रमाणत्वं स्यादित्याशयेनाह ।

पृ. २. पं. ७. उपयोगात्मनेति–उपयोगेन्द्रियात्मकेनेत्यर्थः ।

पृ. २. पं. ७. लब्धेः–अर्थग्रहणशक्तिलक्षणलब्धीन्द्रियस्य यथा च वह्न्यादौ दाहादिक्रियानुकूलाः शक्तयोऽतीन्द्रियत्वेनाप्रत्यक्षास्तथेयमप्यर्थग्रहणानुकूलोपयोगगताशक्तिरिति परोक्षस्वभावा सा प्रमाणं प्रत्यक्षस्वभावं फलज्ञानस्य च प्रमेयत्वाऽभ्युपगमे भवतः करणस्य परोक्षत्वं फलज्ञानस्य च प्रत्यक्षत्वमभ्युपगच्छतः प्रभाकरस्य मते प्रवेशोऽपि प्रसज्यत इत्याह ।

पृ. २. पं. ८. शक्तीनामिति–ननु सर्वस्यानेकान्तत्वमभ्युपगच्छतां जैनानाम्मते किञ्चिदपि वस्तु नैकान्तेन प्रत्यक्षमप्रत्यक्षं वा किन्तु कथञ्चित् एवञ्चार्थग्रहणशक्तिरपि पर्यायतः परोक्षाऽपि द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षा । स्वपरपरिच्छितिलक्षणफलात्कथञ्चिदभिन्नस्यात्मनः प्रत्यक्षत्वेन तदभिन्नाया अर्थग्रहणशक्तेरपि तदात्मनाप्रत्यक्षत्वात् एतदभिप्रायकमेव द्रव्यार्थतो हि ज्ञानमस्मदादेः प्रत्यक्षं प्रतिक्षणपरिणामशक्त्यादिपर्यायार्थतस्तु न प्रत्यक्षमिति तद्वचनम् । एवञ्च न प्राभाकरमतप्रवेशस्तत्र करणज्ञानस्य सर्वथा परोक्षत्वस्य फलज्ञानस्य सर्वथा प्रत्यक्षत्वस्याभ्युपगमादित्याशङ्कते ।

पृ. २. पं. ९. अथेति–स्वाश्रये–इति–ज्ञानशक्त्याश्रय इत्यर्थः, यद्धि साक्षात्संवेदनेन स्वात्मना संवेद्यते तदेव स्वसंविदितं भवति यथा सुखादिः । ग्रहणशक्तिस्तु नैवं संवेदनविषयात्मकद्रव्याभेदात्तथेति स्वसंविदिता सा न स्यात् । एवं ज्ञानात्मनाकरणं सा संविदिता तु स्वाश्रयात्मस्वरूपेणेति घटाद्यर्थज्ञानफलाद्यवगाहिप्रत्यक्षे स्वस्वरूपेण करणतयोल्लिखिता न भवेदिति । तद्रूपेण तस्या अप्रत्यक्षत्वात् । न हि यद्द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षं, न पर्यायार्थतस्तस्य प्रत्यक्षप्रतीतौ स्वस्वरूपेण पर्यायात्मनोल्लेखो भवति । तथा तदुल्लेखाभ्युपगमे मृदात्मनः कलशस्य प्रत्यक्षकाले कलशाभिन्नमृज्ज्ञाने तदात्मनाकुशूल कपालादीनां प्रत्यक्षत्वेन कलशप्रत्यक्षे कुशूल–कपालादीनामपि कुशूल–कपालादिपर्यायात्मनोल्लेखः प्रसज्येतेति प्रतिक्षिपति ।

पृ. २. पं. ११ न; द्रव्यद्वारा प्रत्यक्षत्वेनेति–प्रत्यक्षविषयद्रव्याभिन्नत्वप्रयुक्तप्रत्यक्षत्वोपचारेण ।

पृ. २ पं. ११ सुखादिवदिति–प्रत्यक्षज्ञानस्वरूपसुखादिपर्यायस्वरूपसु-

खादेर्यथा स्वसंवेदितत्वं न तथेति व्यतिरेकेण दृष्टान्तः । तस्मात्प्राभाकरमतप्रवेश-भयात् ज्ञानेन घटज्ञानामीति करणोल्लेखानुपपत्तिभयाच्च न लब्धीन्द्रियं प्रमाणं किन्तूपयोगेन्द्रियमेव स्वपरव्यवसायिज्ञानस्वरूपं प्रमाणम् । तस्य प्रमास्वरूपाद्‌-भेदेऽपि तत्तत्पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टज्ञानस्वरूपत्वेन करणत्वं तत्तदुत्तरक्षणवृत्तित्व-विशिष्टत्वस्वरूपेण फलत्वं नानुपपन्नमिति भावः । [प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति चार्वाकाः, प्रत्यक्षानुमाने द्वे प्रमाणे इति बौद्धावैशेषिकाश्च, प्रत्यक्षानुमानशब्दाः प्रमाणानीति साङ्ख्याः, उपमानेन सह तानि चत्वारिप्रमाणानीति गौतमीयाः, अर्थापत्त्या सह तानि पञ्चप्रमाणानीति प्राभाकराः, अनुपलब्ध्या सह तानि षट् प्रमाणानीति भट्टवेदान्तिनौ एवं सम्भवैति ह्यचेष्टादीन्यपि प्रमाणानि वादिनो मन्यन्ते] ततः प्रमाणे सङ्ख्यायां बह्वो विप्रतिपतयस्तद्व्यपोहाय प्रतिनियतस-ङ्ख्याप्रतिपत्तिफलकं प्रमाणविभागमादर्शयति ।

पृ. २. पं. १५ **तदिति**–उक्तलक्षणलक्षितं प्रमाणमित्यर्थः ।

पृ. २. पं. १५ **द्विभेदमिति**–द्वौ भेदौ विशेषौ यस्य तद् द्विभेदम् स्वसा-क्षाद्व्याप्यसामान्यद्वयप्रमाणत्ववदिति, यावत्, तेन चाक्षुषादिभेदेन प्रत्यक्षज्ञान-व्यक्तीनां स्मरण–प्रत्यभिज्ञान–तर्का–नुमान–शाब्दभेदेन परोक्षव्यक्तीनां बहुत्व-सङ्ख्यायोगित्वेऽपि न क्षतिः । व्युत्पत्तिनिमित्ताश्रयणेन प्रत्यक्षशब्दार्थन्तावदाह ।

पृ. २. पं. १५ **अक्षमिति**–प्रतिगतमित्यस्य कार्यत्वेनाश्रितमित्यर्थकर-णेन इन्द्रियत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यताश्रयज्ञानं प्रत्यक्षमिति लभ्यते । इन्द्रियत्वञ्च इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गत्वं, नैयायिकेन तु शब्देतरोद्भूतविशेषगुणाना-माश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वं मनस्साधारणमुक्तं तच्च सिद्धान्ते मनसोऽनिन्द्रियत्वेनतद्गतत्वादतिव्याप्त्योपेक्ष्यम् । उक्तव्युत्पत्तिनिमि-त्तञ्च पारमार्थिकप्रत्यक्षेऽवध्यादौ नास्तीति । तद्गतं प्रत्यक्षपदव्युत्पत्तिनिमित्त-मुपदर्शयितुमाह ।

पृ. २. पं. १६ **"अथवाऽश्नुते ज्ञानात्मना"** इति–सर्वेषामेवात्मनां ज्ञानं जगद्विषयकमेव, स्वावरणकर्मप्रतिबन्धाच्च स्वविषयीभूतमप्यर्थं न प्रकाश-यति । यद्विषयावच्छेदेनावरणस्य क्षयोपशमादिस्तं विषयं प्रकाशयत्प्रतिनियत-विषयकमुच्यते, वस्तुस्थित्या सर्वविषयकमपीति विषयतासम्बन्धेन ज्ञानस्य वस्तु-

त्वव्यापकत्वाज्ज्ञानस्य चात्मना समं भेदाभेदस्य सम्बन्धत्वेनात्मनः कथञ्चिद्भिन्नत्वमिति ज्ञानात्मना सर्वार्थव्याप्तेर्घटनादगत्यात्माऽक्षः ।

पृ. २. पं. १७ तं–जीवं तम्प्रतिगतत्वञ्च तन्मात्राधीनतयोत्पत्तिमत्त्वमेव, न ह्येकं जनकमिति नियमादात्ममात्राधीनतयोत्पत्तिर्नावध्यादीनामपि, परमात्मातिरिक्तं चक्षुरादिकमवध्यादिज्ञानजनने आत्मनापेक्षते तज्ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमादिकन्त्वपेक्षत एवेत्येतावतैवात्ममात्राधीनत्वमत्र विवक्षितमिति बोध्यम् । अत्र इन्द्रियं प्रतिगतस्येन्द्रियजन्यत्वरूपस्य प्रत्यक्षपदव्युत्पत्तिनिमित्तस्य प्रत्यक्षलक्षणत्वे इन्द्रियाजन्येऽवध्यादिप्रत्यक्षेऽव्याप्तिः । आत्ममात्रम्प्रतिगतत्वस्य आत्ममात्राधीनतयोत्पत्तिमज्ज्ञानत्वरूपस्य तस्य प्रत्यक्षलक्षणत्वे इन्द्रियमपेक्ष्यात्मजन्ये मत्यादिप्रत्यक्षेऽव्याप्तिरित्याशङ्क्य प्रतिक्षिपति ।

पृ. २. पं. १८ न चेति–अस्य वाच्यमित्यनेनान्वयः ।

पृ. २. पं. १८ एवम्–अनन्तरोपदर्शितस्य व्युत्पत्तिनिमित्तस्य प्रत्यक्षलक्षणतयाऽऽश्रयणे ।

पृ. २. पं. १८ अवध्यादाविति–आदिपदान्मनःपर्यवकेवलयोरुपग्रहः । तेषु इन्द्रियाश्रितत्वलक्षणव्युत्पत्तिनिमित्तस्याभावात्प्रत्यक्षव्यपदेशो न भवेदित्यर्थः ।

पृ. २. पं. १८ मत्यादाविति–आदिपदात् श्रुतज्ञानस्य परिग्रहः, तयोरात्ममात्राधीनज्ञानत्वस्याभावात्तन्निमित्तकस्य प्रत्यक्षव्यपदेशस्याभावः स्यादित्यर्थः । यद्यपीन्द्रियमनिन्द्रियस्याप्युपलक्षकं तथा चेन्द्रियानिन्द्रियान्यतरजन्यत्वात्ममात्राश्रितत्वान्यतरवत्त्वस्य प्रत्यक्षलक्षणत्वे न कुत्रापि व्याप्तिस्तथापि स्पष्टं त्वलघुभूतं प्रत्यक्षपदप्रवृत्तिनिमित्तमेव प्रत्यक्षलक्षणं तत एव च मतिज्ञानादौ सर्वत्र प्रत्यक्षव्यपदेशोपपत्तिरित्याशयेन निषेधहेतुमाह ।

पृ. २. पं. १९ यत् इति–एतत्–अक्षाश्रितत्वम् ।

पृ. २. पं १९ व्युत्पत्तिनिमित्तमेवैतत्–प्रत्यक्षव्युत्पत्तिनिमित्तम्, न तु प्रत्यक्षपदप्रवृत्तिनिमित्तम्, तदर्थाधिगतये एवकारोपादानम्, किं तर्हि प्रत्यक्षपदप्रवृत्तिनिमित्तमित्याकाङ्क्षायामाह ।

पृ. २. पं. १९ **प्रवृत्तिनिमित्तं त्विति**–प्रवृत्तिनिमित्तत्वञ्च वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितिप्रकारत्वं, यथा घटपदस्य घटत्वं प्रवृत्तिनिमित्तम् । तत्र घटपदस्य वाच्यत्वमस्ति, घटपदस्य घटत्वविशिष्टघटव्यक्तिवाचकत्वे घटत्ववाचकत्वस्य सद्भावात् । घटपदवाच्यघटव्यक्तिवृत्तित्वमप्यस्ति तथा घटपदजन्यघटोपस्थितौ प्रकारत्वमप्यस्ति । तथा प्रत्यक्षपदस्य स्पष्टत्वं प्रवृत्तिनिमित्तम्, अर्थात् शक्यतावच्छेदकम् । तत्र स्पष्टताविशिष्टज्ञानवाचकस्य प्रत्यक्षपदस्य स्पष्टतावाचकत्वस्यापि भावेन तद्वाच्यत्वमपि विद्यते । प्रत्यक्षपदवाच्ये स्पष्टतावति ज्ञाने वृत्तित्वमपि समस्ति । एवञ्च स्पष्टतावत्त्वमेव प्रत्यक्षलक्षणं, तच्च ।

पृ. २. पं. २०. **एकार्थसमवायिना**–स्वाधिकरणवर्त्तिना **अनेन**–अक्षाश्रितत्वलक्षणव्युत्पत्तिनिमित्तेन ।

पृ. २. पं. २०. **उपलक्षितमिति**–ज्ञायमानम्, तथा च अक्षाश्रितत्वेन व्युत्पत्तिनिमित्तेन सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्त्याज्ञायमानं यत्स्पष्टत्वत्त्वं प्रत्यक्षपदप्रवृत्तिनिमित्तं तदेव प्रत्यक्षलक्षणम् । अक्षाश्रितत्वमिन्द्रियजन्यत्वपर्यवसितं व्युत्पत्तिनिमित्तमेव न प्रवृत्तिनिमित्तं, तस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वे चक्षुरादिजन्यज्ञानमेव प्रत्यक्षव्यपदेश्यं स्यात । न मानसादि, अन्यत्रापि च व्युत्पत्तिनिमित्तस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वन्नाभ्युपेयत एव, यथा गच्छतीति गौरितिव्युत्पत्त्या गमनक्रियाकर्तृत्वं गोपदव्युत्पत्तिनिमित्तमपि न गोपदप्रवृत्तिनिमित्तम् । गच्छत्यागच्छति च गवि गोशब्दप्रवृत्तेर्दर्शनेन समानाकारपरिणामलक्षणस्य गोत्वरूपतिर्यक्सामान्यस्यैव सर्वदा गवि वर्त्तमानस्य गोशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वादिति भावः । सकलप्रत्यक्षसाधारणं स्पष्टतास्वरूपं प्रकटयति ।

पृ. २. पं. २१. **स्पष्टता चेति**–अनुमानादिभ्य इत्यत्रादिपदादागमादीनां परोक्षप्रकाराणामुपग्रहः ।

पृ. २. पं. २१. **अतिरेकेण**–आधिक्येन प्रतिनियतवर्णसंस्थानपरिमाणादिमत्त्वेन, प्रत्यक्षे यथा विषयस्य नियतवर्णसंस्थानादिकमवभासते तथा नानुमानादौ विशेषावभासोऽस्तीति निरुक्तस्पष्टत्ववत्त्वं सर्वत्र प्रत्यक्षे वर्तत इति नाव्याप्त्यसम्भवौ अनुमानादावलक्ष्ये च नास्तीत्यतिव्याप्तिरपि नेत्याह ।

पृ. २. पं. २१. इत्यदोष इति–एतावता स्पष्टं प्रत्यक्षमिति फलितं, ततश्च तद्विपरीतं परोक्षमस्पष्टं ज्ञानमिति प्राप्तमेव । तत्रापि व्युत्पत्तिनिमित्तं समानाधिकरण्यप्रत्यासत्त्या प्रवृत्तिनिमित्तस्यास्पष्टत्ववत्त्वस्योपलक्षकमेव न तु तदेव लक्षणं यतस्तदिन्द्रियातिरिक्तजन्यज्ञानत्वम् । आत्मातिरिक्तकारणजन्यज्ञानत्वं वा भवेत् । प्रथमं मानसप्रत्यक्षेऽवध्यादौ चातिप्रसक्तं, द्वितीयमिन्द्रियजप्रत्यक्षेऽतिप्रसक्तं, तदन्यतरवत्त्वन्तु गुरुभूतमेव ततःपरोक्षपदप्रवृत्तिनिमित्तमस्पष्टतावत्त्वमेव परोक्षलक्षणं युक्तमित्याशयेन परोक्षपदव्युत्पत्तिनिवेदनपुरस्सरं तल्लक्षणमुपदर्शयति ।

पृ. २. पं. २२. अक्षेभ्य इति–अत्र अक्षपदेन चक्षुरादीन्द्रियं विवक्षितं तद्बहुत्वाद्बहुवचननिर्देशः ।

पृ. २. पं. २२. अक्षाद्वा–इति–अक्षादात्मनःव्यक्तयाभिन्नत्वेऽपि जात्यैकत्वादेकवचननिर्देशः । स्पष्टत्वं विशदत्वं तद्विपरीतमस्पष्टत्वमविशदत्वम् । तत्रानुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वमित्यत्र न कस्यापि विप्रतिपत्तिः । अनुमानादीत्यादिरूपेण तस्य गुरुभूतत्वेऽपि साक्षात्करोमीत्यनुभवसिद्धविषयताविशेषे निरूपकतासम्बन्धेन सकलप्रत्यक्षनियतस्पष्टत्वं तदन्यविषयताविशेष एव परोक्षं वह्न्यादिकमस्पष्टमनुभवामीत्यनुभवसिद्धाऽस्पष्टत्वं निरूपकतासंसर्गेण सकलपरोक्षगतमिति बोध्यम् । प्रथमत उद्दिष्टं सामान्यतोलक्षितं च प्रत्यक्षं विभजते ।

पृ. २. पं. २३ प्रत्यक्षं द्विविधमिति–सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षमपारमार्थिकम् । तथा चापारमार्थिकपारमार्थिकभेदेन प्रत्यक्षं द्विविधमित्यर्थः । संव्यवहारप्रयोजनकत्वात्तत्प्रत्यक्षतया व्यवह्रियते स्पष्टतया चोपचर्यते न तु तद्वस्तुगत्या प्रत्यक्षमक्षमात्मानम्प्रत्यगतत्वात्साक्षादात्मसम्पाद्यमेव प्रत्यक्षं तदेव च पारमार्थिकं तच्चावध्यादिकमेवेत्याशयवान् सांव्यवहारिकशब्दार्थोपदर्शनेन प्रथमभेदं स्पष्टयति ।

पृ. २. पं. २४. समीचीन इति–अयश्च समित्युपसर्गस्यार्थः । समीचीनत्वं किमित्यपेक्षायामाह ।

पृ. २. पं. २४. बाधारहित इति–व्यवहारस्वरूपप्रकटनम् ।

पृ. २. पं. २४. **प्रवृत्तीत्यादिना**-इष्टसाधनघटादिवस्तुविषयकचाक्षुषादिप्रत्यक्षेण अबाधितघटाद्यानयनादिगोचरप्रवृत्तिलक्षणव्यवहारो जायते, अनिष्टसाधनसर्पादिगोचरचाक्षुषादिप्रत्यक्षेणाबाधितसर्पादिनिकटस्थानगमनादिविषयकनिवृत्तिलक्षणव्यवहारो जायते । कदाचिच्चेष्टानिष्टोपेक्षणीयवस्तुविषयकचाक्षुषादिना परप्रतिबोधनाय तत्प्रतिपादकवचनोद्गारलक्षणव्यवहार इतिभेदेनोपादानम् ।

पृ. २. पं. २५. **तत्प्रयोजनकम्**-निरुक्तसंव्यवहारप्रयोजनकम्, उपेक्षणीयवस्तुविषयकप्रत्यक्षे सति तद्वस्तुविषयिणी भवत्युपेक्षा परं सा न व्यवहार इति तदकथनम् । संव्यवहारप्रयोजनकप्रत्यक्षत्वरूपव्युत्पत्तिनिमित्तस्य सांव्यवहारिकप्रत्यक्षलक्षणत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः । यद्यपि कस्यचित्सहकारिणो वैकल्यात्केनचिच्चाक्षुषादिज्ञानेन प्रवृत्त्यादिलक्षणः संव्यवहारो न भवति, तथापि तादृशसंव्यवहारानुकूलशक्तिमत्त्वलक्षणतज्जनकतावच्छेदकशालित्वेन तज्जननयोग्यत्वमस्त्येवेति न तत्राव्याप्तिः । व्यावहारिकोऽपि घटादिःपारमार्थिको भवत्येवेति सांव्यवहारिकत्वे पारमार्थिकत्वविरोधाभावात्सामान्यधर्मव्याप्यपरस्परविरुद्धनानाधर्मेण धर्मिप्रतिपादनरूपविभागः प्रत्यक्षस्य सांव्यवहारिकत्वपारमार्थिकत्वाभ्यामनुपपन्न इत्यत आह ।

पृ. २. पं. २५. **अपारमार्थिकमित्यर्थ इति**-तथा च सांव्यवहारिकत्वमपारमार्थिकत्वमेव तच्च पारमार्थिकत्वविरुद्धमिति तद्रूपेण विभागो नानुपपन्न इति भावः । यच्चापारमार्थिकं प्रत्यक्षं तद्वस्तुतः परोक्षमेव, परोक्षत्वापरोक्षत्वयोःपरस्परविरुद्धत्वेनैकस्य यत्रापारमार्थिकत्वं स्वासत्त्वनिबन्धनं तत्र द्वितीयस्य स्वसत्त्वनिबन्धनं पारमार्थिकत्वं स्यादतोऽस्मदादिप्रत्यक्षस्य पारमार्थिकपरोक्षत्वमपारमार्थिकप्रत्यक्षत्वप्रयोजकमुपदर्शयति ।

पृ. ३. पं. १. **तद्धीति**—हि यतः, तत् अस्मदादिचाक्षुषादिप्रत्यक्षम् ।

पृ. ३. पं. १. **इन्द्रियेति**-इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यां चक्षुरादिमनोभ्यां व्यवहितो य आत्मव्यापारस्तत्सम्पाद्यत्वात्तत्प्रयोज्यत्वात्, आत्मा इन्द्रियानिन्द्रिययोःप्रेरणे व्याप्रियते ताभ्याश्चेन्द्रियजन्यं मनोजन्यश्च ज्ञानं जायते इति परम्परयाऽऽत्मव्यापारजन्यत्वं तत्र न तु साक्षादात्मव्यापारजन्यत्वमलक्षणपारमार्थिकप्रत्यक्षत्वम् । किन्तु व्यवहितात्मव्यापारप्रयोज्यत्वेन परमार्थतः परोक्षत्वमेवेति

निर्गलितोऽर्थः। यत्र व्यवहितात्मव्यापारप्रयोज्यत्वं तत्र परोक्षत्वमेव, यथा दृश्यते धूमरूपलिङ्गज्ञानेन जनितं वह्निरूपलिङ्गिज्ञानम्। तत्र धूमज्ञानेन वह्निज्ञाने व्यवहितत्वमात्मव्यापारस्य, तथा इन्द्रियानिन्द्रियजज्ञानेऽपि तद्व्यापारेणात्मव्यापारस्य व्यवहितत्वमविशिष्टमतो धूमज्ञानजन्यवह्निज्ञानस्य यथा परोक्षत्वं तथेन्द्रियानिन्द्रियजज्ञानस्यापि परोक्षत्वमेव परमार्थतः प्रतिपत्तव्यमित्याह।

पृ. ३. पं. २. धूमादीति–यत्संशयविपर्ययानध्यवसायजातीयं तत्परोक्षम्, यथाऽनुमानाभासः इन्द्रियानिन्द्रियजज्ञानमपि संशयादिजातीयमिति तदपि परोक्षम्। एवं यत्सङ्केतस्मरणादिपूर्वकनिश्चयस्वभावं तत्परोक्षं यथा सदनुमानम्। सङ्केतस्मरणादिपूर्वकनिश्चयस्वभावश्चेन्द्रियानिन्द्रियजज्ञानमिति तत्परोक्षमित्यनुमानाभ्यामिन्द्रियानिन्द्रियजज्ञानस्य परोक्षत्वं सिद्ध्यतीत्याह।

पृ. ३. पं. ३. किञ्चेति–अत्र यदिन्द्रियमनोनिमित्तं ज्ञानं तत्परोक्षम्, संशयविपर्ययानध्यवसायानां तत्सम्भवात्, इन्द्रियमनोनिमित्तासिद्धानैकान्तिकविरुद्धानुमानाभासवदिति प्रथमः प्रयोगः, यदिन्द्रियमनोनिमित्तं तत्परोक्षं निश्चयसम्भवात् धूमादेरन्याद्यनुमानवदिति द्वितीयः प्रयोगः, इत्येवं प्रयोगरचनाऽन्यत्रोपलभ्यते, तत्र यथा यो धूमवान् स वह्निमानित्युदाहरणवाक्ये धूमस्य हेतुत्वं वह्नेः साध्यत्वं प्रतीयते तथा यदिन्द्रियमनोनिमित्तं तत्परोक्षमिति प्रयोगेऽपि इन्द्रियमनोनिमित्तत्वस्य हेतुत्वं परोक्षत्वस्य साध्यत्वं भवेत्, एवं सति संशयविपर्ययानध्यवसायानां तत्र सम्भवादिति प्रथमप्रयोगे तत्र निश्चयसम्भवादिति द्वितीयप्रयोगे च पञ्चम्यन्तं वाक्यं न हेत्ववयवरूपतया सङ्गतम्भवेत्, किन्त्विन्द्रियमनोनिमित्तत्वमस्तु परोक्षत्वं मास्त्विति व्यभिचारशङ्कायां तन्निवर्त्तकतर्कोपदर्शनार्थमेतत्, परोक्षज्ञाने हि अस्पष्टस्वरूपे बहुतरविशेषानवगाहने एककोटिव्याप्यदर्शनस्य एकप्रकारसाधकस्य प्रकारान्तरबाधकस्य संशयविरोधिनोऽभावात्संशयस्य विपरीतैककोटिभासकदोषस्यापि सम्भवे न तद्बलाद्विपर्ययस्यायथावदर्थप्रतिभासतोऽनध्यवसायस्याप्यस्ति संभवः, प्रत्यक्षे तु पारमार्थिके यथावस्थितार्थावभासके बहुतरविशेषावभासकत्वेन विशदस्वरूपे संशयविरोधिनो विशेषदर्शनस्यावश्यम्भावेन न संशयस्य स्पष्टप्रतिभासत्वादेव दोषासंस्पृष्टत्वेन न विपर्ययस्य तत एव च नानध्यवसायस्य सम्भव इति वस्तुस्थितौ इन्द्रियानिन्द्रियजं ज्ञानं यदि प्रत्यक्षं स्यात्संभवत्संशयादिकं न स्यात्, अवध्यादिवत्, परोक्षत्वे

तु असिद्धानैकान्तिकविरुद्धानुमानाभासवत्तत्त्वं भवेदपीत्येवंविधस्य तथेन्द्रियानिन्द्रियजस्य यदि परोक्षत्वन्न भवेत्तदा तत्र सङ्केतस्मरणादिपूर्वकनिश्चयसम्भवोऽपि न सम्भवेत्। प्रत्यक्षेऽवध्यादिनिश्चयस्य सङ्केतस्मरणपूर्वकस्यैव भावादित्येवंरूपस्य च तर्कस्य प्रदर्शनार्थं पञ्चम्यन्तद्वयं बोध्यमिति। वस्तुतःपरोक्षरूपतया व्यवस्थापितं सांव्यवहारिकप्रत्यक्षं विभजते।

पृ. ३. पं. ७. एतच्चेति–सांव्यवहारिकप्रत्यक्षञ्चेत्यर्थः।

पृ. ३. पं. ७ तत्र–इन्द्रियजानिन्द्रियजयोर्मध्ये, चक्षुरादीत्यादिपदात् त्वक्–घ्राण–रसन–श्रोत्राणामुपग्रहः। तथा च चाक्षुषस्पार्शनघ्राणजरासनश्रावणभेदेन पञ्चविधमिन्द्रियजप्रत्यक्षमित्यर्थः। मनसोऽनिन्द्रियतया राद्धान्तेऽभ्युपगमात्तज्जन्यं मानसं प्रत्यक्षमनिन्द्रियजमित्याह।

पृ. ३. पं. ७. अनिन्द्रियजं मनोजन्मेति–मनसोऽनिन्द्रियाज्जन्म उत्पत्तिर्यस्य ज्ञानस्य तन्मनोजन्मेत्यर्थः। चक्षुरादिजन्यप्रत्यक्षेऽपि मनसःकारणत्वान्मनोजन्यप्रत्यक्षत्वस्यानिन्द्रियजलक्षणस्य तत्रातिव्याप्तिरित्याह।

पृ. ३. पं. ८. यद्यपीति–चक्षुरादिजन्यज्ञाने यन्मनसः कारणत्वं तन्मानसप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतारूपन्न, किन्त्विन्द्रियजानिन्द्रियजज्ञानसाधारणसांव्यवहारिकप्रत्यक्षत्वपारमार्थिकपरोक्षत्वादिलक्षणो यदिन्द्रियजज्ञानत्वादिव्यापको धर्मस्तद्धर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितमनस्त्वावच्छिन्नकारणतारूपंतच्च अनिन्द्रियजज्ञानलक्षणे न प्रविष्टं, प्रविष्टन्तु मानसप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितं यदनिन्द्रियविधया मनोनिष्ठकारणत्वं तन्निरूपितकार्यत्वन्न चक्षुरादिजन्यज्ञान इति न तत्रातिव्याप्तिरित्याह।

पृ. ३. पं. ९. तथापीति–इन्द्रियजज्ञाने साधारणकारणतयामनसो व्यापारसद्भावेऽपीत्यर्थः।

पृ. ३. पं. १०. तत्र–इन्द्रियजज्ञाने इन्द्रियस्यैवेत्येवकारेण मनसो व्यवच्छेदः, इन्द्रियजानिन्द्रियजयोरवान्तरभेदमुपदर्शयति।

पृ. ३. पं. १०. द्वयमपीदमिति–इन्द्रियजानिन्द्रियजोभयमपि ज्ञानमित्यर्थः।

पृ. ३. पं. १०. **मतीति**–इन्द्रियजज्ञानमपि मतिरूपं श्रुतरूपञ्चेति द्विविधमित्यर्थः, इन्द्रियजमतिज्ञानमनिन्द्रियजमतिज्ञानञ्च लक्षयति ।

पृ. ३. पं. १०. **तत्रेति**—इन्द्रियजानिन्द्रियजमतिज्ञानश्रुतज्ञानयोर्मध्य इत्यर्थः ।

पृ. ३. पं. १०. **इन्द्रियेति**–इन्द्रियनिमित्तकं श्रुताननुसारिज्ञानमिन्द्रियजमतिज्ञानम्, मनोनिमित्तकं श्रुताननुसारिज्ञानमनिन्द्रियजमतिज्ञानमित्यर्थः ।

पृ. ३. पं. ११. **श्रुतानुसारि चेति**–इन्द्रियमनोनिमित्तमित्यस्यात्रापि सम्बन्धः, तथा चेन्द्रियनिमित्तकं श्रुतानुसारिज्ञानमिन्द्रियजश्रुतज्ञानम्, मनोनिमित्तकं श्रुतानुसारिज्ञानमनिन्द्रियजश्रुतज्ञानमित्यर्थः, श्रुतानुसारित्वस्वरूपावगतौ श्रुतानुसारितत्त्वरहितत्वं श्रुताननुसारित्वं सुखेन प्रतिपत्तुं शक्यत इत्यतः श्रुतानुसारित्वस्वरूपमेवोपदर्शयति ।

पृ. ३. पं. १२. **श्रुतानुसारित्वं चेति**–श्रूयत इति श्रुतं शब्दः, स च शाब्दबोधलक्षणभावश्रुतकारणत्वाद्द्रव्यश्रुतं, स च सङ्केतविषयपरोपदेशरूपो घटपदवाच्यो घट इत्यादि द्वादशाङ्ग्यादिग्रन्थरूपश्च, तयोरन्यतरमाश्रित्य घटो घट इत्याद्यन्तर्जल्पाकारग्राहित्वम्, अर्थात् घटादिशब्दं वाचकत्वेन घटाद्यर्थं वाच्यत्वेन संयोज्य घटो घट इत्यादिरूपान्तःशब्दोल्लेखसमन्विताकारावगाहित्वं तदेव इन्द्रियनिमित्तज्ञाने अनिन्द्रियनिमित्तज्ञाने श्रुतानुसारित्वमित्याह ।

पृ. ३. पं. १२. **सङ्केतेति**–अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इति, इदम्पदममुमर्थं बोधयत्विति वा इच्छा संकेतः, यथा घटपदाद्घटरूपोऽर्थो बोद्धव्य इत्याकारिका घटपदं घटरूपार्थं बोधयत्वित्याकारिका वेच्छा सङ्केतः, स च शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकभावाभिन्नस्वाभाविकस्सम्बन्धः, यद्बलाच्छब्दोऽर्थं प्रत्याययति तस्य शब्दोत्पत्तिकाले शब्दोत्पादकसामग्रीतोऽर्थोत्पत्तिकालेऽर्थोत्पादकसामग्रीतः कथञ्चिच्छब्दार्थोभयाभिन्नस्वभावस्योत्पादेन यावच्छब्दार्थकालं भावेऽपि अनभिव्यक्तिदशायां नार्थप्रत्ययोत्पादकत्वमिति तदभिव्यक्तये स्वीक्रियते । सङ्केतेन योविषयः प्रतिपाद्येत स सङ्केतविषयः, सङ्केतविषयश्चासौ परोपदेश आप्तोपदेशश्च स सङ्केतविषयपरोपदेशस्तम्, अस्यानुसृत्येत्यनेनान्वयः, उपदेशश्च प्रवृत्तिनिमित्त-

सामानाधिकरण्येन वाच्यताबोधकं वाक्यम् । यथा कोकिलःपिकपदवाच्य इति, अतिदेशस्तु प्रवृत्तिनिमित्तोपलक्षकधर्मसामानाधिकरण्येन वाच्यताबोधकं वाक्यं, यथा गोसदृशो गवयपदवाच्य इति । श्रुतग्रन्थं तत्तच्छब्दस्य तत्तदर्थवाचकत्वादिप्रतिपादकमागमम्, तदनुसरणं च यथोपदेशः यथा वा श्रुतग्रन्थः येन रूपेणार्थे येन रूपेण शब्दस्य वाच्यवाचकभावमवबोधयति तथैव प्रमाता पुरुषः शब्दार्थौ वाच्यवाचकभावेन संयोजयति । अन्यथासंयोजने तदनुसरणं न भवेदिति बोध्यम् । तथा च चक्षुरादिना वाच्यवाचकभावसंयोजनेन घटो घटम् इत्याद्यन्तशब्दोल्लेखान्वितघटादिज्ञानं तदिन्द्रियजश्रुतं, मनसा च तथाविधं ज्ञानमनिन्द्रियजश्रुतं, यच्चोक्तदिशा वाच्यवाचकभावसंयोजनमन्तरेणैव घटाद्यर्थज्ञानमिन्द्रियेण तच्छ्रुताननुसारित्वादिन्द्रियजमतिज्ञानम्, ईदृशमेव च मनसा जातमनिन्द्रियजमतिज्ञानमिति भावः । ननूक्तरीत्या श्रुतानुसारित्वनिर्वचने शब्दोल्लेखसहितं श्रुतज्ञानम्, शब्दोल्लेखविनिर्मुक्तं मतिज्ञानमिति प्राप्तं, तथा च ज्ञानोपादानत्वेन ज्ञानत्वेनोपचरिते अव्यक्तज्ञानस्वरूपत्वाद्वास्तविकज्ञानस्वरूपे वा व्यञ्जनावग्रहे स्वरूपनामादिकल्पनारहितसामान्यग्रहणरूपेऽर्थावग्रहे च शब्दोल्लेखविनिर्मुक्तत्वान्मतिज्ञानत्वस्य सम्भवेऽपि मतिज्ञानविशेषतया प्रसिद्धे ईहापायादौ शब्दोल्लेखसहितस्यैव भावेन तद्विनिर्मुक्तत्वस्याभावान्मतिज्ञानलक्षणस्य तस्य तत्राव्याप्तिः । श्रुतलक्षणस्य शब्दोल्लेखसहितत्वस्य तु तत्र भावात्तस्यातिव्याप्तिरपि । एवमङ्गानङ्गप्रविष्टेषु श्रुतभेदेष्ववग्रहादिरूपताया अपि भावान्मतिज्ञानलक्षणस्यातिव्याप्तिरित्याशङ्कते ।

पृ. ३. पं. १४. नन्वेवमिति–एवं शब्दोल्लेखसहितत्वस्य श्रुतलक्षणत्वे शब्दोल्लेखरहितत्वस्य च मतिलक्षणत्वे आश्रीयमाणे ।

पृ. ३. पं. १५. तेषाम्–ईहादीनाम्, श्रुतानुसारिण एव साभिलापकज्ञानस्य श्रुतत्वेनेहादीनां श्रुताननुसारिणां साभिलापानामपि न श्रुतत्वम् । सङ्केतकाले एतच्छब्दवाच्यतया गुरुणाऽऽप्तेन केनचिद्वोपदिष्टमेतदिति ग्रहणे सति तदानीमवग्रहादीनां श्रुतानुसारित्वेन सिद्धान्तोक्तत्वेऽपि व्यवहारकाले एतच्छब्दवाच्यत्वेनैतन्मया पूर्वमवगतमित्येवंरूपसङ्केताननुसरणेऽपि अमुकस्मिन्ग्रन्थे एतदित्थमभिहितमित्येवंरूपश्रुतग्रन्थाननुसरणेऽप्यभ्यासपाटववशाद्विकल्पपरम्परापूर्वकविविधवचनप्रवृत्तित ईहापायधारणानां साभिलापानां सम्भवेन न तेषां व्यवहारकाले सङ्केतविषयपरोपदेशं श्रुतग्रन्थं वाऽनुसृत्य वाच्यवाचकभावसंयोजनरपु-

स्मरान्तःशब्दोल्लेखान्वितार्थावगाहित्वमिति न तत्र श्रुतलक्षणस्यातिव्याप्तिर्न वा तद्विरहितत्वलक्षणमतिलक्षणस्याव्याप्तिरपि; अङ्गानङ्गप्रविष्टादिश्रुतभेदेषु तु पूर्वं शब्दाद्यवग्रहणकालेऽवग्रहादयो जायमानाःश्रुताननुसारित्वान्मतिज्ञानविशेषा एव, यस्तु तेषां श्रुतानुसारी ज्ञानविशेषः स श्रुतज्ञानमेव । इत्थञ्च मतिविशेषेष्वीहादिषु श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतज्ञानत्वाभावान्नोक्तमतिश्रुतलक्षणयोरसङ्कीर्णताऽपीति समाधत्ते ।

पृ. ३. पं. १६. **न; श्रुतनिश्रितानामप्यवग्रहादीनां सङ्केतकाल** इति–सङ्केतविषयपरोपदेशं श्रुतग्रन्थं वाऽनुसृत्य शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकभावेन प्रकारविशेष्यभावेनावबोधनसमये ।

पृ. ३. पं. १७. **व्यवहारकाल इति**–एतच्छब्दवाच्यत्वेनैतत्पूर्वं मयाऽवगतमित्येवंरूपसङ्केतानुसरणस्यामुकस्मिन्ग्रन्थे एतदित्थमभिहितमित्येवंरूपश्रुतग्रन्थानुसरणस्य चाभावेऽपि "घटमानय" इति वाक्यादितोऽभ्यासपाटवादिवशाद् घटादिपदोल्लिखितघटाद्यर्थविषयकावबोधलक्षणघटाद्यानयनादिविषयकप्रवृत्त्याद्यात्मकव्यवहारोन्मुखावबोधसमय इत्यर्थः । श्रुतनिश्रितानामप्यवग्रहादीनां व्यवहारकाले कथं श्रुताननुसारित्वं येन तेषां मतिज्ञानत्वमभ्युपगन्तुमुचितमित्यपेक्षायामाह ।

पृ. ३. पं. १७. **अभ्यासपाटववशेनेति**–अनभ्यासदशायामयमर्थ एतच्छब्दस्य वाच्य इति तावन्नावधारयति यावदस्य शब्दस्यास्मिन्नर्थे सङ्केतेऽमुकेन पुंसा कृतेऽयमर्थोऽस्य शब्दस्य वाच्य एतत्पदमस्यार्थस्य वाचकमित्येवं न स्मरति, ततश्चानभ्यासदशावन्न व्यवहारकालेऽपि सङ्केतानुसरणस्यावश्यकत्वं तदानीं वाच्यवाचकभावसंयोजनलब्धार्थावगाहनविशेषस्वरूपाणामवग्रहादीनां श्रुतानुसारिणां श्रुतत्वेऽपि अभ्यासदशायां शब्दश्रवणतत्तद्वाच्यवाचकभावस्य झटित्युद्बुद्धसंस्कारवशात्स्मरणे तत्तच्छब्दवाच्यार्थावग्रहादेरुक्तसङ्केतानुसरणमन्तरेणापि भावाच्छब्दाश्रवणेप्यर्थस्येन्द्रियादिसाम्मुख्यादिलक्षणेन्द्रियसन्निकृष्टत्वे तद्वाचकशब्दस्योद्बुद्धसंस्कारतः स्मरणे तत्संसृष्टार्थावग्रहादेश्च भावात्तस्य मतिज्ञानत्वमेवेति भावः ।

पृ. ३. पं. १९. **अङ्गोपाङ्गादाविति**–अङ्गोपाङ्गादिश्रुतविशेषे तु पूर्वं

शब्दादिस्वरूपावग्रहणं, शब्दादिस्वरूपस्यैवेहापायधारणाः, ते च श्रुताननुसारित्वान्मतिज्ञानविशेषा एवेति। तदनन्तरन्तु यत्तत्पदार्थसङ्केतानुस्मरणपुरस्सरं पदार्थवाक्यार्थमहावाक्यार्थैदम्पर्यार्थपरिज्ञानं तत्सर्वं श्रुतानुसारित्वाद्भवति श्रुतमित्याह।

पृ. ३. पं. २०. यस्तु इति–तत्र अङ्गोपाङ्गादौ, तदयमत्र निष्कर्षः। साभिलापं सच्छ्रुतानुसार्येव यज्ज्ञानं तत् श्रुतज्ञानम्। यत्त्वभ्यासपाटवादिवशाच्छ्रुतानुसरणमन्तरेणापीहादिकं साभिलापं तच्छ्रुताननुसारित्वान्मतिज्ञानम्, यच्चावग्रहज्ञानं साभिलापमपि न भवति तदपि मतिज्ञानम्। तदुभयमिन्द्रियजमनिन्द्रियजं सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमिति। ननु सिद्धान्ते ज्ञानं पञ्चविधमाम्नातं–मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानम्, अवधिज्ञानं, मनःपर्यवज्ञानं, केवलज्ञानञ्चेति। अज्ञानमपि त्रिधा–मत्यज्ञानं, श्रुतज्ञानं, विभङ्गज्ञानमिति। मतिविपर्ययो मत्यज्ञानम्, श्रुतविपर्ययः श्रुताज्ञानम् अवधिविपर्ययो विभङ्गज्ञानम्–इति एतानि त्रीणि मिथ्यादृष्टेर्भवन्ति। एवञ्च ज्ञानमात्रस्य मत्यादिपञ्चस्वेवान्तर्भावो वाच्य इति वस्तुस्थितौ प्रत्यक्षस्य यस्सांव्यवहारिकभेदः तत्र मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोः समावेशः, यश्च प्रत्यक्षस्य पारमार्थिकभेदः तत्रावधिमनःपर्यवकेवलज्ञानानां समावेशः। एवञ्च प्रमाणस्य यः प्रथमो भेदः प्रत्यक्षात्मा तत्रैव ज्ञानाशेषभेदादस्य परिसमाप्तिरिति प्रमाणस्य द्वितीयभेदः परोक्षाख्यः, पञ्चविधज्ञानस्वरूपातिक्रान्तोऽलीकतामेवाकलयतीति चेत् मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य बहवो विशेषास्स्वस्वावरणक्षयोपशमविशेषप्रभवा भवन्ति, तत्र ये इन्द्रियानिन्द्रियलक्षणसहकारिविशेषसहकृतस्वावरणक्षयविशेषसमुत्थास्ते परोक्षस्वभावा अपि सांव्यवहारिकप्रत्यक्षव्यपदेशमासादयन्तः प्रत्यक्षस्य प्रथमभेदेऽन्तर्भवन्ति, तत्रान्तर्भूतश्च मतिज्ञानविशेषोऽवग्रहेहापायधारणाभेदाच्चातुर्विध्यमञ्चति, एवं श्रुतविशेषोऽपि लब्ध्यक्षरादिरूप इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तस्तत्रान्तर्भवति। अन्ये च स्मरणादयःश्रुताननुसारिणो मतिज्ञानविकल्पाः श्रुतानुसारिणश्च श्रुतज्ञानविकल्पाःसांव्यवहारिकप्रत्यक्षव्यपदेशानर्हाः, ते परोक्षप्रमाणतामेवात्मनि भजन्ते इति प्रमाणस्य द्वितीयभेदः परोक्षाख्यो नानुपपन्न इति बोध्यम्। इन्द्रियजानिन्द्रियजभेदेन द्विविधं यन्मतिज्ञानं प्राक् प्रस्तुतं तस्यावग्रहादिभेदेन चातुर्विध्यमुपदर्शयति।

पृ. ३. पं. २२. मतिज्ञानमिति–विशेषानवगाहित्वमेव ज्ञाने अपकृष्टत्वं,

तदेव चेहादितोऽवग्रहे विशेष इत्यभिसन्धानेनावग्रहं निर्वक्ति ।

पृ. ३. पं. २२. अवकृष्ट इति-यद्यपि सामान्यमात्रावगाहित्वलक्षणापकृष्टत्वमप्यवकृष्टत्वं वक्तुं शक्यते, तथापि तस्य सामान्येतरानवगाहित्वे सति सामान्यावगाहित्वरूपतया तत्र सत्यन्तमात्रस्य व्यञ्जनावग्रहस्य ज्ञानोपादानत्वेनोपचरितज्ञानत्वपक्षेऽपि तत्र सम्भवेन लाघवात्तस्यैवापकृष्टत्वरूपत्वमत्र बोध्यम्। व्यञ्जनावग्रहार्थावग्रहभेदेन तस्य द्वैविध्यं प्रकाश्यति ।

पृ. ३. पं. २३. स द्विविध इति-सः अवग्रहः, व्यञ्जनावग्रहपदेन किमुच्यत इत्यपेक्षायां योगलभ्य एवार्थोऽस्य विवक्षितः, योगेन च उपकरणेन्द्रियतद्विषययोस्सम्बन्धोऽर्थावग्रहाद्व्यवहितपूर्वकालीनः व्यञ्जनावग्रहशब्देन प्रतिपाद्यत इति स एव व्यञ्जनावग्रह इत्याह ।

पृ. ३. पं. २४ अर्थः-इति शब्दादिपरिणतद्रव्यनिकुरुम्बलक्षणो विषयः ।

पृ. ३. पं. २४. अनेन-अन्तर्निर्वृत्तीन्द्रियाणां शक्तिविशेषलक्षणेनोपकरणेन्द्रियेण ।

पृ. ३. पं. २४. प्रकटीक्रियते-स्पष्टं ज्ञायते ।

पृ. ३. पं. २४. इति-एवं स्वरूपव्युत्पत्या ।

पृ. ३. पं २४. व्यञ्जनम्-व्यञ्जनपदप्रतिपाद्यम्, अस्योपकरणेन्द्रियमित्यनेनान्वयः, शब्दादिविषयपरिच्छेदहेतुशक्तिविशेषलक्षणमित्येतदुपकरणेन्द्रियस्वरूपावगतये शक्तिर्निराश्रया न सम्भवतीति तदाश्रयावगतये ।

पृ. ३. पं. २५. अन्तर्निर्वृत्तीन्द्रियाणामिति-एतत्स्वरूपपरिचयायोक्तं ।

पृ. ३. पं. २४. कदम्बपुष्पगोलकादिरूपाणामिति-व्यज्यते प्रकटीक्रियतेऽर्थोऽनेनेति करणव्युत्पत्या व्यञ्जनमुपकरणेन्द्रियम्, व्यज्यते प्रकटीक्रियत इति कर्मव्युत्पत्त्या व्यञ्जनमर्थोऽपीत्याशयेनाह ।

पृ. ३. पं. २६. शब्दादिपरिणतद्रव्यनिकुरुम्बमिति-शब्दादीत्या-

दिशब्देन रसगन्धस्पर्शानां ग्रहणं न तु चक्षुर्मनोविषयस्य रूपादेर्ग्रहणं तयोरप्राप्यकारित्वेन व्यञ्जनावग्रहाभावात्, शब्दादिरूपेण परिणतानि द्रव्याणि भाषावर्गणादीनि तेषां निकुरम्बम् अन्यतमम्; निकुरम्बशब्दस्य समुदायवाचकत्वेऽपि तत्समुदायस्य न कस्यचिदिन्द्रियस्य विषयत्वमिति लक्षणाऽऽश्रीयते, अथवैकैकस्यापि समुदायरूपत्वमनेकप्रचितत्वेन सुसङ्गतमेवेति लक्षणानाश्रयणीयेति ।

पृ. ३. पं. २७. तदुभयसम्बन्धश्च–इन्द्रियार्थोभयसम्बन्धश्च, चकाराद्यद्यपि व्यञ्जनं सम्बध्यते, अर्थस्य प्रकटीकरणे इन्द्रियार्थसम्बन्धस्यापि कारणत्वेनासाधारणकारणत्वलक्षणकरणत्वस्य तत्रापि भावतः करणव्युत्पत्त्या व्यञ्जनपदस्य तत्रापि प्रवृत्तिसम्भवात् तथापि व्यञ्जनपदेनैव तदुभयसम्बन्धस्यापि ग्रहणेऽवग्रहपदेन ततोऽन्यदेव ज्ञानं वक्तव्यं स्यादिति । अज्ञानरूपस्येन्द्रियार्थसम्बन्धस्य व्यञ्जनावग्रहस्याप्राप्त्या "अथाज्ञानमयम्" इत्युक्तशङ्कानुत्थानं स्यादतो व्यञ्जनावग्रह इत्यत्र शेषो बोध्यः । तथा च तदुभयसम्बन्धः पुनर्व्यञ्जनावग्रहो भवतीत्यर्थः । करणव्युत्पत्त्या व्यञ्जनपदेनेन्द्रियस्य कर्मव्युत्पत्त्याऽर्थस्यावबोधेऽपि व्यञ्जनावग्रहशब्देन कथं तदुभयसम्बन्धलाभ इत्यपेक्षायामाह ।

पृ ३. पं. २७ तत इति–व्यञ्जनावग्रहशब्देन इन्द्रियार्थोभयसम्बन्धस्य विवक्षितत्वत इत्यर्थः ।

पृ. ३. पं. २७ व्यञ्जनेन–इन्द्रियेण ।

पृ. ३. पं. २७ व्यञ्जनस्य-शब्दाद्यर्थस्य ।

पृ. ३. पं. २७ अवग्रहः-सम्बन्धः, अथवा इन्द्रियार्थसम्बन्धोऽपि चकाराद्व्यञ्जनतयैव परिगृह्यते । शेषश्च नाद्रियते । इत्थं सति व्यञ्जनावग्रहपदेन ज्ञानविशेषस्य कथं लाभ इत्यपेक्षायामाह ।

पृ. ३. पं. २७ तत इति–इन्द्रियार्थतदुभयसम्बन्धानां व्यञ्जनत्वत इत्यर्थः।

पृ. ३. पं. २७ व्यञ्जनेन–इन्द्रियेण इन्द्रियार्थसम्बन्धेन च ।

पृ. ३. पं. २७ व्यञ्जनस्य–अर्थस्य, पूर्वं सहार्थे तृतीया, इदानीं करणे, तथा च पूर्वं प्रतियोगित्वानुयोगित्वान्यतरसम्बन्धार्था षष्ठी, इदानीं विषयविषयिभावलक्षणसम्बन्धार्था सा ।

पृ. ३. पं. २७ अवग्रहोऽव्यक्तज्ञानम्, तेनार्थावग्रहाद्भेदः, अर्थविषयकत्वभावाभावाभ्यामव्यक्तत्वव्यक्तत्वाभ्यां विशेषात्। यद्यपि नैश्चयिकार्थावग्रहस्याव्यक्तत्वमेव तथाप्यस्य ज्ञानत्वाभ्युपगमपक्षे एतदपेक्षया तस्य व्यक्तत्वस्याप्युररीकरणीयत्वादिति बोध्यम्। ननु इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धकालेऽर्थावग्रहपूर्ववर्तिनि ज्ञानस्यानुपलम्भाद्व्यञ्जनावग्रहोऽर्थेन्द्रियसन्निकर्षरूप एव स्यात्स च कथं ज्ञानरूपस्य मतिज्ञानविशेषावग्रहस्य विशेषो भवेदित्याशङ्कते।

पृ. ३. पं. २८ अथेति–अयम्–व्यञ्जनावग्रहः, अबधिरादिश्रोत्रशब्दादिसम्बन्धस्य व्यञ्जनावग्रहत्वपक्षे तस्यैव तद्ज्ञानत्वसाधने दृष्टान्तता न युक्तेत्यत आह।

पृ. ४. पं. १ बधिरादीनामिति–बधिरादीनां श्रोत्रेन्द्रियादिलक्षणोपकरणेन्द्रियशब्दादिस्वरूपार्थसन्निकर्षकाले किमपि ज्ञानं नानुभूयते, अननुभूयमानत्वाच्च तन्नास्तीति न तत्र व्यञ्जनावग्रह इष्यते। उत्तरकालेऽर्थावग्रहाभावेन तत्कल्पनासम्भवात्, तथा प्रकृतेऽबधिरानां श्रोत्रादीन्द्रियशब्दादिविषयसन्निकर्षकाले, न किमपि ज्ञानमनुभूयते। अननुभूयमानत्वात्तदपि नास्ति, यश्च तदानीमस्तीन्द्रियार्थसन्निकर्षः सोऽज्ञानत्वादेव व्यञ्जनावग्रहो न भवितुमर्हतीति शङ्कितुरभिप्रायः। यद्यपि तदानीं ज्ञानन्नोपलभ्यते तथाप्यर्थावग्रहाद्युत्पादनार्थमिन्द्रियार्थसन्निकर्ष उपादीयते, तदभावे श्रोत्रादिजन्यार्थावग्रहादेरेवाभावादतो ज्ञानोपादानत्वाज्ज्ञानार्थमुपादीयमानत्वादिन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानत्वमुपचर्यते। बधिरादीनाञ्च नोत्तरकालं ज्ञानमुत्पद्यत इति तत्र न ज्ञानत्वोपचार इति उपचरितज्ञानत्वस्वभावोऽज्ञानात्मापीन्द्रियार्थसन्निकर्षो व्यञ्जनावग्रह इति समाधत्ते।

पृ. ४. पं. २. ज्ञानोपादानत्वेनेति–ज्ञानार्थमुपादानं यस्य तज्ज्ञानोपादानं तत्त्वेन ज्ञानार्थमुपादीयमानत्वेन ज्ञाननिमित्तत्वेनेति यावत्, तेनाज्ञानस्य ज्ञानोपादानत्वाभावेऽपि न क्षतिः।

पृ. ४. पं. २. तत्र–इन्द्रियार्थसन्निकर्षे, ननु यद्युपचरितज्ञानत्वेऽपि व्यञ्जनावग्रहत्वं तदनिमित्तान्तरस्यापि तत्त्वं भवेत्, न वाऽज्ञानस्य ज्ञानत्वमुपचर्य ज्ञानविशेषभेदमध्ये परिगणनं परीक्षाक्षेत्रमित्यत आह।

पृ. ४. पं. ३ अन्त इति–इन्द्रियार्थोभयसम्बन्धानन्तरमित्यर्थः।

पृ. ४. पं. ३ तत्कालेऽपि-इन्द्रियार्थसम्बन्धकालेऽपि बधिरादीनां तु श्रोत्रशब्दादिसम्बन्धानन्तरमर्थावग्रहरूपज्ञानस्यादर्शनेन न तत्कालेऽव्यक्तज्ञान-कल्पनमित्याशयः। नन्वव्यक्तज्ञानमन्यत्र न क्वापि दृश्यत इति प्रकृतेऽपि तादृशज्ञानकल्पनाऽदृष्टचरी न भद्रेत्यत आह।

पृ. ४. पं. ३ चेष्टेति-सुप्तस्य चेष्टाविशेषं दृष्ट्वा तन्निकटस्थः तदीयं स्वप्नज्ञानमनुमिनोति, सुप्तश्च तदानीं जायमानमपि स्वप्नज्ञानमव्यक्तत्वान्नावधारयति, सुप्तोत्थितः पुनस्तच्चेष्टानुमिततदीयज्ञानेन पुंसा तथा प्रतिबोध्यमानः कथयत्यपि किञ्चित्किञ्चिदनुभवंस्तदानीमहमासं, न तु तज्ज्ञानं व्यक्तमतः किं मया तदानीं दृष्टमिति न स्मरामि, एवञ्चाव्यक्तमपि यथा तज्ज्ञानं तथेदमपि व्यञ्जनावग्रह-पदवाच्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षकाले समस्तीति। अत्र यज्ज्ञेयवस्तूपादानतो यदनन्तरं ज्ञानमुपजायते तज्ज्ञानं, यथाऽर्थावग्रहज्ञेयवस्तूपादानतोऽर्थावग्रहानन्तरमीहाज्ञानं प्रादुर्भवतीत्यर्थावग्रहज्ञानम्, व्यञ्जनावग्रहज्ञेयवस्तूपादानतो व्यञ्जनावग्रहानन्तरं भवत्यर्थावग्रह इति व्यञ्जनावग्रहो ज्ञानमित्यनुमानप्रयोगः। ननु प्रकाशस्वभावे ज्ञानेऽव्यक्तता नोपपद्यते, न हि प्रकाशस्वभावेऽव्यक्तता क्वचिदपि दृष्टेत्यत आह।

पृ. ४. पं. ४ एकतेजोऽवयववदिति-प्रचुरतरतेजोऽवयवाः प्रकाशस्व-भावा यद्यपि दृश्यन्त एव तथाप्येकस्तेजोऽवयवोऽतिसूक्ष्मःप्रकाशस्वभावोऽपि न दर्शनपथमुपयाति तथा व्यञ्जनावग्रहो ज्ञानस्वभावत्वेन प्रकाशस्वभावोऽप्यतीवा-ल्पमित्यतोऽव्यक्तं तज्ज्ञानं स्वसंवेदनेनापि न व्यक्तमपि व्यज्यत इति भावः।

पृ. ४. पं. ५ तस्य-व्यञ्जनावग्रहस्य।

पृ. ४. पं. ५ तनुत्वेन-अतिसूक्ष्मत्वेन।

पृ. ४. पं. ५ अनुपलक्षणात्-स्वसंवेदने सत्यपि तेन व्यक्तमनवभास-नात्, तत्स्वसंविदितमपि न भवतीति तु न वाच्यं, ज्ञानमात्रस्य जडेभ्यो वैलक्ष-ण्यार्थं स्वसंविदितत्वस्यावश्यमभ्युपेयत्वात्, अन्यथा सर्वथाऽभासमाने तस्मिन् जडत्वस्यैवापत्तेरिति बोध्यम्। व्यञ्जनावग्रहस्य भेदं-दर्शयति।

पृ. ४. पं. ६ स चेति-व्यञ्जनावग्रहश्चेत्यर्थः।

पृ. ४. पं. ६ **नयन-मनोवर्जेन्द्रियेति**–नयनमनोभिन्नेत्यर्थः।

पृ. ४. पं. ६ **चतुर्धेति**–श्रावणघ्राणजरासनत्वाचव्यञ्जनावग्रहा इत्यर्थः। नयनमनसोः कुतो न व्यञ्जनावग्रह इत्यपेक्षायामाह।

पृ. ४. पं. ६ **नयनमनसोरिति**–विषयेण सह संयुज्य ज्ञानलक्षणकार्यकारित्वं श्रोत्रादीन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वं, नयनमनसोस्तु स्वविषयेण सह संयोगलक्षणसम्बन्धमन्तरेणैव स्वकार्यकारित्वमित्यप्राप्यकारित्वेन तयोर्व्यञ्जनावग्रहासिद्धेरित्यर्थः।

पृ. ४. पं. ७ **अन्यथा**–चक्षुर्मनसोःप्राप्यकारित्वाभ्युपगमे।

पृ. ४. पं. ७ **तयोः**–चक्षुर्मनसोः।

पृ. ४. पं ८ **जलेति**–चक्षुषा जलदर्शने जलेन संयुज्यमानस्य चक्षुषः क्लेदः स्यात्, एवं चक्षुषाऽनलस्य दर्शने अनलेन संयुक्तस्य चक्षुषो दाहः स्यादित्येवं जललक्षणज्ञेयकृतोऽनुग्रहोऽनललक्षणज्ञेयकृत उपघातश्चक्षुषः प्रसज्येत, तथा मनसा जलस्य चिन्तने जलेन संयुक्तस्य मनसस्तद्रूपज्ञेयकृतक्लेदलक्षणोऽनुग्रहोऽनलस्य चिन्तने तेन संयुक्तस्य मनसस्तद्रूपज्ञेयकृतदाहलक्षण उपघातश्च मनसः प्रसज्येतेत्यर्थः। चक्षुषो ज्ञेयकृतानुग्रहोपघातौ क्वचिद्दृश्येते एवेत्युक्तापादानं नानिष्टमिति शङ्कते।

पृ. ४. पं. ९ **रविचन्द्राद्यवलोकन** इति–सूर्यावलोकने यदि चक्षुषः सूर्येण संयोगस्तदा सकृद्रविदर्शनेऽपि चक्षुषः उपघातः स्यात्, न च तथा भवति, अनवरतसूर्यावलोकने तु सूर्यकिरणा एव चक्षुर्देशम्प्राप्तास्तं तापयन्तीति; एवं चन्द्रदर्शने तु उपघाताभावत एवानुग्रहाभिमान इति न चक्षुषो रविचन्द्रदेशम्प्रतिगमने नानुग्रहोपघाताविति समाधत्ते।

पृ. ४. पं. १० **न; प्रथमावलोकनसमये** इति तददर्शनात्–सूर्यावलोकनेनोपघातस्य चन्द्रावलोकनेनानुग्रहस्य चादर्शनात्, मनसोऽपि विषयविशेषचिन्तने यावनुग्रहोपघातौ दृश्येते तौ न मनसः किन्तु जीवस्यैव ताविति न ताभ्यां मनसोऽपि प्राप्यकारित्वसिद्धिरित्याह।

पृ ४ पं १३ मृतेति–जायमानावित्यस्य उपघातानुग्रहावित्यनेनान्वयः, मृतनष्टादिवस्तुचिन्तने दौर्बल्योरःक्षतादिलिङ्गक उपघातः, इष्टसङ्गविभवलाभादिचिन्तने वदनविकासरोमाञ्चोद्गमादिलिङ्गकोऽनुग्रहश्च न मनस इत्यर्थः। अत्र मनः मृतनष्टादिवस्तुचिन्तननिमित्तकोपघातवत् मृतनष्टादिवस्तुचिन्तनानन्तरं दौर्बल्योरःक्षतादिमत्त्वात्, मनः इष्टसङ्गमविभवलाभादिचिन्तननिमित्तकानुग्रहवत् इष्टसङ्गमविभवलाभादिचिन्तनानन्तरे वदनविकासरोमाञ्चोद्गमादिमत्त्वादिति प्रयोगौ द्रष्टव्यौ। यदीमावुपघातानुग्रहौ न मनसः तर्हि कस्य तौ? नैमौ निराश्रयौ सम्भवत इत्याशयेन पृच्छति।

पृ. ४. पं. १५ किन्त्विति–उत्तरयति।

पृ. ४. पं. १५ मनस्त्वेति–मनस्त्वरूपेण परिणतानि यानि अनिष्टेष्टपुद्गलनिश्चयरूपाणि द्रव्याणि तद्रूपं यन्मनः तदवष्टम्भेन तदात्मकनिमित्तेन जीवस्यैवोपघातानुग्रहौ मृतनष्टादिवस्तुचिन्तनेष्टसङ्गमविभवलाभचिन्तनाभ्यामित्यर्थः। अन्यावष्टम्भेन जीवस्योपघातानुग्रहौ भवत इत्यत्र निदर्शनमाह।

पृ. ४. पं. १६ हृन्निरुद्धेति–हृदि निरुद्धः कफादिदोषप्राबल्येनावरुद्धः अधउर्द्धवं च गन्तुमसमर्थस्तत्रैव गोलादिरूपपरिणामेनावस्थितो य उदानादिवायुस्तेन जीवस्योपघातः वायूपशामकभेषजेनौषधविशेषेणानुग्रहश्च यथा तथेत्यर्थः। विषयदेशे मनोगमनस्य प्रतीत्या विषयीक्रियमाणत्वात्प्राप्यकारित्वमेव मनस इत्याशङ्कते।

पृ. ४. पं. १७ नन्विति–अत्र मनो विषयं प्राप्य परिच्छिनत्ति, प्रसुप्तस्य "मेर्वादौ गतं मे मनः" इति प्रत्ययस्य तथैवोपपत्तेरिति प्रयोगोऽत्र ज्ञेयः। प्रसुप्तस्य स्वस्वप्नानुभवदशायां भवति प्रतीतिः "अहमिदानीं मेरुशिखरेऽनुपमकुसुमपरिमलामोदमनुभवन्नस्मीति" परन्तु तच्छरीरं शयनदेशस्थितमेव तन्निकटसंस्थितैः सर्वैरपि प्रमातृभिरनुभूयत इत्यवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यम्। यदुत तच्छरीरं तद्देशस्थितमेव मेरुशिखरगततया प्रतीयत इति तज्ज्ञानं भ्रमो यथा तथा मनोऽपि शरीरान्तर्गतमेव मेर्वादिगततया प्रतीयत इति तज्ज्ञानमसत्यमेवेति नातो मनसो मेर्वादिदेशगमनसिद्धिरिति समाधत्ते।

पृ. ४. पं, १९ नेति–शरीरमपि सुप्तस्य मेरुदेशादिगमनस्वप्नदर्शनसमये

मेर्वादौ गच्छत्येवेति दृष्टान्तासिद्धिरित्याशङ्कायामाह।

पृ. ४. पं. २० अन्यथेति–तदानीं शरीरस्य मेर्वादिदेशगमने इत्यर्थः।

पृ. ४ पं. २० विबुद्धस्य–स्वप्नमनुभूय प्रबोधदशामुपगतस्य।

पृ. ४. पं. २० कुसुमेति कुसुमपरिमलाघ्राणजनितामन्दानन्दलक्षणानुग्रहस्यातिदूरमेरुशिखरगमनागमनप्रयुक्तातिशीघ्रायासभ्रान्तशरीराङ्गोपाङ्गपीडाप्रभवदुःखौघलक्षणोपघातस्य च प्रसङ्गात्, न च तदानीं कुसुमपरिमलकणिकाऽप्याघ्रायते, न वाध्वपरिश्रमलेशोऽपि समस्तीति, न स्वप्नकाले मेर्वादौ शरीरगमनं, न वा मनसोऽपिगमनमित्यप्राप्तकार्येव मन इत्यर्थः। ननु विबुद्धस्यानुग्रहोपघाताभावात्स्वप्नस्यासत्यत्वमिति न ततो मनसो मेरुगमनसिद्धिरिति भवदभिप्रायो न युक्तो, विबुद्धस्य स्वप्नानुभूतसुखरागलिङ्गस्य स्वप्नानुभूतदुःखद्वेषलिङ्गविषादस्य च दर्शनेनानुग्रहोपघातस्य भावात्। यतः–

स्वप्ने दृष्टो मयाद्य त्रिभुवनमहितः पार्श्वनाथः शिशुत्वे।
द्वात्रिंशद्भिः सुरेन्द्रैरहमहमिकया स्नाप्यमानः सुमेरौ॥
तस्माद् मत्तोऽपि धन्यं नयनयुगमिदं येन साक्षात् स दृष्टो।
द्रष्टव्यो यो महीयान् परिहरति भयं देहिनां संस्मृतोऽपि॥१॥

एतत्पद्यतो विबुद्धस्य स्वप्नानुभूतसुखरागलिङ्गहर्षस्य।

तथा—

प्राकारत्रयतुङ्गतोरणमणिप्रेङ्खत्प्रभाव्याहताः।
नष्टाः क्वापि रवेः करा द्रुततरं यस्यां प्रचण्डा अपि॥
तां त्रैलोक्यगुरोः सुरेश्वरवतीमास्थायिकामेदिनीं।
हा! यावत् प्रविशामि तावदधमा निद्रा क्षयं मे गता॥२॥

इत्यस्मात्पद्याद्विबुद्धस्य स्वप्नानुभूतदुःखद्वेषलिङ्गविषादस्यावगतेरित्याशङ्कते।

पृ. ४. पं. २१ नन्विति–स्वप्नानुभूतजिनस्नात्रदर्शनतोऽनुग्रहः स्वप्नानुभूतसमीहितार्थलाभत, उपघातश्च विबुद्धस्य सतः जाग्रद्दशामुपगतस्य सतः पुरुषस्यो-

पलभ्येत एवेत्यर्थः । सुखानुभवादिविषयकविज्ञानलक्षणात्स्वप्नज्ञानादुत्पद्यमाना हर्षविषादादयो नापलपितुं शक्याः, जाग्रद्दशायामपि केषाञ्चिद्वस्तुत इष्टविषयस्याभावेऽपि स्वोत्प्रेक्षितसुखानुभवादिविषयज्ञानाद्धर्षस्य, द्विष्टविषयस्याभावेऽपि च स्वोत्प्रेक्षितद्वेषविषयानुभवविज्ञानाद् दुःखस्य भावादिति स्वप्नविज्ञानकृतावनुग्रहोपघातौ स्यातां नाम । भोजनादिक्रियाफलं तु तृप्त्यादिकं स्वप्नविज्ञानान्न भवत्येव, स्वप्ने सम्यगोदनमोदकादिभोजनादिकमात्मीयमनुभूय विबुद्धस्य भोजनफलतृप्त्यादिलक्षणानुग्रहादेरदर्शनात्, स्वप्नविज्ञानात्तद्भावे तु कल्पेतापि मनसःप्राप्तिकारिता चैवमिति समाधत्ते ।

पृ. ४. पं. २३ इत्येतौ स्वप्नविज्ञानकृतौ तौ-अनुग्रहोपघातौ ।

पृ. ४. पं. २४ स्वप्नेति–क्रियाफलं तु तृप्त्यादिकं स्वप्नविज्ञानकृतं नास्तीत्यन्वयः, क्रियाफलं स्वप्नोपलभ्यमानभोजनादिक्रियाफलं, आदिपदाच्छुक्रतस्त्वशिरःकृन्तनादेरुपग्रहः. तृप्तीत्यनेनानुग्रहस्य कथनम्, आदिपदाच्छिरोधरादितः शोणितादिनिस्यन्दनलक्षणोपघातस्य परिग्रहः । ननु जाग्रति केलिगृहादावेकान्तगृहे रूपयौवनलावण्यसम्भृतया कामिन्या निधुवनक्रीडां कुर्वाणस्य कामिनो व्यञ्जनविसर्गः प्राप्तकामिनीसम्पर्कादेव भवति, नान्यथेति । यत्र शुक्रविसर्गस्तत्रावश्यं कामिनीसम्पर्क इति व्याप्तिरवध्रियते, स्वप्ने च जाग्रदवस्थानुभूतकामिनीं तत्समानगुणामन्यां वा कामिनीं निधुवनक्रीडाकलितामतिदृढालिङ्गननिपीडितकुचतटामनुभवतो यूनो यच्छुक्रस्खलनम्भवति तत्रान्तरेण कामिनीसम्पर्केणेति तत्प्राप्तिरवश्यमेवेति कथन्न प्राप्यकारित्वम्मनसः? क्रियाफलस्य शुक्रविसर्गस्य स्वप्नव्यपगमानन्तरमप्युपलम्भादित्याशङ्कते ।

पृ. ४. पं. २५ क्रियाफलमपीति–क्रियाफलम्–कामिनीनिधुवनक्रियाकार्यम्, जाग्रद्दशायामपि प्रबलवेदोदयात्तीव्रमोहस्य निरन्तरकामिनीध्यानप्राबल्यात्प्रत्यक्षामिव कामिनीं पश्यतो दुष्टाध्यवसायसमुत्थकल्पनाजालेनासतीमपि सतीमिव तां परिष्वजतोऽपरिभुक्तामपि परिभुक्तां मन्यमानस्य पुंसस्तीव्राध्यवसायादेव कामिनीसम्पर्कमन्तरेणापि व्यञ्जनविसर्गो यथा जायते तथा स्वप्नेऽपि कामिनीसम्पर्कं विनैव तथाविधाध्यवसायत एव रेतोविसर्गः, यत्र रेतोविसर्गस्तत्र कामिनीसम्पर्क इत्यत्रोक्तदिशा व्यभिचारस्य स्फुटमुपलब्धेः, स्वप्ने रेतोविसर्गसमनन्तरमेव प्रबुद्धेन पुंसा सम्यगवलोकमानेनाऽपि कामिन्या अनवलोकनेन

स्वप्नानुभूतकामिनीकृतनखदन्तच्छदाद्यदर्शनेन च तदानीं सन्निहितैव कामिनी-त्यस्य वक्तुमशक्यत्वादिति समाधत्ते। व्यञ्जनविसर्गलक्षणं-शुक्रस्खलनरूपं।

पृ. ४. पं. २६ तदिति-क्रियाफलत्वेनाभिमतं स्वप्ने व्यञ्जनविसर्गस्वरूपं कार्यमित्यर्थः।

पृ. ४. पं. २७ को दोष इति-एवमभ्युपगमे न कोऽपि दोष इत्यर्थः। ननु स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयकः पुमान् तदानीं यत्किमपि करोति तत्स्वप्नकृतमेवासौ जानाति, यतस्तदानीमस्यैवमभिमानः प्रादुरस्ति "द्विरददन्तोत्पाटनादिकं सर्वमिदमहं स्वप्ने पश्यामीति" तथा च तस्य द्विरददन्तोत्पाटनादिक्रियाकलापकालः स्वप्नकाल एव, तदानीमस्य द्विरददन्तोत्पाटनादिका क्रिया मनोविकल्पपूर्विकैवेति मनसः प्राप्यकारित्वं, ततो मनसो व्यञ्जनावग्रहः सिद्धिपथमेवेति तदानीं च यद्गीतादिकं स शृणोति तत्रापि मनस एव व्यापार इति मनोविकल्पपूर्विकात्तत्कालीनगीतादिश्रवणादपि मनः प्राप्यकारि सिद्ध्यन्मनोव्यञ्जनावग्रहं साधयदेव भविष्यतीति शङ्कते।

पृ. ४. पं. २८ ननु स्त्यानर्द्धिनिद्रोदये-इति-गाढनिद्रोदय इत्यर्थः। एतदनन्तरं प्रेक्षणकनृत्यस्थानादिगतस्येति दृश्यम्। स्त्यानर्द्धिनिद्रोदये वर्तमानस्य प्राणिनो द्विरददन्तोत्पाटनादिकं मांसाद्यभक्ष्यभक्षणादिकञ्च कुर्वतोऽस्वप्नमपि स्वप्नम्मन्यमानस्य व्यञ्जनावग्रहो न मनसः, किन्तु प्राप्यकारिणां स्वस्वविषये व्याप्रियमाणानां श्रवणरसनघ्राणस्पर्शनानामेव, तथा प्रेक्षणकनृत्यस्थानादिगतस्य गाढनिद्रोदयवशीभूतस्य तस्य गीतादिश्रवणे श्रवणेन्द्रियस्यैव व्यञ्जनावग्रहः, यत एवम्भूतस्यापि बधिरस्य न भवत्येव गीतादिश्रवणं, मनसा तु तद्भावे बधिरस्यापि मनसस्सद्भावात्तद्भवेदिति न मनोव्यञ्जनावग्रहता, तद्व्यञ्जनावग्रहस्य सतोऽपि नातोऽपि मनसः प्राप्यकारितेति समाधत्ते।

पृ. ५ पं. १ न; तदा-स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयसमये। ननु भविष्यच्च्यवनं जानाति भूतञ्च च्यवनमवगच्छति वर्तमानच्यवनन्तु न जानातीत्याद्यर्थप्रतिपादनपराच्च्यवमानो न जानातीति वचनात् सिद्धान्ते सर्वोऽपि च्छद्मस्थोपयोगोऽसङ्ख्येयैस्समयैर्न तु एकद्व्यादिसमयैः, एवञ्चोपयोगसम्बन्धिनोऽसङ्ख्येयास्समयास्सिद्धाः, तेषु सर्वेष्वपि समयेषु प्रत्येकमनन्तानि मनोद्रव्याणि मनोवर्गणाभ्यो

गृह्णाति जीवः। इत्थञ्च यानि मनोद्रव्याणि जीवगृहीतानि, यश्च तत्सम्बन्धः, स व्यञ्जनावग्रह एव, यथा श्रोत्रादीन्द्रियेण गृह्यमाणानि शब्दादिपरिणतद्रव्याणि तत्सम्बन्धो वा व्यञ्जनावग्रह इति मनसःस्यादेव व्यञ्जनावग्रह इति शङ्कते।

पृ. ५. पं. २ नन्विति प्रतिसमयमिति–छद्मस्थोपयोगसम्बन्धिष्व-सङ्ख्येयसमयेषु प्रत्येकं तत्तत्समयमित्यर्थः।

पृ. ५. पं. ४ ग्रहणात्–जीवेन ग्रहणात्, इत्थं च।

पृ. ५. पं. ४ विषयं-मेर्वादिकं प्रति।

पृ. ५. पं. ४ असम्प्राप्तस्यापि–अगतस्यापि।

पृ. ५. पं. ५ देहादनिर्गतस्यापि–शरीराद्बहिरनिर्गतस्यापि। मनसः कथं व्यञ्जनावग्रहो न भवतीति सम्बन्धः। तथा च विषयासम्प्राप्तावपि मनसो व्यञ्जनावग्रह उक्तदिशा स्यादेवेति भावः। यदि च मनसो विषयप्राप्तौ सत्यामेव व्यञ्जनावग्रहो, नान्यथा, श्रोत्रादीन्द्रियेष्वेवमेव दर्शनादिति भवताम्मतिस्तदापि स्वस्थानस्थितस्यापि मनसो देहादनिर्गतस्यापि हृदयादिकमतीवसन्निहितत्वाद-तिसम्बद्धं स्वकार्यं वा चिन्तयता ज्ञेयेन स्वकायस्थितहृदयादिना सम्बन्धलक्षणो व्यञ्जनावग्रहः स्यादेवेत्याह।

पृ. ५. पं. ५ तस्य च इति–देहादनिर्गतस्य मनसश्चेत्यर्थः।

पृ. ५. पं. ५ स्वसन्निहितेति–स्वाधिष्ठितकायस्थितत्वेन स्वातिसम्बद्धे-त्यर्थः। हृदयादीत्यादिपदात्स्वाधिष्ठितकायादेरप्युपग्रहः।

पृ. ५. पं. ६ कथं व्यञ्जनावग्रहो न भवेदिति–अन्यत्र व्यञ्जनावग्रह-व्यवहारनिबन्धनस्यातिसम्बद्धत्वस्यात्रापि सद्भावाद्व्यञ्जनावग्रहः स्यादेवेति भावः। चिन्ताद्रव्यमनसो ग्रहणत्वमेव न ग्राह्यत्वं, ततो ग्राह्यवस्तुग्रहण एव व्यञ्जनावग्रहोऽधिकृतः, स च बाह्यवस्तुमेरुशिखरादिग्रहणे तेन समं मनसःप्राप्तौ सत्यां सम्भवी, मनोद्रव्यं तु न ग्राह्यतया गृह्यत इति तत्सम्बन्धे व्यञ्जनावग्र-हत्वं न युक्तिसङ्गतं, स्वकायसन्निहितहृदयादिकं तत्तु सर्वदैव सन्निहितं न तु सर्वदाऽऽत्मप्रदेशेन सम्बद्धं, तत्कदाप्यसम्बद्धं, येन तद्व्यतिरेके तदग्रहणे तस्मिन्

तदग्रहणे तन्निबन्धनं व्यञ्जनावग्रहमननं युज्येतापि । बाह्यविषयापेक्षयैव प्राप्याप्राप्यकारित्वविचार इन्द्रियादेरधिकृतः, न तु यदन्तस्सदैव सन्निहितं तदपेक्षया, तत्र विषादाभावादिति समाधत्ते ।

पृ. ५. पं. ६ शृणु; ग्रहणं हि मनः इति–गृह्यते अवगम्यते शब्दादिरर्थोऽनेनेति व्युत्पत्त्या यतो ग्रहणं मन इत्यर्थः ।

पृ. ५. पं. ८ तदवकाशः–व्यञ्जनावग्रहावकाशः । स्वसन्निहितहृदयादिचिन्तनवेलायामपि व्यञ्जनावग्रहावकाशो नास्तीत्याह ।

पृ. ५ पं. ८ सन्निहितेति–सम्बन्धस्य व्यञ्जनावग्रहव्यवहारनिबन्धनस्य भावे कथं न व्यञ्जनावग्रहावकाश इत्यपेक्षायामाह ।

पृ. ५. पं. ९ बाह्यार्थापेक्षयैवेति–अपि च मनसः स्वकीयहृदयादिचिन्तनवेलायां प्राप्यकारित्वासम्भवेऽपि व्यञ्जनावग्रहस्य न सम्भवः, यतः क्षयोपशमपाटवेन तस्य प्रथममर्थानुपलब्धिकालासम्भवेन प्रथमसमय एव चक्षुरादीन्द्रियस्येवार्थावग्रहस्यैव समुत्पादात् । श्रोत्रादीन्द्रियस्य तु तादृशक्षयोपशमपाटवाभावेन प्रथममर्थानुपलब्धिसम्भवेन प्रथमं व्यञ्जनावग्रहस्य युक्तत्वादित्याह ।

पृ. ५. पं. १० क्षयोपशमपाटवेनेति–ननु मनः श्रोत्रादीन्द्रियजज्ञानेऽपि व्याप्रियर्तीति, तत्रापि प्रथममर्थावग्रह एव स्यादित्यत आह ।

पृ. ५. पं. ११ श्रोत्रेति–तथा च श्रोत्रादीन्द्रियजज्ञानस्थले न पूर्वं मनसो व्यापारः, किन्तु व्यञ्जनावग्रहानन्तरमेवेति तदनन्तरमेवार्थावग्रहो न प्रथमसमय इति, मनःशब्दस्यान्वर्थताप्येवं सत्येव घटत इत्यतस्तस्य स्वविषयग्रहणे श्रोत्रादीन्द्रियोपयोगकाले चार्थावग्रहकालादारभ्यैव व्यापारोऽर्थावबोधस्वभावे मनसि अर्थानवबोधस्वभावस्य व्यञ्जनावग्रहस्य न सम्भव इत्याह ।

पृ. ५. पं. १२ मनुतेऽर्थानिति–इदं च कर्त्तरि, करणे आह ।

पृ. ५. पं. १२ मन्यत इति—मनः शब्दस्यान्वर्थाभिधानत्वेऽनुगुणं दृष्टान्तमाह ।

पृ. ५. पं. १४ अर्थभाषणमिति–भाषाया इत्युपलक्षणमवध्यादिज्ञाना-

देरपि, तथा च यथा स्वाभिधेयानर्थान् भाषमाणैव भाषा, स्वविषयीभूतानर्थानवबुध्यमानान्येवावध्यादिज्ञानानि स्वस्वरूपमासादयन्ति तथा स्वविषयभूतानर्थान् प्रथमसमयादारभ्य मन्वानमेव मनो भवति, ततश्चार्थानुपलब्धिकालाभावान्न मनसो व्यञ्जनावहसम्भव इति, इत्थमुपपादितं नयनमनसोर्व्यञ्जनावग्रहासम्भवमुपसंहरति तदेवमिति ॥ इति व्यञ्जनावग्रहनिरूपणम् ॥

॥ अथ अर्थावग्रहनिरूपणम् ॥

अवग्रहस्य द्वितीयभेदमर्थावग्रहं लक्षयति ।

पृ. ५. पं. १६ स्वरूपेति–स्वरूपञ्च, नाम च, जातिश्च, क्रिया च, गुणश्च द्रव्यंच स्वरूपनामजातिक्रियागुणद्रव्याणि, तेषां कल्पना स्वरूपादिप्रकारेणार्थावगाहिता तया रहितं यत्सामान्यग्रहणं, अवान्तरविशेषानवगाहिवस्तुसामान्यस्वरूपावगाहिज्ञानं तदर्थावग्रह इत्यर्थः । अत्र स्वरूपेत्यादिसामान्यग्रहणमित्यन्तं लक्षणनिर्देशः, अर्थावग्रह इति लक्ष्यनिर्देशः । ननु स्वरूपनामादिकल्पनारहितार्थज्ञानस्यार्थावग्रहत्वे तद्विषयः स्वरूपनामादिरहितोऽवग्रहीत इति प्राप्तं, तथा च "से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जत्ति तेणं सद्देत्तिउग्गहिए न उण जाणइ के वेस सद्दा इति" नन्द्यध्ययनसूत्रे "तेणं सद्देति उग्गाहिए" इत्यनेन तेन प्रतिपत्त्राऽर्थावग्रहेण शब्दोऽवगृहीत इति प्रतिपादितोऽर्थः शब्दोल्लेखाकलितो विरुद्धः स्यात्, तस्य शब्दाद्युल्लेखरहितत्वेनाभिमतार्थावग्रहविषयत्वासम्भवादिति शङ्कते ।

पृ. ५. पं. १७ कथमिति–अस्य सूत्रार्थ इत्यनेनान्वयः ।

पृ. ५. पं. १८ सूत्रार्थः–उक्तनन्द्यध्ययनसूत्रैकदेशार्थः, कथमित्याक्षेपे, विरोधादुक्तसूत्रार्थो न घटत इत्यर्थः, सूत्रार्थाघटने हेतुमाह ।

पृ. ५. पं. १८ तत्रेति–तेन शब्द इत्यवगृहीत इत्यस्मिन्नित्यर्थः, एकसामयिकेऽर्थावग्रहे नामाद्युल्लेखस्यासम्भवान्न शब्दात्मकवस्तुनि तद्वाचकस्य शब्द इत्येवंरूपस्य शब्दस्य योजनाऽवगृह्यते, किन्तु शब्दस्य यत्सामान्यमात्रं स्वरूपं तदेवावान्तरसामान्यविशेषशब्दत्वादिविनिर्मोकेण रूपरसादिशब्दान्यविशेषव्याकृत्यनाकलितरूपतयाऽवगृह्यते, तथाविधे चावग्रहे शब्दवाच्यत्वेन शब्दात्मकवस्तु नावभासत एव, केवलमवग्रहविषयवस्तुनः परिचयार्थं वक्त्रा सूत्रकृतैव

शब्द इति भण्यते, तद्भणनेन यद्वस्तुस्थित्या शब्द इत्येवंस्वरूपशब्दवाच्यं नान्यद्रूपरसादीति समाधत्ते।

पृ. ५. पं. १८ न "शब्दः" इति वक्त्रैव-अवग्रहविषयवक्त्रा सूत्रकृतैव, अथवा तत्र शब्द इति शब्दमात्रपरं, तेन च रूपरसादिभ्यस्तस्य व्यावर्त्तकस्य शब्दत्वलक्षणावान्तरसामान्यविशेषस्य ग्रहणव्यवच्छेदः। तथा च रूपरसादिव्यावृत्तिमत्तयाऽनवधृतं शब्दत्वेनानिश्चितं वस्तुमात्रमवगृह्यत इति तदर्थ इत्याह।

पृ. ५. पं. १९ रूपरसादीति-किञ्च शब्दवाच्यत्वेन शब्दवस्तुनोऽवग्रहे भाने तस्य शब्दोऽयमित्याकारः स्यादिति शब्दोल्लेखस्यान्तर्मुहूर्त्तिकत्वादेकसामयिकत्वन्तस्य सिद्धान्तसिद्धं भज्येतेत्याह।

पृ. ५. पं. २० यदि चेति-ननु प्रथमसमय एव शब्दोऽयमित्याकारकोऽर्थावग्रहोऽस्तु, तत्र शब्दमात्रत्वेन यज्ज्ञानं तदेव सामान्यग्रहणं, तदनन्तरं प्रायः शाङ्खेनानेन भवितव्यं, शाङ्खशब्दधर्मस्य माधुर्यादेरत्र सम्भवात्, शार्ङ्गशब्दधर्मस्य कर्कशत्वादेरत्रानवलोकनादिति विमर्शबुद्धिरीहा, तत शाङ्ख एवायमिति ज्ञानमपायोऽस्त्विति शङ्कते।

पृ. ५. पं. २२ स्यान्मतम्-'शब्दोऽयम्' इति सामान्यविशेषग्रहणमिति-शब्दत्वलक्षणस्य महासामान्यसत्त्वापेक्षयाऽवान्तरसामान्यस्य ग्रहणम्, अपीत्यनेन सत्तामात्रेण शब्दग्रहणस्यार्थावग्रहत्वाभ्यनुज्ञानम्, ईहापूर्ववर्तित्वे सत्येवायं शब्द इति ज्ञानस्यार्थावग्रहत्वं युज्येतातः तदनन्तरमीहासम्भवं दर्शयति।

पृ. ५. पं. २३ तदुत्तरमिति-शब्दोऽयमिति ज्ञानानन्तरमित्यर्थः। शब्दोऽयमित्येवं निश्चयात्मकावग्रहे नाशब्दोऽयमित्येवमशब्देभ्यो रूपादिभ्यो व्यावृत्तिग्रहणमवश्यमेवेष्टं भवेत्। अशब्दव्यावृत्तिग्रहणमन्तरेण शब्दत्वनिश्चयस्यासम्भवात्तथा च विशेषाध्यवसायित्वेनापायत्वमेवास्य स्यान्नार्थावग्रहत्वं, यदि च शाङ्खत्वादिव्याप्यजात्यपेक्षया शब्दत्वस्य सामान्यत्वमिति तद्रूपावगाहिज्ञानस्य सामान्यग्रहणत्वेनार्थावग्रहणत्वमिष्यते तदा शाङ्खोऽयमिति ज्ञानस्यापि तदवान्त-

रावशेषापेक्षया सामान्यस्य शाब्दत्वस्य ग्राहकत्वेनार्थावग्रहत्वमेव स्यादित्यपाया-पलाप एव प्रसज्येतेति समाधत्ते ।

पृ. ५. पं. २५ नैवमिति–अस्य शब्दोऽयमिति ज्ञानस्य । ननु बृहद्वि-विशेषावगाहिज्ञानत्वमपायत्वं, स्तोकविशेषावगाहित्वमर्थावग्रहत्वमिति शब्दोऽय-मिति ज्ञानस्य शब्दमात्रस्तोकविशेषावगाहित्वेनार्थावग्रहत्वं, शाब्दोऽयमिति-ज्ञानस्य तु बृहद्विशेषावगाहित्वेनापायत्वमिति सुव्यवस्थितत्वमर्थावग्रहापाय-योरिति पराकूतप्रतिविधानायाह ।

पृ. ५. पं. २६ स्तोकग्रहणस्येति–एवमुपगमे समुच्छिन्नैवापायकथा, उत्तरोत्तरविशेषावगाहिज्ञानापेक्षया पूर्वपूर्वविशेषग्रहणस्य स्तोकविशेषविषयकत्वेना-र्थावग्रहत्वस्यैव प्राप्तेरित्यभिसन्धिः । अपि च शब्दगतानुगामिधर्माणां शब्दभि-न्नेभ्यो रूपादिभ्यो व्यावृत्तिग्रहणे सत्येव शब्दोऽयमिति लक्षणोऽर्थावग्रहो भवेत्, अशब्दाद्व्यावृत्तत्वग्रहेऽशब्दत्वसद्भावसंशये शब्दत्वनिश्चयासम्भवात्, शब्दा-न्वयधर्माणामन्यव्यावृत्तिग्रहणञ्च विमर्शलक्षणेहामन्तरेण न सम्भवदुक्तिकं, तथा च पूर्वमीहाभाव एव शब्दोऽयमिति ग्रहः, तथा च कुतोऽस्यार्थावग्रहत्वं, व्यञ्जनावग्रहानन्तरसमुद्भूतस्यैवार्थावग्रहत्वस्यास्माभिरुपगमादस्य चानैव-म्भावादित्याह ।

पृ. ५. पं. २७ किञ्चेति—भवतूक्तार्थावग्रहात्पूर्वमीहा किमश्छिन्न-मित्यत आह ।

पृ. ५. पं. २८ सा चेति–ईहा पुनरित्यर्थः, भवतु गृहीत एवार्थे ईहास-मुदयः, इहातः प्रागर्थग्रहणमपि स्वीकरिष्याम इत्यत आह ।

पृ. ६. पं. १ तद्ग्रहणमिति–यस्मिन्गृहीते ईहा स्यात्तत्सामान्यार्थ-ग्रहणमित्यर्थः ।

पृ. ६. पं. १ अस्मदभ्युपगतेति–अयमभिप्रायः, यदेतदीहार्थमीहातः प्राक्सामान्यार्थावग्रहणं तत्कालः कश्चिदवश्यमभ्युपेयः, स यद्यस्मदभ्युपगतार्था-वग्रहकाल एव तदाऽस्मदभ्युपगतार्थावग्रह एवायमर्थावग्रहः स्यात्, तथा च तदनन्तरोत्पन्नेहानन्तरजायमानस्य शब्दोऽयमिति ज्ञानस्यापायत्वमेव कक्षीकृतं

स्यादिति पर्यवसितं विवादेन, तस्मादस्मदभ्युपगतार्थावग्रहकालात्प्राक्काले एव सोऽभ्युपेयः, न च सम्भवति, तत्कालस्य व्यञ्जनावग्रहत्वेनार्थपरिशून्यत्वात्तदानीं कस्याप्यर्थस्य सामान्यरूपस्य विशेषरूपस्य वा प्रतिभासासम्भवादिति।

पृ. ६. पं. २ **स च**–अस्मदभ्युपगतार्थावग्रहकालपूर्वकालश्च। ननु शब्दत्वं यद्यर्थावग्रहे गृहीतं न स्यात्तदा तदनन्तरं क एष शब्द इत्येवमीहायाः प्रवृत्तिर्न स्यादतः शब्दत्वेन शब्दावग्राहित्वमर्थावग्रहस्याभ्युपेयमित्याशङ्कते।

पृ. ६. पं. ३ **नन्वनन्तरमिति**–अर्थावग्रहानन्तरम्, "न उण जाणइ के वेस सद्देत्ति" नन्दिसूत्रे–न पुनर्जानाति, को वैष शब्द इत्येवं शब्दावान्तर-शाङ्खत्वादिविशेषापरिज्ञानस्यैवोक्तत्वेन शब्दत्वलक्षणसामान्यपरिज्ञानन्तत्रानुमत-मेव। नहि शब्दत्वेन रूपेण शब्देऽगृहीते शब्दत्वावान्तरविशेषमार्गणं युज्यते, सामान्यावान्तरधर्मेण धर्मिजिज्ञासायां सामान्यधर्मप्रकारकज्ञानस्य हेतुत्वादिति शङ्कितुरभिप्रायः। यत्र कुत्राऽपि शब्दात्मकवस्त्ववग्रहस्वरूपोपवर्णनं, तत्र सर्वत्र शब्दवस्तुस्वरूपवाचकस्य शब्द इत्येवंरूपस्य शब्दस्य प्रयोगो वक्तैव तत्प्ररूपको विदधाति, न तु तत्र ज्ञाने शब्दत्वेन शब्दोऽवभासते; तथा सत्येकसामायिकत्व-मर्थावग्रहस्य भज्येत, अपि तु अर्थावग्रहे अव्यक्तशब्दस्वरूपप्रतिभासनमेव सूत्र-सम्मतम्, अव्यक्तज्ञानश्चानाकारोपयोगरूपमव्यक्तशब्दार्थग्राहकमेवेति समाधत्ते।

पृ. ६. पं. ५ **न, "शब्दः शब्दः" इति भाषकेणैव भणनात् अर्थाव-ग्रहेऽव्यक्तशब्दश्रवणस्यैव सूत्रे**–नन्द्यध्ययने "से जहा नामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जत्ति" अस्मिन्सूत्रे; अत्र अव्यक्तमित्यस्य शब्दोऽयम्, रूपादि-र्वेत्यादिना प्रकारेणाव्यक्तमित्यर्थः, अर्थावग्रहस्यानाकारोपयोगरूपतया सूत्रे पठितत्वेनानाकारोपयोगत्वस्य सामान्यमात्रविषयकत्वे सत्येव घटमानत्वेन शब्द इत्येवमुल्लेखस्य शाङ्खशार्ङ्गभेदापेक्षयाऽव्यक्तत्वेऽपि महासामान्यसत्तापेक्षया व्यक्तत्वस्यैव भावेन तस्याव्यक्तशब्दार्थत्वासम्भवादिति भावः।

पृ. ६. पं. ७ **अस्य**–अर्थावग्रहस्य।

पृ. ६. पं. ७ **तन्मात्रविषयत्वात्**–अव्यक्तमहासामान्यसन्मात्रविषय-त्वात्। ननु सूत्रेऽव्यक्तशब्दश्रवणं व्यञ्जनावग्रहेऽव्यक्तभानमाश्रित्यैव भविष्य-तीत्यत आह।

पृ. ६. पं. ८ यदि च–एवं सति व्यञ्जनावग्रहस्याव्यक्तशब्दरूपार्थविषयकत्वेनार्थावग्रहत्वं स्यान्न व्यञ्जनावग्रहत्वमेवमपि व्यञ्जनावग्रहत्वेऽर्थावग्रहत्वेनाभिमतस्यापि व्यञ्जनावग्रहत्वं स्यादित्याह।

पृ. ६. पं. ९ सोऽपीति–व्यञ्जनावग्रहोऽपीत्यर्थः। ये च सर्वविशेषविमुखसामान्यमात्रलक्षणाव्यक्तग्रहणं प्रथमसमये तत्क्षणजातमात्रशिशोस्सङ्केतादिविकलस्य, सङ्केतादिपरिकर्मितमतेः परिचितविषयस्य तु प्रमातुःप्रथमशब्दश्रवणसमय एव विशेषविषयकमप्यर्थावग्रहणं भवति परिचितविषयप्रमातारमधिकृत्यैव "तेणं सद्देत्ति उग्गाहिए" इति सूत्रं शब्दस्तेनावगृहीत इत्यर्थकं प्रवृत्तं; तथा च शब्दोऽयमिति निश्चयात्मकावग्रहेण शब्द इत्यवगृहीत इति यथाश्रुत एव सङ्गच्छत इति मन्यन्ते, तन्मतं प्रतिक्षेप्तुमुपन्यस्यति।

पृ. ६. पं १० केचित्त्विति–अस्य आहुरित्यनेन सम्बन्धः।

पृ. ६. पं. १० सङ्केतादिविकल्पविकलस्य–अनेन शब्देनायमर्थो बोद्धव्यः। इदम्पदममुमर्थं बोधयत्वित्यादिपुरुषेच्छालक्षणसङ्केतादिज्ञानरहितस्य, जातमात्रस्य तत्क्षणादावेव जातस्य।

पृ. ६. पं. ११ सामान्यग्रहणं–अशेषविशेषानवगाहिमहासामान्यसन्मात्रावगाहिज्ञानम् अर्थावग्रहणमिति शेषः।

पृ. ६. पं. ११ परिचितविषयस्य तु–गृहीतसङ्केतादिकस्य पुंसः पुनः।

पृ. ६. पं. ११ आद्यसमय एव–प्रथमशब्दश्रवणसमय एव, विशेषज्ञानं–शब्दोऽयं रूपादिरयमित्येवंविशेषनिश्चयात्मकं ज्ञानम्, अर्थावग्रहणमित्यत्रापि ज्ञेयम्।

पृ. ६. पं. १२ एतदपेक्षया–परिचितविषयप्रमातृनिष्ठविशेषज्ञानलक्षणार्थावग्रहापेक्षया; यथा च परिचितविषयस्य पुंस आद्यसमयेऽपि शब्दोऽयमिति निश्चयात्मकं ज्ञानम्भवति, तथा ततोऽपि परिचिततरविषयस्य पटुतरमतेस्तन्निश्चयादप्यधिकतरशाङ्खत्वादिविशेषनिर्णयात्मकं ज्ञानमाद्यसमय एव भवेत्, पुरुषेषु शक्तितारतम्यस्योपलभ्यमानस्यापनेतुमशक्यत्वात्, न चैतदिष्टापादनतया परि-

हर्तुं शक्यं, विशिष्टमतेरपि शब्दरूपधर्मिग्रहणे सत्येवोत्तरोत्तरक्रमिकबहुधर्मविशेषग्रहणस्य न्याय्यत्वात्, प्रथमसमय एव बहुतरग्रहणस्य "न उण जाणइ के वेस सद्देत्ति" सूत्रविरुद्धत्वादित्यभिप्रायेण तन्मतखण्डनमुपनिबध्नाति ।

पृ. ६. पं. १३ **तन्नेति**–उक्तमतं न समीचीनमित्यर्थः ।

पृ. ६. पं. १३ **व्यक्ततरस्य**–अतिपरिचितविषयस्य प्रमातुः ।

पृ. ६. पं. १३ **व्यक्तशब्दज्ञानमतिक्रम्यापि**–इति–जातमात्रस्य बालस्य प्रथमसमयेऽव्यक्तशब्दज्ञानं, तदतिक्रम्य परिचितविषयस्य जन्तोः यथा प्रथमसमय एव व्यक्तशब्दज्ञानं; तत्र यथा प्रथममव्यक्तशब्दज्ञानं ततो व्यक्तशब्दज्ञानमिति न क्रमः, किन्तु प्रथममेव व्यक्तशब्दज्ञानं, तथाऽतिपरिचितविषयस्य पटुतरमतेः प्रथमसमयएव व्यक्तशब्दज्ञानमतिक्रम्यापि शाङ्खत्वादिबहुविशेषग्रहः प्रसज्येतेत्यर्थः । उक्तापादनस्येष्टापत्तितया परिहरणं सूत्रविरोधेन निषेधति ।

पृ. ६. पं. १४ **न चेष्टापत्तिः**, "न पुनर्जानाति क एष शब्दः' इति सूत्रावयवस्याविशेषेणेति–जातमात्र–परिचितविषय–परिचिततरप्रमातृसाधारण्येन, विशेषधर्मग्रहणे सामान्यधर्मिग्रहणस्य कारणत्वेन प्रथमं शब्दरूपधर्मिग्रहणं विना तद्गतबहुविशेषग्रहणं विशिष्टमतेरपि प्रमातुर्न सम्भवतीत्याह ।

पृ. ६. पं. १६ **प्रकृष्टमतेरपीति**–विषयविषयिसन्निपातानन्तरं सामान्यमात्रग्राहिदर्शनं भवति, तदनन्तरमवान्तरशब्दत्वादिसामान्यविशेषावग्राह्यर्थावग्रहो भवति, इति केचिदभ्युपगच्छन्ति, तन्मतं प्रतिक्षेप्तुमुपन्यस्यति ।

पृ. ६. पं. १८ **अन्ये तु–आलोचनेति**–"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञान–सदृशं शुद्धवस्तुजम्" ॥ १ ॥ इति वचनात् निर्विकल्पकं ज्ञानमव्यक्तं सामान्यग्राहि आलोचनं, तत्पूर्वकं तदुत्तरकालीनमर्थावग्रहमाचक्षते कथयन्तीत्यर्थः ।

पृ. ६. पं. १८ **तत्र**–उक्तमते ।

पृ. ६. पं. १९ **अव्यक्तसामान्यग्राहि**–अवान्तरविशेषमात्राप्रतिभासि सामान्यग्राहि ।

पृ. ६. पं. १९ **अर्थावग्रहस्तु**–शब्दोऽयमित्यवान्तरशब्दत्वलक्षणसामान्यविशेषग्राहिज्ञानं पुनः ।

पृ. ६. पं. १९ **इतरव्यावृत्तवस्तुस्वरूपग्राही**–शब्देतररूपादिव्यावृत्तशब्दात्मकवस्तुस्वरूपग्राही ।

पृ. ६. पं. २० **इति**–एवमभ्युपगमेन ।

पृ. ६. पं. २० **न सूत्रानुपपत्तिः**–"तेणं सद्देत्ति उग्गहिए" इति सूत्रस्य शब्दोऽयमित्यवग्रहेण शब्द इत्यवगृहीत इत्यर्थकस्य नानुपपत्तिः । अर्थावग्रहे शब्दत्वेन शब्दभानस्य स्वीकारात्तथा तदर्थस्य सम्भवादित्याशयः । भवदभ्युपगतमालोचनाज्ञानं व्यञ्जनावग्रहात्पूर्वं तत्पश्चाद्व्यञ्जनावग्रहरूपं वा न सम्भवति, प्रकारान्तरेण तत्सम्भवश्चासम्भावित एवेति न तदुपगमो ज्यायानिति प्रतिक्षिपति ।

पृ. ६. पं. २० **तदसत्; यत आलोचनं व्यञ्जनावग्रहात् पूर्वं स्यात्, पश्चाद्वा, स एव वा ? अथवा व्यञ्जनावग्रह एवालोचनाज्ञानम् ।**

पृ. ६. पं. २१ **नाद्य इति**–व्यञ्जनावग्रहात्पूर्वमालोचनाज्ञानमिति प्रथमकल्पो न युक्त इत्यर्थः । व्यञ्जनावग्रहात्पूर्वं शब्दादिपरिणतद्रव्यनिकुरम्बात्मकार्थेन सह श्रोत्रादीन्द्रियलक्षणव्यञ्जनस्य सम्बन्धसद्भावे व्यञ्जनावग्रह एव स्यान्नालोचनम्, उक्तसम्बन्धस्याभावे चाव्यक्तसामान्यग्रहणलक्षणालोचनाज्ञानस्य कारणाभावादेव न सम्भव इत्याह ।

पृ. ६. पं. २१ **अर्थव्यञ्जनसम्बन्धं विना तदयोगात्**–आलोचनाज्ञानासम्भवात् ।

पृ. ६. पं. २२ **न द्वितीय इति**–व्यञ्जनावग्रहात्पश्चादालोचनाज्ञानमिति द्वितीयपक्षोऽपि न युक्त इत्यर्थः । व्यञ्जनावग्रहार्थावग्रहयोरन्तरालकालस्य ताभ्यां विमुक्तस्याभावाद्व्यञ्जनाग्रहान्त्यसमयेऽर्थावग्रहसद्भावस्यैवोपगमेन न तदानीमालोचनाज्ञानसम्भव इत्याह ।

पृ. ६. पं. २२ **व्यञ्जनावग्रहान्त्यसमयेऽर्थावग्रहस्यैवोत्पादादालोचनानवकाशात् । न तृतीयः**–इति–व्यञ्जनावग्रह एवालोचनाज्ञानमिति

तृतीयविकल्पोऽपि न सम्भवतीत्यर्थः, व्यञ्जनावग्रहस्यैवालोचनाज्ञानमिति नामकरणे न नो विवादः परिभाषाया अपर्यनुयोज्यत्वात्, परं तस्यार्थविषयकत्वाभावादर्थालोचनत्वन्न सम्भवतीत्याह ।

पृ. ६. पं. २४ **व्यञ्जनावग्रहस्यैवेति**–यदि च व्यञ्जनावग्रहतयाऽभ्युपगम्यमानमालोचनाज्ञानं सामान्यमात्रविषयकमभ्युपेयते तदाऽपि तदनन्तरमेव शब्दोऽयमिति शब्द एवैष इति सामान्यविशेषस्वरूपशब्दत्वस्य निश्चयरूपोऽर्थावग्रहो भवदभिमतो न स्यादेव, ईहित एवार्थे विशेषनिश्चयसम्भवो नानीहिते । न चालोचनानन्तरक्षणे युगपदेवेहोक्तार्थावग्रहौ स्यातामिति कल्पना युक्ता, अर्थावग्रहकालस्यैकसमयत्वात्, ईहाकालस्यासङ्ख्येयसमयत्वात् शब्दोऽयमित्यवग्रहस्य च वस्तुतोऽपायरूपत्वेन तत्कालस्येहासङ्ख्येयकालात्पृथगेवासङ्ख्येयकालत्वादित्याशयेनाह ।

पृ. ६. पं. २५ **किञ्चेति**–अर्थावग्रहस्यैकसामयिकत्वमीहायाश्चासङ्ख्येयसमयमानत्वमतो न युगपत्तयोः सम्भवः, अपि च भवदुपगतोऽर्थावग्रहो निश्चयरूपः, ईहा चानिश्चयरूपा, न चैकस्मिन्नर्थे एकदैवैकपुरुषस्य निश्चयानिश्चययोः इत्यपि बोध्यम् । ननु क्षिप्रमवगृह्णातीत्यादिना क्षिप्र–चिर–बहु–अबहु–बहुविध–अबहुविधाऽनिश्रित–निश्रिता–ऽसन्दिग्ध–सन्दिग्ध–ध्रुवा–ऽध्रुवत्वलक्षणद्वादशविशेषणैर्विशेषिताः क्षिप्रावग्रहणादिस्वरूपा द्वादशार्थावग्रहास्तत्त्वार्थे प्ररूपिताः, ततश्च नैकसामयिक एवार्थावग्रहः किन्त्वसङ्ख्येयसमयमानोऽप्यसाविति ईहया समसमयमानत्वसम्भवेन समकालमुत्पत्तिर्विशेषविषयकत्वञ्च सम्भविष्यतीति शङ्कते ।

पृ. ६. पं. २७ **नन्ववग्रहेऽपि**–अर्थावग्रहेऽपि, अपिनेहाया असङ्ख्येयमानत्वस्याम्रेडनम्, बहुबहुविधादिग्राहकस्य विशेषविषयकनिश्चयरूपस्यैव सम्भवेन तथाविधस्येहानन्तरभावित्वेनापायत्वमेव, उक्तविशेषणकापायकारणत्वादेवावग्रहे उपचारमाश्रित्य क्षिप्रावग्रहत्वचिरावग्रहणत्वादिना तत्त्वार्थादौ द्वादशविधत्वप्ररूपणं, कारणेऽप्यवग्रहे सामान्यग्राहिणि विशेषग्राहिकार्यापायस्वरूपं शक्त्यात्मना योग्यतयाऽस्तीति तथाप्ररूपणन्नासङ्गतम्, अन्यथाऽशेषविशेषापरामृष्टसामान्यग्राहिण्यर्थावग्रहेऽनुपचरितस्य विशेषविषयकत्वनियतस्योक्तद्वादशविधत्वस्यासम्भवादिति समाधत्ते ।

पृ. ७. पं. १ न; तत्त्वतः—परमार्थतः ।

पृ. ७. पं. १ तेषाम्–क्षिप्रेतरादिभेदानाम् ।

पृ. ७. पं. १ कारणे–क्षिप्रेतरादिग्रहणस्वभावापायकारणेऽर्थावग्रहे ।

पृ. ७. पं. १ कार्योपचारमाश्रित्य–कार्यस्य क्षिप्रेतरादिग्रहणस्वभावापायस्य, उपचारं तद्गतधर्मस्य स्वरूपयोग्यतयाऽर्थावग्रहे कल्पितं सत्त्वम् अवलम्ब्य क्षिप्रग्रहणत्वादिकमनुपचरितमेव कुतो नार्थावग्रहस्येत्याकाङ्क्षायामाह ।

पृ. ७. पं. २ अविशेषविषय इति–विशेषविषयकत्वविकले सामान्यमात्रग्राहिण्यवग्रह इति यावत्, मुख्यतोऽप्यर्थावग्रहे क्षिप्रेतरादिभेदत्वमुपपादयितुं कल्पान्तरमाह ।

पृ. ७. पं. ४ अथवा अवग्रहः–अर्थावग्रहः ।

पृ. ७. पं. ४ आद्यः–नैश्चयिकोऽर्थावग्रहः ।

पृ. ७. पं. ५ सामान्यमात्रग्राही—रूपादिभ्योऽव्यावृत्तस्याव्यक्तस्य शब्दादिवस्तुसामान्यस्य ग्राहकः ।

पृ. ७. पं. ५ द्वितीयश्च–व्यावहारिकोऽर्थावग्रहः पुनः ।

पृ. ७. पं. ५ विशेषविषयः–शब्दादिवस्तुसामान्यसत्तालक्षणमहासामान्यावान्तरशब्दत्वादिसामान्यविशेषविषयकः । नन्वव्यक्तशब्दादिवस्तुसामान्यग्राह्यवग्रहस्य नैश्चयिकस्यावग्रहत्वं युक्तं, यतस्तेनावगृहीते सामान्ये किमयं शब्दोऽशब्दो वेतीहाप्रवृत्त्यनन्तरं शब्द एवायमित्यपायस्य सम्भवात्, शब्द एवायमिति व्यावहारिकार्थावग्रहानन्तरन्त्वीहाद्यभावात्कथमस्यार्थावग्रहत्वमित्यत आह ।

पृ. ७. पं. ५ तदुत्तरमिति–शब्दोऽयमिति व्यावहारिकार्थावग्रहानन्तरमित्यर्थः ।

पृ. ७. पं. ५ उत्तरोत्तरेति–शब्दोऽयमिति निश्चये जातेऽपि किमयं शब्द

शाङ्खः शार्ङ्गो वेति सन्दिह्य प्रायः शाङ्खेनानेन भवितव्यमितीहा प्रवर्तते, ततः शाङ्ख एवायमित्येवं निश्चयात्माऽपायो भवति, एतस्मात्कारणादुच्यते शब्दोऽयमिति ज्ञानस्यार्थावग्रहत्वम्, एवं शाङ्ख एवायमिति निश्चयानन्तरं देवदत्तेन यज्ञदत्तेन वाऽऽध्मातस्य शङ्खस्य शब्दोऽयमिति सन्दिह्य प्रायो देवदत्ताध्मातशङ्खशब्देनानेन भवितव्यमितीहा प्रवर्त्तते, ततो देवदत्ताध्मातशङ्खशब्द एवायमिति निर्णयात्मकोऽपायो भवतीति तदपेक्षया शाङ्ख एवायमित्यस्यार्थावग्रहत्वमित्येवं यद्यद्धर्मापेक्षया विशेषधर्मस्सम्भवति तत्तद्धर्मग्रहणं भविष्येहापायपूर्वकालीनमवग्रहस्वरूपं स्वविषयगतावगृहीतसामान्यधर्मापेक्षया विशेषावगाहित्वादपायस्वरूपञ्च, यदपायविषयीभूतधर्मापेक्षया परतो विशेषधर्मा न सन्ति, तत्रानन्तरमीहापायाप्रवृत्तेरसोऽप्यपाय एव न व्यावहारिकार्थावग्रह इति भावः ।

पृ. ७. पं. ६ **अन्यथा**-शब्द एवायमिति निश्चयस्य नैश्चयिकावग्रहगृहीते सामान्ये ईहिते चानन्तरभावित्वेनापायरूपस्य व्यावहारिकावग्रहत्वानभ्युपगमे ।

पृ. ७. पं. ६ **अवग्रहं विना**-अर्थावग्रहं विना ।

पृ. ७. पं. ७ **ईहानुत्थानप्रसङ्गात्**-किमयं शब्दः शाङ्खः शार्ङ्गो वेत्याद्युत्तरविशेषाकाङ्क्षणरूपानुत्पादप्रसङ्गात् । ईहाम्प्रति अवग्रहस्य कारणत्वात्कारणाभावे कार्यासम्भवादितीहाकार्यान्यथानुपपत्त्याऽवग्रहोऽवश्यमेव कल्पनीय इत्यन्यस्यार्थावग्रहस्य प्रकृतेऽसम्भवाच्छब्दोऽयमित्यपाय एव तत्रार्थावग्रह इति ।

पृ. ७. पं. ७ **अत्रैव**-व्यावहारिकार्थावग्रह एव ।

पृ. ७. पं. ७ **अत एवेति**-प्राथमिकापायस्य व्यावहारिकार्थावग्रहत्वाभ्युपगमादेवेत्यर्थः ।

पृ. ७. पं. ७ **उपर्युपरीति**-प्रथमापायानन्तरं तद्रूपव्यावहारिकार्थावग्रहगृहीते शब्दत्वरूपे महासामान्यसत्त्वापेक्षया विशेषस्वरूपेऽपि शाङ्खत्वाद्युत्तरविशेषापेक्षया सामान्यस्वरूपे ईहातोऽपायात्मा शाङ्खोऽयमिति ज्ञानम्भवति, तदनन्तरं तद्रूपव्यावहारिकार्थावग्रहगृहीते शाङ्खत्वरूपे शब्दत्वलक्षणसामान्यापेक्षया विशेषरूपेऽपि देवदत्ताध्मातशङ्खप्रभवत्वाद्युत्तरविशेषापेक्षया सामान्यरूपे ईहातोऽपायात्मा देवदत्ताध्मातशङ्खप्रभव एवायमिति ज्ञानम्भवतीत्येवं क्रमेणोपर्युपरिज्ञान-

धारा प्रवृत्तिलक्षणज्ञानसन्ततिरूपव्यवहारः सङ्गच्छते, प्रथमापायस्यावग्रहरूपत्वाभावे च तद्विषयस्य विशेषस्यावगृहीतत्वाभावान्न तत्रेहा, तदभावाच्च न द्वितीयापायः, एवं न तृतीयापाय इत्युक्तक्रमिकज्ञानसन्तानलक्षणव्यवहारविलोप एव प्रसज्येतेति भावः ।

॥ इत्यर्थावग्रहनिरूपणम् ॥

॥ अथ ईहाया निरूपणम् ॥

अथ ईहान्निरूपयति ।

पृ. ७. पं. ९ **अवगृहीतेति**—अत्र ईहेति लक्ष्यनिर्देशः, अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षणमिति लक्षणनिर्देशः । अत्र अवगृहीतेत्यत्रावग्रहतया नैश्चयिकार्थावग्रहणे तद्विषयीभूतं रूपाद्यव्यावृत्ताव्यक्तशब्दादिवस्तुमात्रमवगृहीतं, तत्र विशेषस्य महासामान्यसत्त्वापेक्षया शब्दत्वादिलक्षणावान्तरसामान्यरूपस्य विशेषस्याकाङ्क्षणं विमर्शो मीमांसेति यावत्, तच्च किमिदं वस्तु मया गृहीतं शब्दोऽशब्दो वा रूपादिरिति, एवम्भूताकाङ्क्षणं नैश्चयिकावग्रहानन्तरमीहा भवति । व्यावहारिकार्थावग्रहग्रहणे तु शब्दोऽयमित्यवग्रहविषयीभूतं शब्दत्वं शाङ्खत्वाद्यपेक्षया सामान्यं, तत्र विशेषस्य शब्दत्वापेक्षया शाङ्खत्वादेराकाङ्क्षणं कोऽयं शब्दः ? शाङ्खः शार्ङ्गो वेति, एतच्च व्यावहारिकेहास्वरूपमवगन्तव्यम् । अवगृहीतेत्यादिलक्षणपर्यवसितार्थमादाय ईहालक्षणमावेदयति ।

पृ. ७. पं. ९ **व्यतिरेकेति**—विमर्शेऽन्वयधर्मो विधिरूपो व्यतिरेकधर्मश्च तदभावरूपस्तदभावव्याप्यरूपश्चावभासते, तत्र यादृशबोधो व्यतिरेकधर्मनिराकरणपरोऽन्वयधर्मस्य सङ्घटनपरः स बोध ईहेत्यर्थः । उदाहरति ।

पृ. ७. पं. १० **यथा-श्रोत्रग्राह्यत्वादिनेति**—श्रोत्रग्राह्यत्वादिरसाधारणो धर्मः शब्दस्यैव, रूपादौ तु स नास्तीति शब्दत्वाभावस्य तद्व्याप्यस्य रूपादित्वादेर्व्यतिरेकधर्मस्य निराकरणमन्वयधर्मस्य शब्दत्वस्य सङ्घटनं श्रोत्रग्राह्यत्वादिना प्रायोऽनेन शब्देन भवितव्यमितिबोधेन क्रियत इति स बोध ईहा, इयं चेहा नैश्चयिकावग्रहस्य सामान्यमात्रग्राहिणोऽनन्तरम्भवतीति । शब्दोऽयमिति विशेषावगाहिनो व्यावहारिकावग्रहस्यानन्तरं येहा समुद्भवति तामुदाहरति ।

पृ. ७. पं, ११ मधुरत्वादीति–मधुरत्वादिरसाधारणधर्मः शाङ्खादिशब्द-विशेषस्यैव; न स शार्ङ्गादिशब्दविशेषेऽस्तीति तेन धर्मेण शाङ्खादित्वाभावस्य तद्व्याप्यस्य शार्ङ्गत्वादेर्व्यतिरेकधर्मस्य निराकरणमन्वयधर्मस्य शाङ्खत्वादेः सङ्घटनं मधुरत्वादिना प्रायोऽनेन शाङ्खादिना भवितव्यमिति बोधेन क्रियत इति स बोध ईहेत्यर्थः । संशयस्य विधिव्यतिरेकयोर्दोलायमानतया समभावेन प्रवृत्तिः, ईहायाश्च व्यतिरेकापाकरणेन अन्वयधर्मसङ्घटनद्वारा निश्चयात्मकापायाभिमुखत्वेन प्रवृत्तत्वात्संशयाद्भेद इत्याह ।

पृ. ७. पं. १२ न चेयं–ईहानिषेधे हेतुमाह ।

पृ. ७. पं. १२ तस्येति–संशयस्येत्यर्थः ।

पृ. ७. पं. १२ एकत्रेति–एकत्र धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मप्रकारकं ज्ञानं संशय इति तस्य व्यतिरेकेऽन्वयधर्मे च दोलायमानतैव, न तु निश्चयाभि-मुखत्वमिति ।

पृ. ७. पं. १३ अस्याश्च–ईहायाः पुनः ।

। इति ईहानिरूपणम् ।

॥ अथ अपायनिरूपणम् ॥

मतिज्ञानस्य तृतीयभेदमपायं निरूपयति ।

पृ. ७. पं. १५ ईहितस्येति–अत्र ईहितस्य विशेषनिर्णय इति लक्षण-निर्देशः, अपाय इति लक्ष्यनिर्देशः । श्रोत्रग्राह्यत्वादिनेहितस्येहया विषयीकृतस्य निश्चयाभिमुखीकृतस्य विशेषनिर्णयः–श्रोत्रग्राह्यत्वादितः शब्द एवाऽयं न रूपादि-रिति निश्चयात्मको यो बोधः सोऽपाय इत्यर्थः । उदाहरति ।

पृ. ७. पं. १५ यथा "शब्द एवायमिति"–निश्चयावग्रहानन्तरभाव्य-पायस्वरूपकथनमेतत् ।

पृ. ७. पं. १६ शाङ्ख एवायमिति–वेति–वा अथवा, शाङ्ख एवायमि-तिनिर्णयोऽपायः । अनेन व्यावहारिकार्थावग्रहानन्तरभावी अपाय उक्तः । अत्र

ईहितस्य मधुरत्वादिना प्रायः शाङ्खेनानेन भवितव्यमित्येवमीहया विषयीकृतस्य निश्चयाभिमुखीभूतस्य मधुरस्निग्धत्वादिगुणत्वात् शङ्खस्यैवाऽयं शब्दो न शार्ङ्गस्य इति यो विशेषनिर्णयः सोऽपाय इत्येवं लक्षणानुगमो विधेयः ।

॥ इति अपायनिरूपणम् ॥

॥ अथ धारणानिरूपणम् ॥

मतिज्ञानस्य चतुर्थभेदं धारणाज्ञानं निरूपयति ।

पृ. ७. पं. १७ **स एवेति**–अत्र स एव दृढतमावस्थापन्न इति लक्षणनिर्देशः, धारणेति लक्ष्यनिर्देशः, दृढतमावस्थापन्नोऽपाय एव धारणेति कश्चित्कालमवस्थितस्सन् दाढर्यभावमापन्नोऽपायो धारणेति यावत्, तां विभजते ।

पृ. ७. पं. १७ **सा चेति**–धारणा चेत्यर्थः, अविच्युत्यादीनां क्रमेण लक्षणमुपदर्शयति ।

पृ. ७. पं. १८ **तत्रेति**–तेषु मध्य इत्यर्थः, एकार्थोपयोगसातत्या निवृत्तिरिति लक्षणम् अविच्युतिरिति लक्ष्यम्, अपायेन निश्चितेऽर्थे कियत्कालपर्यन्तमुपयोगसातत्येन वर्तते न तु तस्मान्निवर्त्तते, अर्थादन्तराऽन्तरा तमर्थं परित्यज्य नान्यविषयकोपयोगो भवति । सैकार्थोपयोगसातत्यानिवृत्तिः अविच्युतिर्नामधारणायाः प्रथमभेद इत्यर्थः । स्मृतिनामकं धारणाया द्वितीयभेदं लक्षयति ।

पृ. ७. पं. १९ **तस्यैवेति**–अविच्युतिलक्षणा धारणा कियत्कालानन्तरं विषयान्तरसञ्चारादिना विनश्यति, परं तया धारणया वासनालक्षणः संस्कार आत्मनि स्मृतिहेतुराधीयते, तादृशसंस्कारवशात्तिरोहितस्यापि तस्यार्थोपयोगस्यैव कालान्तरे तदेवोल्लेखने यत्समुन्मीलनं प्रकटनं–उत्तरकालं तदेवेत्युल्लेखशालियज्ज्ञानमाविर्भवति तत् स्मृतिरूपा धारणेत्यर्थः । वासनारूपं तृतीयं धारणाभेदं लक्षयति ।

पृ. ७. पं. २० **अपायाहित इति**–यद्यपि संस्कार इत्येव वासनाया लक्षणं सम्भवति, तथापि क्रियाजनकवेगस्थितिस्थापकसंस्कारयोरपि संस्कारत्वात्तद्व्यावृत्तये अपायाहित इति, अपायात्मकज्ञानस्यैवापाय इति नामान्तरं, तथा

च, अपायजन्यः स्मृतिहेतुर्यो भावनाख्यः संस्कारः स वासनेत्यर्थः । यद्यपि किञ्चित्कालं सातत्येनानुवर्तमानस्यापायस्यैवाविच्युतिलक्षणधारणारूपतया तस्य स्वावरणकर्मक्षयोपशमेन स्वाधारजीवगतेन कालान्तरे उद्बोधकसमवहितेन भावनाख्यसंस्कारात्मतामुपगतेन तदेवमित्याकारस्मृतिरूपेण यदुन्मीलनं तस्य स्मृतित्वेन तत्पूर्वभाविन्या अपायानन्तरभाविन्याश्च वासनाया तयोर्मध्य एव निरूपणमुचितमिति द्वितीयभेदतया वासनायास्तृतीयभेदतया स्मृतेरभिधानं न्याय्यम्, तथापि अविच्युतिलक्षणधारणास्मृत्योस्स्वसंवेदनसिद्धतया स्मृतिम्प्रति अविच्युतिलक्षणधारणाया एवान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वस्यावधृततया, अपायस्योपेक्षात्मकस्यापि सम्भवेनापायत्वस्यातिप्रसक्ततयोपेक्षानात्मकज्ञानमात्रस्य रूपाविच्युतिमात्रवृत्तित्वेनाविच्युतित्वस्य स्मृतिकारणतावच्छेदकत्वेन तेन रूपेण कारणीभूताया अविच्युतेश्चिरंविनष्टायाः कालान्तरभाविनीं स्मृतिम्प्रति कारणत्वन्न सम्भवतीत्येतदर्थं तद्व्यापारतया वासनाकल्पनमिति स्मृत्यन्यथानुपपत्त्यैव वासनायाः कल्पनीयत्वेन तस्याः स्मृतिनिरूप्यत्वेन स्मृतिनिरूपणानन्तरं निरूपणन्नायुक्तमिति तृतीयभेदतया वासनानिरूपणमिति बोध्यम् । यद्यपि व्यञ्जनावग्रहार्थावग्रहेहाऽपायाविच्युतिस्मृतिवासनाभेदेन मतिज्ञानस्य सप्तविधत्वं, तथापि व्यञ्जनावग्रहार्थावग्रहयोरवग्रहत्वेनैक्यमविच्युतिस्मृतिवासनानां धारणात्वेनैक्यमभिसन्धाय मतिज्ञानस्य सांव्यवहारिकप्रत्यक्षरूपस्य चतुर्धा विभजनं सुसङ्गतमेवेत्याशयेनाह ।

पृ. ७. पं. २१ **द्वयोरिति**–व्यञ्जनार्थभेदेन द्विविधयोरित्यर्थः ।

पृ. ७. पं. २१ **तिसृणामिति**–अविच्युतिस्मृतिवासनाभेदेन त्रिविधानामित्यर्थः, न विभागव्याघात इति, मतिज्ञानस्य सप्तविधत्वे न्यूनाधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदकत्वासम्भवेन चतुर्धा विभजनस्य यो व्याघातः स नेत्यर्थः । व्युत्पत्त्यर्थाश्रयणेनापायधारणयोस्स्वरूपतो भेदमभ्युपगच्छतां मतं प्रतिक्षेप्तुमुपन्यस्यति ।

पृ. ७. पं. २३ **केचित्त्विति**–अस्य आहुरित्यनेनान्वयः, अपनयनमित्यादि–अनुसारिण इत्यन्तं केचिदित्यस्य विशेषणम्, अपनयनमपाय इति व्युत्पत्त्याश्रयणेन योऽर्थःपर्यवसितस्तमुपदर्शयति ।

पृ. ७. पं. २४ **असद्भूतेति**–अयं स्थाणुरितिज्ञाने नायं पुरुष इति ज्ञान-

मपायः, तत्रोक्तलक्षणसङ्गमना यथा–सन् स्थाण्वादिरर्थस्तदन्यः पुरुषादिरर्थोऽसद्भूतोऽर्थः तस्य ये विशेषाः शिरःकण्डूयनचलनस्यन्दनादयस्तेषां पुरोवर्त्तिनि-सद्भूते स्थाण्वादिरूपेऽर्थे यो व्यतिरेकोऽभावः तस्यावधारणं निर्णयः–नायं पुरुष इति ज्ञानं, तदेवासद्भूतार्थविशेषापनोदनक्षमत्वेन अपाय इत्यर्थः । तत्रैव धरणं च धारणेति व्युत्पत्त्यर्थावलम्बनेन यद्धारणास्वरूपं पर्यवसितं तदुपदर्शयति ।

पृ. ७. पं. २४ सद्भूतेति–अनेन लक्षणेन स्थाणुरेवायमिति ज्ञानं धारणेति ज्ञायते, तत्रोक्तलक्षणसमन्वयो यथा-सद्भूतोऽर्थः पुरोवर्तिनिर्देशे विद्यमानः स्थाण्वादिस्तस्य विशेषस्स्थाणुत्वादिरसाधारणो धर्मस्तस्यावधारणं स्थाणुरेवायमिति ज्ञानं धारणेत्यर्थः ।

पृ. ७. पं. २५ तन्न–उक्तमतं न समीचीनम्, तत्र हेतुमाह ।

पृ. ७. पं. २५ क्वचिदित्यादि–यत्रासद्भूतार्थविशेषापनयनं यत्र च सद्भूतार्थानुगमनं यत्र च तदुभयं–सर्वत्र तद्द्वारा जायमानोऽपायः स्थाणुरेवायमिति निश्चयस्वरूप एवेति तस्यापायत्वमेव । ननु अन्यविशेषव्यतिरेकावधारणस्यापायत्वं सद्भूतान्वयधर्मावधारणस्य धारणात्वमिति तयोर्भेदाकलनं युक्तं, तथा सत्युक्तप्रकाराभ्यां व्यतिरिक्ता स्मृतिरपि ज्ञानान्तरं स्यादिति मतेः पञ्चप्रकारत्वापत्त्या चतुर्विधत्वं व्याहन्येतेति सम्मुखीनोऽर्थः । अक्षरार्थस्तु ।

पृ. ७. पं. २५ क्वचित्–यत्र विषये प्रमातुः नेह शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा दृश्यन्ते इति असद्भूतार्थविशेषव्यतिरेकालोचनं तत्र ।

पृ. ७. पं २५ तदन्यव्यतिरेकपरामर्शात्–पुरोवर्त्तिस्थाणुगतधर्मान्याभावावधारणात्, भवतो जायमानस्य ।

पृ. ७. पं. २७ अपायस्य-स्थाणुरेवायमिति ज्ञानस्य ।

पृ. ७. पं. २६ क्वचित्–यत्र विषये प्रमातुः वल्युत्सर्पणवयोनिलयनादिकमत्र दृश्यते इति सद्भूतार्थविशेषपर्यालोचनं तत्र विषये ।

पृ. ७. पं. २६ अन्वयधर्मसमनुगमात्–पुरोवर्त्तिस्थाण्वनुगतधर्मस्य निश्चयनात् भवतोऽपायस्येत्यस्योक्तार्थस्य सम्बन्धः ।

पृ. ७. पं. २६ क्वचिच्च–यत्र च विषये प्रमातुःअसद्भूतार्थविशेषव्यतिरेकालोचनं सद्भूतार्थविशेषपर्यालोचनञ्च तत्र।

पृ. ७. पं. २६ उभाभ्यामपि–तदन्यव्यतिरेकपरामर्शान्वयधर्मसमनुगमाभ्यामपि, भवतोऽपायस्येत्युक्तार्थक एव सम्बध्यते, निश्चयैकरूपेण निश्चयत्वलक्षणापायसामान्यधर्मेण।

पृ. ७. पं. २७ भेदाभावात्–विशेषाभावादिति।

पृ. ७. पं. २७ अन्यथा–असद्भूतार्थविशेषव्यतिरेकावधारणस्यापायत्वं सद्भूतार्थविशेषावधारणस्य धारणात्वमित्येवमपायधारणयोर्भेदेन स्वरूपनिर्वचने।

पृ. ७. पं. २८ स्मृतेराधिक्येनेति–अविच्युतेस्त्वसमानकालभाविनि अपाये व्यतिरेकावधारणलक्षणे व्यतिरेकावधारणलक्षणाया अन्तर्भूतत्वादन्वयावधारणलक्षणायास्तस्या अन्वयावधारणलक्षणायां स्वसमानकालीनायामन्तर्भूतत्वाद्वासनायास्तु स्मृतावेवान्तर्भावयितुं शक्यत्वात् स्मृतेस्तु न कुत्राप्यन्तर्भाव इत्येवमाधिक्येनेत्यर्थः।

पृ. ७. पं. २८ मतेःपञ्चभेदत्वप्रसङ्गादिति–अवग्रहेहापायधारणाश्चत्वारो भेदा मतेस्त्वयाऽभ्युपगता एव, स्मृतिस्तु पञ्चमो भेद इत्येवं मतिज्ञानस्य पञ्चविधत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। ननूक्तदिशा सद्भूतार्थविशेषावधारणस्यास्मदभिमतंधारणात्वं नाङ्गीक्रियते तदा भवदभिमतं मतेश्चातुर्विध्यं न स्यान्मत्युपयोगोपरमे कालान्तरे जायमानायाः स्मृतेर्मत्यंशत्वाभावाद्वासनाया अपि मत्युपयोगोपरमे जायमानायाः स्मृतावेवान्तर्भावात् उपयोगसातत्यलक्षणाऽविच्युतिस्त्वपाय एवेति त्रैविध्यमेव मतिज्ञानस्य भवेत्, कालान्तरे जायमानायाः स्मृतेर्मतित्वाभ्युपगमेऽपि वाऽस्मन्मते अन्वयावधारणरूपायां धारणायामन्तर्भावान्नास्मन्मते पञ्चविधत्वं मतेरापतत्यपीति शङ्कते।

पृ. ७. पं. २८ अथ नास्त्येव भवदभिमता–स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणेति भवल्लक्षणलक्षिता, भेदचतुष्टयव्याघातमेव भावयति।

पृ. ७. पं. २९ तथाहीति–उपयोगोपरमे–मत्युपयोगोपरमे, ननूपयोगा-

नुपरम एवाविच्युतिलक्षणा धारणेष्यते सा मतिस्स्यादित्यत आह ।

पृ. ७. पं. २९ उपयोगेति–तथा च तस्या अपायरूपत्वन्न, तामादाय मतेश्चातुर्विध्यमिति भावः । कालान्तरे जायमानाया वासनाया स्मृतेश्च मत्युपयोगत्वमेव न सम्भवतीति न वासनां स्मृतिं वोपादाय मतेश्चातुर्विध्यसङ्घटना युक्तिमतीत्याह ।

पृ. ८. पं. २ या च "तदेव" इतिलक्षणा स्मृतिः सा–वासना स्मृतिश्च, कथं न तयोर्मत्यंशधारणारूपत्वमित्यपेक्षायामाह ।

पृ. ८. पं. ४ मत्युपयोगस्येति–मत्युपयोगोपरमे जायमानस्य न मतित्वमित्यभिसन्धिः । एवमपि मतित्वाभ्युपगमेऽस्मन्मतेऽपि न स्मृतेराधिक्यनिबन्धनस्य मतिज्ञाने पञ्चविधत्वस्य प्रसङ्गः, अन्वयावधारणरूपायां धारणायां तस्या अन्तर्भावसम्भवादित्याह ।

पृ. ८. पं. ५ कालान्तर इति–भवतान्तु अन्वयावधारणस्याप्यपायत्वेन कालान्तरे जायमानज्ञाने मतिज्ञानत्वाभ्युपगमे स्मृतेरप्यपायत्वमेव भवितुमर्हतीत्येवमपि त्रैविध्यमेव मतेः प्रसज्यत इति शङ्कितुर्गूढाभिसन्धिः । कालान्तरे जायमानायाः स्मृतेर्वस्तुनिश्चयमात्रफलकादपायात्पूर्वापरदर्शनानुसन्धानफलकत्वेन विभिन्नकालीनत्वेन चाधिक्यं निर्विवादमेव, सा च स्मृतिर्यस्मात्पूर्वोपलब्धवस्त्वाहितसंस्कारस्वरूपाद्वासनाविशेषात्प्रादुर्भवति, स वासनाविशेषोऽपि पूर्वापायाद्विभिन्नकालीनतया भिन्न एवेति त्रिष्वप्येषु धारणात्वमिति चतुर्धा मतिविभजनं नासङ्गतमिति समाधत्ते ।

पृ. ८. पं. ६ नेति–अविच्युतेरित्यस्यापायाभ्यधिकत्वादित्यनेन सम्बन्धः ।

पृ. ८. पं. ७ पूर्वापरदर्शनानुसन्धानस्येति–तत्ता पूर्वदर्शनविषयता, इदन्ता वर्त्तमानदर्शनविषयता, ताभ्यां पूर्वापरदर्शनविषयाभेदमवगाहमानायास्तदेवेदमिति स्मृतेः पूर्वापरदर्शनानुसन्धानत्वमित्येतावताऽपायात्स्मृतेः फलभेद उपदर्शितः । पूर्वापायस्य कालान्तरे संस्कारात्मनाऽनुस्यूतस्य स्मृतिरूपेण परिणमनात्परिणामिपरिणामभावादनयोर्भेद इत्यावेदनायाह ।

पृ. ८. पं. ८ प्राच्यापायपरिणामस्येति–अस्याप्यपायाभ्यधिकत्वादित्यनेन सम्बन्धः ।

पृ. ८. पं. ९. तदाधायकेति—प्राच्यापायपरिणामस्मृत्याधायकेत्यर्थः, तदाधायकत्वं तदुत्पादकत्वम्, अनेन स्मृतेः कारणीभूताया वासनाया न स्मृतावन्तर्भाव इत्यप्यावेदितम् । अविच्युतिस्मृत्योः गृहीतग्राहित्वेनाबाधितागृहीतग्राहिज्ञानत्वलक्षणप्रामाण्याभावे प्रमाणविशेषमतिज्ञानभेदत्वासम्भवाद्वासनायाश्च विकल्पत्रयकवलितत्वान्नोक्तत्रयस्य मतिज्ञानभेदधारणारूपत्वमिति न मतिज्ञानस्य चतुर्विधत्वमिति शङ्कते ।

पृ. ८. पं. ११ नन्विति...तज्ज्ञानेति–स्मृतिज्ञानेत्यर्थः ।

पृ. ८. पं. १३ तद्वस्तुविकल्प इति–अपायविषयीभूतवस्तुनो विकल्पात्मकज्ञानमित्यर्थः ।

पृ. ८. पं. १३ तत्र–उक्तविकल्पत्रये ।

पृ. ८. पं. १३ आद्यपक्षद्वयम्–स्मृतिज्ञानावरणक्षयोपशमः संस्कार इति प्रथमपक्षः, तज्ज्ञानजननशक्तिः संस्कार इति द्वितीयपक्षश्च, अयुक्तत्वे हेतुमाह ।

पृ. ८ पं. १४ ज्ञानरूपत्वाभावादिति–स्मृतिज्ञानावरणक्षयोपशमस्मृतिज्ञानजननशक्त्योर्ज्ञानस्वरूपत्वासम्भवात्तद्विशेषमतिज्ञानविशेषधारणात्वासम्भवादित्यर्थः ।

पृ. ८. पं. १४ तद्भेदानाम्–ज्ञानविशेषाणाम् ।

पृ. ८. पं. १५ तृतीयपक्षोऽपि–तद्वस्तुविकल्पः संस्कार इति कल्पोऽपि, वस्तुविकल्पापेक्षया वासनालक्षणसंस्कारस्याधिककालस्थायित्वेन तयोरैक्यासम्भवादित्याह ।

पृ. ८. पं. १५ सङ्ख्येयमिति...एतावन्तं च कालं–वासनास्थित्याश्रयतया सम्मतयावत्कालं, गृहीतग्राहित्वादविच्युतेरप्रामाण्यं तदा स्याद्यदि गृहीतमात्रग्राहिण्येव सा भवेत्, न चैवं, पूर्वकालविशिष्टं हि वस्तु अपायेन गृह्यते, उत्तरकालविशिष्टं चाविच्युत्या, एवं स्पष्ट-स्पष्टतर-स्पष्टतमत्वलक्षणाविभि-

अधर्मयोगिवासनाजनकत्वेनाप्यविच्युतेरन्यान्यवस्तुग्राहित्वमवसीयते । स्मृतिस्तु प्रागनुभूतवस्त्वैक्यग्राहिणी सुतरामगृहीतविषया, इत्यगृहीतग्राहित्वात्तयोः प्रामाण्यमनाबाधमेव । वासना तु विकल्परूपा नाभ्युपगम्यत एव, किन्तु स्मृतिज्ञानावरणक्षयोपशमरूपा तज्ज्ञानजननशक्तिरूपा वा सा, कारणे कार्योपचारमाश्रित्य स्मृतिज्ञानजनिकायां तस्यां ज्ञानत्वमुपचर्यत इत्यविच्युत्यादित्रयरूपाया धारणायास्सम्भवान्मतिज्ञानस्य चतुर्विधत्वं सुयुक्तमेवेति समाधत्ते ।

पृ. ८. पं. १७ **न स्पष्टस्पष्टतरस्पष्टतमेत्यादि**–व्यक्तार्थम् ।

॥ इति धारणानिरूपणम् ॥

॥ अवग्रहादीनां क्रमादिपरीक्षणम् ॥

अवग्रहादीनां चतुर्णामुत्तरोत्तरम्प्रति पूर्वपूर्वस्य कारणत्वादवग्रहानन्तरमीहा, तदनन्तरमपायस्तदनन्तरं धारणेति क्रम एव, ननु व्युत्क्रमेणैतेषामुत्पत्तिः, यत्रावग्रहस्तत्रेहादीनामप्यवश्यमेव न तु कस्यचिद्भावः कस्यचिदभाव इति दर्शयति ।

पृ. ८. पं. २३ **एते चावग्रहादयो नोत्क्रमेति**–नञः उत्पद्यन्त इत्यनेनान्वयः । अत्र पश्चानुपूर्वीभवनमुत्क्रमः, तद्यथा पूर्वं धारणा ततोऽपायस्तत ईहा ततोऽवग्रह इति, अनानुपूर्वीभवनं व्यतिक्रमः, यथा कदाचिदवग्रहमतिक्रम्येहा, तामुल्लङ्घ्याप्यपायः, तमतिक्रम्य धारणेति आभ्यामुत्क्रमव्यतिक्रमाभ्यामवग्रहादयो नोत्पद्यन्ते इत्यर्थः । च पुनः ।

पृ. ८. पं. २३ **न्यूनत्वेन**–एषाम्मध्ये कदाचिदवग्रहस्यैव भवनं, कदाचिदवग्रहेहयोरेव भवनं, कदाचिदवग्रहेहापायानामेव भवनमित्येवं न्यूनत्वेन नोत्पद्यन्ते, यतश्चतुर्णामप्येषां क्रमेण भवने सत्येव वस्तुस्वभावावबोधो नान्यथेति चत्वारोप्येतेऽभ्युपगन्तव्या नैकादिमात्रमित्यर्थः । अयमभिप्रायः–अवग्रहागृहीते वस्तुनि तद्विचाररूपा नेहा सम्भवति, विचारस्य विचार्यमन्तरेणासम्भवात्, निश्चयलक्षणस्य चापायस्य विचारपूर्वकत्वेन विचाररूपेहामन्तरेण सम्भवाभावात्, निश्चितवस्त्ववधारणरूपाया धारणाया निश्चयपूर्विकाया निश्चयात्मकापायमन्तरेणासम्भवात् वस्त्ववगमस्यैवंक्रमेणैव सम्भवित्वेनेत्थमेवैषां क्रमो युक्तो, नोत्क्रमव्यतिक्रमौ नापि न्यूनत्वमिति । ननु भूयो दृष्टे विकल्पिते भाषिते च वस्तुनि पुनश्चा-

वलोकिते अवग्रहेहाद्वयमतिक्रम्य प्रथमत एवापायप्रवृत्तिर्दृश्यते क्वचित्पुनः पूर्वमुपलब्धे सुनिश्चिते दृढवासनाविषयीकृतेऽर्थेऽवग्रहेहापायाननतिक्रम्यापि स्मृतिलक्षणा धारणा जायते, इति रिक्तमिदमुच्यते यदवग्रहादयो नोत्क्रमव्यतिक्रमाभ्यां न्यूनत्वेन चोत्पद्यन्त इतीत्यत आह–

पृ. ८. पं. २४ **क्वचिदभ्यस्त इति...चोपलक्षणे**–दर्शनेऽपि।

पृ. ८. पं. २५ **उत्पलेति**–यथा उत्पलपत्रशतव्यतिभेदने क्रमेणैव पत्राणां व्यतिभेदनं सौक्ष्म्याच्च क्रमस्यानुपलक्षणं तथैव यत्राभ्यस्ते विषयेऽपायमात्रस्य दर्शनं तत्राप्यपायात्पूर्वमस्त्येवावग्रहेहयोर्भाव इति क्रमेणैवावग्रहेहापायधारणास्तत्रापि भवन्ति, सौक्ष्म्याच्च क्रमानुपलक्षणादपाय एवात्रेत्यभिमानः, एवं दृढवासनाविषयेऽपि अवग्रहेहापायपूर्विकैव स्मृतिः, सौक्ष्म्यात्क्रमानुपलक्षणात्स्मृतिरेवात्र केवलेत्यभिमान इत्यर्थः। मतिज्ञानस्य सामान्यतोऽवग्रहादिभेदेन चतुर्विधस्येन्द्रियानिन्द्रियलक्षणकरणभेदप्रयुक्तावान्तरभेदसङ्कलनयाऽष्टाविंशतिभेदत्वमुपसंहरति–

पृ. ८. पं. २६ **तदेवमिति**—अर्थावग्रहादयः–अर्थावग्रहेहापायधारणाश्चत्वारः।

पृ. ८. पं. २७ **मनइन्द्रियैः**–मन एकमिन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पञ्च तैः।

पृ. ८. पं. २७ **षोढा भिद्यमानाः**–प्रत्येकं षट्प्रकारैर्भिद्यमानाः, चतुर्णां प्रत्येकं षट्प्रकारैर्भिद्यमानत्वे चतुर्विंशतिर्भेदाः सम्पद्यन्ते, तत्र।

पृ. ८. पं. २७ **व्यञ्जनावग्रहचतुर्भेदैः**–मनोनयनयोर्व्यञ्जनावग्रहाभावाच्छ्रोत्रादीन्द्रियचतुष्टयप्रभवैश्चतुर्भिर्व्यञ्जनावग्रहैः सह सङ्कलने।

पृ. ८. पं. २८ **अष्टाविंशति**–अष्टाविंशतिसङ्ख्यकाः।

पृ. ८. पं. २८ **मतिभेदा**–मतिविशेषाः। अष्टाविंशतिसङ्ख्यकानामेषां बह्वादिविषयभेदनिबन्धनबहु–बहुविधादिद्वादशभेदानां प्रत्येकं सम्भवात् सर्वेषां सङ्कलने षट्त्रिंशदधिकत्रिशतभेदा ज्ञानस्येत्याह–

पृ. ८. पं. २८ **अथवा बह्विति**–बह्ववग्रह–बहुविधावग्रह–क्षिप्रावग्रह-

अनिश्रितावग्रह-निश्रितावग्रह-ध्रुवावग्रहैः, एवं बह्वीहादिभिः तथा बह्वपाया-दिभिः तथा बहुधारणाभिः ।

पृ. ९. पं. १ सप्रतिपक्षैरिति-अबह्ववग्रहाद्यबह्वीहाद्यबह्वपायाद्यबहु-धारणादिसहितैः ।

पृ. ९. पं. २ एतेषाम्-अनन्तरनिर्दिष्टानामष्टाविंशतिसङ्ख्यकानांमवग्रहा-दीनाम् । अन्यत्स्पष्टम् । अवग्रहादीनां बह्वादिभेदाः किंनिबन्धना इत्य-पेक्षायामाह-

पृ. ९. पं. २ बह्वादयश्चेति-बह्ववग्रहादिभेदानां विषयापेक्षत्वमेव भाव-यति, तथा हीत्यादिना ।

पृ. ९. पं. ३ कश्चिदिति-प्रमातृविशेष इत्यर्थः । बहु जानातीति सामा-न्येनोक्तमेव विशिष्यार्थप्रकटनेन स्पष्टयति-

पृ. ९. पं. ४ एतावन्तोऽत्रेति-अत्र आकर्णिते नानाशब्दसमूहे, बहुग्रह-णमुपदर्श्य तत्प्रतिपक्षमबहुग्रहणमुपदर्शयति-अन्यस्त्विति, बह्वर्थग्रहणकर्तृभिन्नः प्रमातेत्यर्थः ।

पृ ९. पं ६ तत्समानदेशोऽपि-बहुग्रहीतृप्रमातृदेशवर्त्त्यपि ।

पृ. ९. पं. ६ अबहुमित्यनन्तरं-जानातीत्यनुवर्त्तते, एवमग्रेऽपि, बह्व-वग्रहादिनो बहुविधावग्रहादेर्विशेष्यांशावगाहित्वसाम्येऽपि प्रकारांशावगाहनेऽस्ति वैलक्षण्यं, बह्ववग्रहादिमतः पुंसः बहुविधावग्रहादिमत एकैकस्मिन्नपि विशेष्ये बहु-धर्मप्रकारावबोधत्वादिति बहुविधस्वरूपावेदनेन प्रकटयति-

पृ. ९. पं. ७ अपरस्त्विति-बहुविधज्ञानातीत्येतं हेतूपदर्शनेन द्रढयति ।

पृ. ९. पं. ७ एकैकस्यापीति-एतद्विपरीतमबहुविधन्निरूपयति ।

पृ. ९. पं. ८ परस्त्विति-अबहुविधत्वे पूर्वस्मान्न्यूनधर्माकलनमर्थात्प्राप्त-मपि हेतुं स्पष्टप्रतिपत्तये दर्शयति ।

पृ. ९. पं. ८ स्निग्धत्वादीति-शीघ्रपरिच्छेदकावग्रहादित्वं क्षिप्रावग्रहा-दित्वं, चिरपरिच्छेदकावग्रहादित्वमक्षिप्रावग्रहादित्वमिति क्रमेण दर्शयति ।

पृ. ९. पं. १० अन्यस्त्विति–लिङ्गं विनैव वस्तुपरिच्छेदकावग्रहादित्वमनिश्रितावग्रहादित्वं, लिङ्गावलम्बनेन वस्तुपरिच्छेदकावग्रहादित्वं निश्रितावग्रहादित्वमिति क्रमेण निरूपयति ।

पृ. ९. पं. ११ परत्वनिश्रितमिति–विरुद्धधर्मानालिङ्गितत्वेन वस्त्ववगाह्यवग्रहादित्वं निश्रितावग्रहादित्वं, विरुद्धधर्मालिङ्गितत्वेन वस्त्ववगाह्यवग्रहादित्वमनिश्रितावग्रहादित्वमिति क्रमेणोपदर्शयति ।

पृ. ९. पं. १३ कश्चित्त्वित्यादिना–यस्य पुंसो यदा यदा यद्वस्तुनो बोधस्तदा तदा नियतेन बह्वादिरूपेणैव बोधो भवति, स ध्रुवमवगृह्णाति; यस्य प्रमातुः कदाचिद्यस्य वस्तुनो बह्वादिरूपेण बोधस्तस्यैव प्रमातुस्तस्यैव वस्तुनः कदाचिदबह्वादिरूपेणापि बोधः, सोऽध्रुवमवगृह्णातीत्येवंव्यवस्थया ध्रुवावग्रहादिकमध्रुवावग्रहादिकञ्च लक्षितं भवतीत्याह–अन्यो ध्रुवमिति । यस्य प्रमातुर्यस्य वस्तुनः कदाचिद्बह्वादिरूपेण ज्ञानं कदाचित्तस्यैव वस्तुनस्तस्यैव प्रमातुरबह्वादिरूपेणापि ज्ञानन्तदा तस्याध्रुवावग्रहादित्वमित्याह–

पृ. ९. पं. १६ कदाचिद्बह्वादिरूपेणेति–इदन्त्ववधेयं–सामान्यमात्रग्राहिणो नैश्चयिकार्थावग्रहस्य वस्त्वादिरूपेणार्थावगमकत्वाभावाद्बह्ववग्रहत्वादिद्वादशविधत्वाभावेऽपि व्यावहारिकार्थावग्रहस्य वस्तुस्थित्याऽपायरूपस्योक्तद्वादशविधत्वतस्सामान्यतोऽर्थावग्रहस्य भवतु द्वादशविधत्वं, परं व्यञ्जनावग्रहस्याज्ञानरूपतापक्षे औपचारिकमेव ज्ञानत्वमिति कथं बह्वादिभेदस्तस्य ज्ञानरूपत्वपक्षेऽपि च नार्थविषयकज्ञानत्वमव्यक्ततमार्थज्ञानताभ्युपगमोऽपि तत्रार्थज्ञानरूपार्थावग्रहोपादानत्वनिबन्धनोपचारत एव, तत्र मनोव्यापाराभावेन मनोव्यापारमन्तरेण जायमाने ज्ञाने परमार्थतोऽर्थविषयकत्वस्यानुपचरितस्यासम्भवात्, तथा चार्थविषयकत्वाभावेऽर्थस्य बहुत्वादिनिबन्धनस्य बह्वादिरूपेणावभासकत्वस्याप्यभावादुक्तद्वादशविधत्वमपि न सम्भवतीति मतिज्ञानस्य षट्त्रिंशदधिकत्रिशतविधत्वमप्यसम्भवदुक्तिकं यद्यपि, तथाप्युपचारतो यथाज्ञानत्वादिकं व्यञ्जनावग्रहस्य तथा तत्कार्यार्थावग्रहादिगतबह्वाद्यवभासकत्वमप्युपचारत इति तदाश्रयणेनोक्तभेदोपपत्तिरिति । मतिज्ञाननिरूपणमुपसंहरति । उक्ता मतिभेदा इति ।

॥ इति मतिज्ञाननिरूपणम् ॥

॥ अथ श्रुतज्ञाननिरूपणम् ॥

तत्र श्रुतानुसारिज्ञानत्वं श्रुतज्ञानत्वमित्येवं श्रुतज्ञानलक्षणस्य पूर्वमभिहितत्वात् तद्विभागमेवाह–

पृ. ९. पं. १९ **श्रुतभेदा उच्यन्ते......सप्रतिपक्षैरिति**–प्रतिपक्षसहितैरित्यर्थः। प्रतिपक्षाश्चाक्षरादीनां सप्तानां अनक्षरा-ऽसंज्ञि-सम्यग-नाद्य-पर्यवसिताऽ-गमिकाऽ-नङ्गप्रविष्ट-भेदास्सप्तेति मिलित्वा चतुर्दशविधं श्रुतमित्यर्थः।

पृ. ९. पं. २१ **तत्र**–उक्तचतुर्दशसु श्रुतेषु मध्ये।

पृ. ९. पं. २१ **अक्षरं**–अक्षरश्रुतम्।

पृ. ९. पं. २२ **बहुविधलिपिभेदमिति**–भाष्यमाणाकाराद्यक्षरावबोधनाय विविधनिर्मितिविषयीकृतरेखादिलक्षणलिपीनां प्रतिनियतस्वस्वसङ्केतिताक्षराणां स्वरूपतो यथाऽन्योन्यं भेद एकदेशीयपुरुषरचनावैशिष्ट्यकृतस्तथा देशभेदेन तत्तद्देशीयपुरुषकृतसङ्केतभेदेनैकस्याप्यकारादे रेखादिसन्निवेशविशेषाविर्भावितस्वरूपतो व्यञ्जिकानां लिपीनां भेद इति बहुविधत्वं बोध्यम्, लिप्याऽक्षरं सञ्ज्ञायत इति सञ्ज्ञाक्षरत्वम्।

पृ. ९. पं. २२ **भाष्यमाणं**–वक्त्रोच्चार्यमाणम्, ननु संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरञ्चाज्ञानरूपत्वात्कथं श्रुतं, श्रुतानुसारिज्ञानस्यैव श्रुतत्वेन लक्षितत्वादित्यत आह।

पृ. ९. पं. २२ **एते चेति**–संज्ञाक्षरव्यञ्जनाक्षरे त्वित्यर्थः।

पृ. ९. पं. २२ **उपचारादिति**–परम्परया साक्षाद्वा तज्जन्यस्य शाब्दबोधात्मकज्ञानस्य भावश्रुतत्वेन तत्कारणत्वादनयोरपि श्रुतत्वोपचारत एते श्रुते इत्यर्थः। अक्षरस्य तृतीयभेदं लब्ध्यक्षरं निरूपयति।

पृ. ९. पं. २३ **लब्ध्यक्षरन्त्विति**–अस्य तु श्रुतोपयोगस्य भावश्रुतत्वमेव।

पृ. ९. पं. २४ **तदावरणक्षयोपशमो वा इति**–अथवा श्रुतोपयोगावरणक्षयोपशमो लब्ध्यक्षरमित्यर्थः। अस्याप्यज्ञानरूपस्य श्रुतोपयोगलक्षणभावश्रुतकारणत्वादुपचाराच्छ्रुतत्वम् यद्यपीन्द्रियमनोनिमित्तस्य सङ्केतविषयपरोपदेशं

श्रुतग्रन्थं वाऽनुसृत्य वाच्यवाचकभावेन संयोज्य घटो घट इत्याद्यन्तर्जल्पाकारग्राहिज्ञानस्य सांव्यवहारिकप्रत्यक्षरूपस्य श्रुतोपयोगस्यास्त्येव परोपदेशापेक्षा, तथापि मुग्धानां गवादीनां च शब्दश्रवणमात्रेणापि उपयोगस्य श्रुताख्यस्य तदीयचेष्टाविशेषतोऽनुमीयमानस्य भावेन लब्ध्यक्षरं परोपदेशं विनापि सम्भवतीत्याह–

पृ. ९. पं. २४ एतच्चेति–लब्ध्यक्षरञ्चेत्यर्थः, नासम्भाव्यमिति निषेधद्वयात्सम्भाव्यमेवेत्यर्थः। परोपदेशं विनाऽपि लब्ध्यक्षरं सम्भाव्यमित्यनुभवतो व्यवस्थापयति ।

पृ. ९. पं. २५ **अनाकलितोपदेशानामपीति**–मुग्धानाम्–अतीवमुग्धप्रकृतीनां पुलिन्दगोपालबालादीनां गवादीनाञ्च शबलबाहुल्यादीनां शब्दश्रवणेनरादिवर्णश्रवणे स्वस्वाम्युच्चरितस्वाह्वानसंसूचकशाबल्यादिशब्दश्रवणे च, लौकिकपरीक्षकभिन्नानां रथ्यापुरुषादीनाञ्च ।

पृ. ९. पं. २६ **तदाभिमुख्यदर्शनात्**–यद्देशादित आगतश्शब्दस्तद्देशाद्याभिमुख्यदर्शनात् वक्तृमुखावलोकनतत्पृच्छादेर्लाङ्गूलादिचालनकर्णोन्नमनादिचेष्टादेर्दर्शनात्, एतच्च श्रुतज्ञानं परोपदेशाजनितमेकेन्द्रियाणामप्यस्तीत्यतोऽपि परोपदेशं विनाऽपि सम्भाव्यमित्याह–

पृ. ९. पं. २६ **एकेन्द्रियाणामपीति**—अक्षरश्रुतप्रतिपक्षमनक्षरश्रुतं निरूपयति–

पृ. ९. पं. २७ **अनक्षरश्रुतमिति**–उच्छ्वासादेरज्ञानरूपस्य कथं श्रुतत्वमित्यपेक्षायामाह ।

पृ. ९. पं. २७ **तस्यापि**–उच्छ्वासादितो ज्ञानजनने सत्येव भावश्रुतहेतुत्वं भवेदित्यत आह–

पृ. ९. पं. २८ **ततोऽपीति**–उच्छ्वासादितोऽपीत्यर्थः, उच्छ्वसन्तं पुरुषं दृष्ट्वोच्छ्वासादितः सशोकोऽयमिति ज्ञानमाविर्भवति, श्रुते चैवं निर्णीतमस्ति, यदुतोच्छ्वासादिश्शोकप्रभव इति श्रुतानुसारितया तज्ज्ञानं श्रुतमिति तज्जनक-

त्वादुच्छ्वासादेः श्रुतत्वमिति । उच्छ्वासादिलक्षणपुरुषव्यापारस्यैव श्रुतस्वरूपं व्यापारान्तरस्य भावश्रुतहेतुत्वेन श्रुतरूपत्वेऽपि अनक्षररूपतया न प्रसिद्धिरित्यत्र विनिगमकमाह–

पृ. ९. पं. २८ **अथवा श्रुतोपयुक्तस्य...**अत्रैव-उच्छ्वासादावेव शास्त्रानभिज्ञप्रसिद्धरूढेरपरीक्षाक्षेत्रत्वेनानादरणीयत्वाच्छास्त्रज्ञेति लोकस्य विशेषणम् ।

पृ. १०. पं. १ **रूढिः**–अनक्षरश्रुतशब्दस्य, शास्त्रज्ञा इत्थमेव व्यवहरन्तीति तथैवाभ्युपगन्तव्यमिति । सञ्ज्ञिश्रुतं निरूपयति–

पृ. १०. पं. १ **समनस्कस्येति**–स्मरणचिन्तादिदीर्घकालिकज्ञानवान् समनस्कपञ्चेन्द्रियस्तस्य श्रुतं सञ्ज्ञिश्रुतमित्यर्थः । असञ्ज्ञिश्रुतं प्ररूपयति–

पृ. १०. पं. २ **तद्विपरीतमिति**–अमनस्कसम्मूर्च्छनपञ्चेन्द्रियोऽसञ्ज्ञी, तस्य श्रुतमसञ्ज्ञिश्रुतमित्यर्थः । सम्यक्श्रुतं निरूपयति–

पृ. १०. पं. २ **सम्यक्श्रुतमिति**–तद्विपरीतं मिथ्याश्रुतं प्ररूपयति–

पृ. १०. पं. २ **लौकिकं तु**–अङ्गानङ्गप्रविष्टभिन्नन्त्वित्यर्थः । स्वामिविशेषकृतम् सम्यक्श्रुतमिथ्याश्रुतयोर्विशेषम्भावयति–

पृ. १०. पं. २ **स्वामित्वचिन्तायां तु भजना**–मिथ्याश्रुतस्यापि सम्यक्श्रुतत्वं सम्यक्श्रुतस्यापि मिथ्याश्रुतत्वमित्यर्थः । भजनामेवोपपाद्य दर्शयति–

पृ. १०. पं. ३ **सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतमिति**–यदि स्वामिचिन्तानाश्रीयते तदा अङ्गप्रविष्टं यदाचारादिश्रुतं यच्च अनङ्गप्रविष्टमावश्यकादिश्रुतं तदुभयमपि स्वरूपतः सम्यक्श्रुतमेव, तत्प्रतिपाद्यार्थस्यानेकान्तात्मकत्वेनाबाधितत्वात् । तदुभयभिन्नं भारतादिव्यासादिप्रणीतं लौकिकं तद्बाधितैकान्तार्थकत्वेन स्वरूपतो मिथ्याश्रुतमेवेत्यभिहितम् । स्वामिचिन्ताश्रयणे पुनः सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं सम्यग्दृष्टिनाऽध्ययनाध्यापनादिविषयीकृतं मिथ्याश्रुतमपि भारतादिकं सम्यक्श्रुतमेव । तत्र हेतुमाह ।

पृ. १०. पं. ४ **वितथभाषित्वादिनेति**–आदिपदाद्भवहेतुत्वादेरुपग्रहः । महाभारतादिरयं वितथभाषिणैकान्तवादिना यथावद्वस्त्वनभिज्ञेन व्यासादिनोपर-

चित एकान्ततया तदुक्तार्थानुष्ठानं भवभ्रमणहेतुरित्यादिरूपेण तदर्थाकलनं समीचीनमेव, न हि भारतादिप्रणेता वितथभाषी न भवति, तदुपदर्शितक्रियाकलापानुष्ठानं च भवभ्रमणहेतुर्न भवतीत्यतः मिथ्यात्वनिबन्धनैकान्तघटनां परिचिन्त्य कथञ्चिदर्थसंयोजनेन यथास्थानं तदर्थविनियोगात् सम्यक्श्रुतमेव भवतीत्यर्थः। विपर्ययादयथावस्थितबोधतो मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं सम्यक्श्रद्धानरहितपुरुषेणाधीतं सम्यक्श्रुतमपि स्वरूपतः सम्यक्श्रुतरूपमप्याचाराद्यङ्गप्रविष्टम् आवश्यकाद्यनङ्गप्रविष्टमनेकान्तार्थतां वास्तविकीं परिभूयैकान्तार्थतामवास्तविकीं प्रापितं सन्मिथ्याश्रुतमेव भवतीत्यर्थः। सादि सम्यक्श्रुतं निरूपयति–

पृ. १०. पं. ६ सादीति–कस्यचिदेकस्य देवदत्तादेराधारभूतद्रव्यस्य पूर्वं सम्यक्श्रुतं नाभूदिदानीमेव जातमिति तदपेक्षया सादि सम्यक्श्रुतमित्यर्थः। द्रव्यतःसादिसम्यक्श्रुतमुपदर्श्य क्षेत्रतस्तद्दर्शयति–

पृ. १०. पं. ६ क्षेत्रतश्चेति–भरतैरावतक्षेत्राण्याश्रित्य सादि सनिधनं सम्यक्श्रुतम्भवति, तत्र प्रथमतीर्थकृत्समये तद्भवतीति सादि, चरमतीर्थकृत्तीर्थान्तेऽवश्यन्तद्विच्छिद्यत इति सनिधनमिति।

पृ. १०. पं. ६ कालत इति काले त्वाश्रीयमाणे द्वे समे उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ समाश्रित्य तत्रैव तेष्वेव भरतैरावतेष्वेतत्सादिसपर्यवसितं भवति, द्वयोरपि समयोः तृतीयारके प्रथमंभावात्सादित्वं, उत्सर्पिण्यां चतुर्थस्यादौ, अवसर्पिण्यान्तु पञ्चमस्यान्ते अवश्यं विच्छेदात्सपर्यवसितत्वमिति। भावतो विचार्यमाणे प्रज्ञापकं गुरुं श्रुतप्रज्ञापनीयाँश्चार्थानासाद्य सादि सपर्यवसितमिदम्भवतीत्युपदर्शयति–

पृ. १०. पं. ७ भावतश्चेति...तत्तज्ज्ञापकप्रयत्नादिकमिति–तत्तच्छ्रुतार्थप्रज्ञापकगुरुप्रयत्नादिकमित्यर्थः। आदिपदात्तत्तच्छ्रुतप्रज्ञापनीयार्थादेरुपग्रहः। सादिश्रुतप्रतिपक्षमनादिश्रुतं निरूपयति–

पृ. १०. पं. ८ अनादि द्रव्यतो–द्रव्यविषये।

पृ. १०. पं. ८ नानापुरुषान्–नारकतिर्यग्मनुष्यदेवगतान्नानासम्यग्दृष्टिजीवान्।

पृ. १०. पं ८ आश्रित्य–अवलम्ब्य तदपेक्ष्येति यावत्, श्रुतमित्यनुवर्त्तते सम्यक्श्रुतं सततं वर्त्तते, न तु कदाचिन्न भवति, एवञ्च नानापुरुषानाश्रित्येदमनाद्यपर्यवसितम्भवतीत्यर्थः । क्षेत्रतोऽनादिश्रुतमुपदर्शयति–

पृ. १०. पं. ८ क्षेत्रत इति–महाविदेहानित्यनन्तरमाश्रित्येत्यनुवर्त्तते, तथा च पञ्चमहाविदेहलक्षणान् विदेहानङ्गीकृत्य श्रुतज्ञानं सततं वर्तत इत्यनाद्यपर्यवसितं तदित्यर्थः । कालतोऽनादिश्रुतं प्ररूपयति–

पृ. १०. पं. ९ कालत इति–अनवसर्पिण्यनुत्सर्पिणीलक्षणं कालमाश्रित्य पञ्चमहाविदेहेषु अनाद्यपर्यवसितं श्रुतज्ञानमित्यर्थः । भावतस्तदुद्भावयति–

पृ. १०. पं. ९ भावतश्चेति–सामान्यतःक्षायोपशमिकं भावमाश्रित्य श्रुतज्ञानं सततं वर्त्तते, यतःसामान्येन महाविदेहेषु उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यभावरूपनिजकालाविशिष्टेषु द्वादशाङ्गश्रुतं कदापि न व्यवच्छिद्यते । तीर्थङ्करगणधरादीनां तेषु सर्वदैव भावादित्यनाद्यपर्यवसितं तदित्यर्थः । सादिश्रुतप्ररूपणे तस्य सपर्यवसितत्वं भावितमनादिश्रुतप्ररूपणे तस्यापर्यवसितत्वं भावितमिति न तत्र वक्तव्यमवशिष्यते किञ्चिदित्याशयेन सपर्यवसितापर्यवसितयोर्भावनामतिदिशति–

पृ. १०. पं. १० एवमिति–उक्तप्रकारेणेत्यर्थः । गमिकश्रुतं प्ररूपयति–

पृ. १०. पं. ११ गमिकमिति–गमा भङ्गका गणितादिविशेषाश्च तद्बहुलं तत्सङ्कुलं गमिकम्, अथवा गमाः सदृशपाठाः, ते च कारणवशेन यत्र बहवो भवन्ति तद्गमिकमित्येवं विशेषावश्यकभाष्ये व्याख्यातं, तत्र द्वितीयपक्षमाश्रयन्नाह–

पृ. १०. पं. ११ सदृशपाठमिति–एतादृशं श्रुतं कुत्रेत्यपेक्षायामाह–

पृ. १०. पं. ११ प्रायो दृष्टिवादगतमिति–एतत्प्रतिपक्षमगमिकश्रुतं निरूपयति–

पृ. १०. पं. ११ अगमिकमिति–अङ्गप्रविष्टं श्रुतं दर्शयति–

पृ. १०. पं. १२ अङ्गेति–"उप्पेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" इति श्री-

तीर्थकृद्भगवन्मुखाम्बुजनिर्गतत्रिपद्युपदेशनिष्पन्नं ध्रुवञ्च यच्छ्रुतं गणधररचितम् आचारादिश्रुतं तदङ्गप्रविष्टमित्यर्थः। अनङ्गप्रविष्टमुदाहरति–

पृ. १०. पं. १२ अनङ्गेति–स्थविरकृतमावश्यकप्रकीर्णादिश्रुतमनङ्गप्रविष्टमङ्गबाह्यमित्यर्थः।

। इति श्रुतनिरूपणम्।

वृत्ते च मतिश्रुतनिरूपणे सप्रभेदं तदुभयात्मकं सांव्यवहारिकप्रत्यक्षनिरूपणमपि निष्पन्नमेवेत्युपसंहरति।

पृ. १०. पं. १३. तदेवमिति—

॥ इति सांव्यवहारिकप्रत्यक्षनिरूपणम् ॥

॥ अथ पारमार्थिकप्रत्यक्षनिरूपणम् ॥

पारमार्थिकप्रत्यक्षसामान्यस्य लक्षणमाह–

पृ. १०. पं. १५ स्वोत्पत्तेति–स्वावरणक्षय-स्वावरणक्षयोपशमविशेषातिरिक्तानपेक्षात्मव्यापारमात्रापेक्षोत्पत्तिकं पारमार्थिकप्रत्यक्षमित्यर्थः। पारमार्थिकप्रत्यक्षं विभजते, तत् त्रिविधमिति–अवधिज्ञानं, मनःपर्यवज्ञानं, केवलज्ञानमित्येवं त्रिविधं पारमार्थिकप्रत्यक्षमित्यर्थः।

॥ अथ अवधिज्ञाननिरूपणम् ॥

अवधिज्ञानं निरूपयति–

पृ. १०. पं. १६ सकलेति–अत्र अवधिज्ञानमिति लक्ष्यनिर्देशः, सकलरूपिद्रव्यविषयकजातीयमात्ममात्रापेक्षं ज्ञानमितिलक्षणनिर्देशः। ज्ञानमित्येतावन्मात्रोक्तौ मतिज्ञानादावतिव्याप्तिरिति आत्ममात्रापेक्षमिति तद्विशेषणम्, आत्ममात्रापेक्षं ज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं केवलज्ञानश्चेति तयोरतिव्याप्तिवारणाय सकलरूपिद्रव्यविषयकजातीयमिति रूपिद्रव्यत्वसमनियतविषयतात्मकज्ञानवृत्तिज्ञानत्वव्याप्यजातिमदिति तदर्थः। तेन केवलज्ञानस्य सकलरूपिद्रव्यविषयकत्वेऽपि न तत्रातिव्याप्तिः, केवलज्ञानविषयताया रूपिद्रव्यातिरिक्तद्रव्यादावपि सत्त्वेन

तद्व्याप्यत्वे सति तद्व्यापकत्वलक्षणसमनियतत्वस्य रूपिद्रव्यत्वनिरूपितस्य तत्राभावात्, यन्नस्तदभाववदवृत्तित्वं व्याप्यत्वं तच्च प्रकृते रूपिद्रव्यत्वाभाववद्वृत्तित्वं तद्रूपिद्रव्यत्वाभाववत्यरूपिद्रव्यादौ विद्यमानायां केवलज्ञानविषयतायां नास्तीति। मनःपर्यायज्ञाननिरूपितविषयता रूपिद्रव्यत्वव्याप्याऽपि न रूपिद्रव्यत्वव्यापिका, व्यापकत्वं हि तत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वं, तच्च रूपिद्रव्यत्वाधिकरणे मनोद्रव्यभिन्नघटादिलक्षणरूपिद्रव्ये विद्यमानस्य मनःपर्यायज्ञानविषयत्वाभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकं यन्मनःपर्यायज्ञानविषयतात्वं तद्वत्त्वेन मनःपर्यायज्ञानविषयतायां नास्तीति । अवधिज्ञाने चोक्तलक्षणं सङ्गच्छते। रूपिद्रव्यत्वसमनियतविषयता परमावधिज्ञान विषयता-तन्निरूपकंज्ञानं परमावधिज्ञानं तद्वृत्तिर्या ज्ञानत्वव्याप्या जातिस्साऽवधिज्ञानत्वजातिस्तद्वदात्ममात्रापेक्षं ज्ञानमवधिज्ञानमिति। जातिघटितलक्षणोपादानात्परमावधिभिन्नावधिज्ञानमात्रस्य सकलरूपिद्रव्यविषयकत्वाभावेऽपि न तत्राव्याप्तिः। एतेन मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोः इन्द्रियादिजन्यश्रुताननुसारिज्ञानवृत्तिज्ञानत्वव्याप्यजातिमत्त्वंमतिज्ञानस्य इन्द्रियादिजन्यश्रुतानुसारिज्ञानवृत्तिज्ञानत्वव्याप्यजातिमत्त्वं श्रुतज्ञानस्येत्येवंलक्षणमावेदितम्भवति, द्रव्यश्रुतस्य ज्ञानत्वव्याप्यजातिमत्त्वाभावेऽपि भावश्रुतकारणत्वमेव लक्षणं तदन्यतरवत्त्वञ्च श्रुतसामान्यस्येति। अवधिज्ञानं विभजते—

पृ. १०. पं. ७ तच्चेति—अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानप्रतिपात्यप्रतिपातिभेदादवधिज्ञानं षड्विधमित्यर्थः ।

पृ. १०. पं. १८ तत्र—अनुगाम्यादिषु षट्सु अवधिज्ञानेषु ।

पृ. १०. पं. १८ उत्पत्तिक्षेत्रेति—यस्मिन् क्षेत्रे स्थितस्य पुंसोऽवधिज्ञानमुत्पन्नं तस्मात्क्षेत्रादन्यत्रक्षेत्रे गतस्यापि तदवधिज्ञानमनुवर्त्तत इति कृत्वा तदवधिज्ञानमानुगामिकमित्यर्थः । एतदेवं स्पष्टदृष्टान्तावष्टम्भेन भावयति—

पृ. १०. पं. १९ भास्करप्रकाशवदिति—दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्साम्यमावेदयति—

पृ. १०. पं. १९ यथेत्यादिना...प्राच्यां—पूर्वस्यां दिशि ।

पृ. १०, पं. २० **प्रतीचीं**–पश्चिमांदिशम् ।

पृ. १०, पं. २० **अनुसरत्यपि**–गच्छत्यपि ।

पृ. १०, पं. २० **तत्र**–सूर्ये, अन्यत्रोत्पन्नस्य प्रकाशस्यान्यत्रानुगमनमुपदर्श्य अवधिज्ञानस्य तदुपपादयति ।

पृ. १०, पं. २१ **तथैतदपि**–अवधिज्ञानमपि, एकस्मिन्क्षेत्रे प्रतिनियते यस्य पुंस उत्पन्नमवधिज्ञानं तस्मादेशादन्यस्मिन्क्षेत्रे गच्छतोऽपि तस्य पुंसस्तदवधिज्ञानं विषयं प्रकाशयतीत्यर्थः ।

पृ. १०, पं. २२ **उत्पत्तिक्षेत्र एवेति**–यस्मिन्क्षेत्रे स्थितस्य पुंसोऽवधिज्ञानं यदुत्पन्नं तत्क्षेत्रादन्यस्मिन्क्षेत्रे गतस्य पुंसस्तदवधिज्ञानन्नानुवर्त्तते अपितूत्पत्त्यवच्छेदकदेश एव स्वविषयमवभासयति तदवधिज्ञानमनानुगमिकमित्यर्थः । एतदपि दृष्टान्तावष्टम्भेन भावयति ।

पृ. १०, पं. २३ **प्रश्नादेशेति**–परेण कृतस्य प्रश्नस्य ममामुकार्थसिद्धिर्भविष्यतिनवेत्यादिरूपस्य विषयीभूतार्थसिद्ध्यादिकमादिशति कथयति–यो–गणकादिःपुमान् स प्रश्नादेशपुरुषस्तस्य प्रश्नविषयार्थसिद्ध्यादिज्ञानवदित्यर्थः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावनामाह–

पृ. १०, पं. २३ **यथा प्रश्नादेश इति**–इदमपि–अननुगामिकावधिज्ञानमपि । अलं समर्थम्, अन्यत्स्पष्टम् । वर्धमानावधिज्ञानं निरूपयति–

पृ. १०, पं. २५ **उत्पत्तिक्षेत्रादिति**–यस्मिन्क्षेत्रे स्थितस्य पुंसोऽवधिज्ञानमुत्पन्नन्तदुत्पत्तिक्षेत्रं तत्र यावद्रूपिविषयकमवधिज्ञानन्तदुत्तरोत्तरक्षणे तत्क्षेत्रादन्यक्षेत्रे गतेऽपि तदाधारपुरुषे क्रमेण तावद्विषयाधिकविषयमवगाहमानमवधिज्ञानमधिकाधिकविषयकत्वेन वर्धमानमिति वर्धमानावधिज्ञानन्तदित्यर्थः । एतदेव दृष्टान्तावष्टम्भेन द्रढयति । अधरोत्तरेति एकोऽरणिःशुष्कंकाष्टमधस्स्थितमन्यश्चारणिःशुष्कंकाष्ठं तदुपरिस्थितं कृत्वातयोःपरस्परनिघर्षणलक्षणनिर्मन्थनेनोत्पन्नो योऽनन्तरोपादीयमानेन शुष्केन काष्ठेनोपचीयमानो वृद्धिंगत एतादृशो यो निरन्तरधीयमानानामिन्धनानां राशिनां समूहेन जन्योऽग्निस्तद्वदित्यर्थः । दृष्टा-

न्तदार्ष्टान्तिकयोर्भावनामाह-यथेति, इदमपि वर्धमानावधिज्ञानमपि, व्यक्तमन्यत्, हीयमानावधिज्ञानं निरूपयति-

पृ. ११. पं. २ **उत्पत्तिक्षेत्रापेक्षयेति**-यस्मिन्क्षेत्रेऽवधिज्ञानं यावद्विषयकमुत्पन्नं तत्क्षेत्रापेक्षया क्रमेण देशान्तरे तावद्विषयेभ्योऽपचीयमानविषयकन्तदवधिज्ञानं भवतीति तद्धीयमानावधिज्ञानमित्यर्थः । अत्र निदर्शनमनुकूलमाह-

पृ. ११. पं. ३ **परिच्छिन्नेन्धनोपादानेति**-परिच्छिन्नस्याल्पस्येन्धनस्य काष्ठस्योपादानं सङ्ग्रहो यत्र तादृशी या सन्ततिः अल्पेन्धनसमूहस्तया समुद्भूतस्याग्नेः शिखा ज्वाला तद्वदित्यर्थः । भावनामाह-

पृ. ११. पं. ३ **यथेति**-तत्रापरापरकाष्ठानामनाधीयमानत्वात्सञ्चितस्य काष्ठस्य प्रतिक्षणं दाहतोऽल्पीभवनादुत्तरोत्तरमग्निज्वालाऽल्पाल्पतरा भवतीति-प्रत्यक्षसिद्धमेतत् ।

पृ. ११. पं. ४ **इदमपि**-हीयमानावधिज्ञानमपि । प्रतिपात्यवधिज्ञानं निरूपयति-

पृ. ११. पं. ४ **उत्पत्त्यनन्तरं निर्मूलनश्वरमिति**-निर्मूलेति सर्वथेत्यर्थः ।

पृ. ११. पं. ६ **इदमपि**-प्रतिपात्यवधिज्ञानमपि । अप्रतिपात्यवधिज्ञानं निरूपयति-

पृ. ११. पं. ६ **आकेवलप्राप्तेरिति**-यदवधिज्ञानमुत्पन्नं सत्केवलज्ञानावाप्तिपर्यन्तमवतिष्ठते केवलज्ञानोत्पत्तिक्षणे तदनन्तरक्षणे च न क्षायौपशमिकं ज्ञानचतुष्टयमित्यवधिज्ञानमपिनास्तीति तदवधिज्ञानमप्रतिपातीति ।

पृ. ११. पं. ६ **आमरणाद्वा-इति**-यदवधिज्ञानमुत्पन्नं सत्मरणाव्यवहितपूर्वसमयं यावदवतिष्ठते तदवधिज्ञानमप्रतिपातीति, अत्र दृष्टान्तमाह-

पृ. ११. पं. ७ **वेदवदिति**-पुरुषवेदादिवदित्यर्थः । दृष्टान्तानुगमनं करोति ।

पृ. ११. पं. ७ **यथेति**-पुरुषवेदादीत्यादिपदात् स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोरुपग्रहः, पुरुषवेदनीयं कर्म पुरुषवेदः, एवं स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ । **आपुरुषादिप-**

र्यायमिति–यावत्कालं पुरुषभावेन जन्तोरवस्थितिस्तावत्कालं तस्य पुरुषवेदोऽवतिष्ठते, एषैव दिक् स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोरपि–

पृ. ११. पं. ८ इदमपि–अप्रतिपात्यवधिज्ञानमपि,

पृ. ११. पं. ८ तथा–केवलावाप्तिपर्यन्तं मरणपर्यन्तं वाऽवतिष्ठते ॥

॥ इत्यवधिज्ञाननिरूपणम् ॥

॥ अथ मनःपर्यायज्ञाननिरूपणम् ॥

मनःपर्यायज्ञानं निरूपयति–

पृ. ११. पं. १० मनोमात्रेति–मनोमात्रसाक्षात्कारीतिलक्षणनिर्देशः, मनःपर्यवज्ञानमितिलक्ष्यनिर्देशः । यदा कश्चित्पुमान् मनसि किञ्चिद्बाह्यवस्त्वादिकं विचारयति तदा विचार्यमाणबाह्यवस्त्वाद्यकारेण परिणतं तस्य मनोद्रव्यं मनःपर्यवज्ञानी जानातीति मनःपर्यवज्ञानिनः विशुद्धसंयमविशेषवतः साधोः क्षयोपशमविशेषात्मनोद्रव्यतत्पर्यायमात्रसाक्षात्कारिज्ञानं मनःपर्यवज्ञानमित्यर्थः । केवलज्ञानमपि सकलवस्तुविषयकं मनोद्रव्यसाक्षात्कारि भवत्येवेति तत्रातिव्याप्तिवारणाय मात्रपदम् । यद्यपि अवधिज्ञानं रूपिद्रव्यविषयकं पौद्गलिकस्य मनसोऽपि रूपिद्रव्यत्वेन तद्विषयकमपि, तथापि नैतादृशं किञ्चिदप्यवधिज्ञानं समस्ति–यन्मनोद्रव्यमेव विषयीकरोति न मनोद्रव्यभिन्नं रूपिद्रव्यमिति मनोद्रव्यमात्रसाक्षात्कारित्वस्य तत्राप्यभावान्नावधिज्ञानेऽतिव्याप्तिः । ननु मनश्चिन्तनीयबाह्यवस्त्याकारेण परिणतं मनःपर्यवज्ञानी जानानो मनसि स्वाकारधायकं चिन्तनीयबाह्यवस्त्वपि जानीत एवेति मनःपर्यवज्ञानेऽपि मनोमात्रसाक्षात्कारित्वं नास्त्येव, मनोभिन्नचिन्तनीयबाह्य वस्तुसाक्षात्कारित्वस्यापि भावादित्यबोधविजृम्भिताशङ्कापनोदायाह–

पृ. ११. पं. १० मनःपर्यायानिदमिति–मनःपर्यवज्ञानम्,

पृ. ११. पं ११ अलम्–समर्थम् ।

पृ. ११. पं. ११ तदन्यथाऽनुपपत्त्येति–मनसश्चिन्तनीयबाह्यवस्त्वाकारपर्यायान्यथानुपपत्त्येत्यर्थः । अयमभिप्रायःमनःपर्यवज्ञानस्य यदि मनोद्रव्यमा-

त्रज्ञानत्वं लक्षणमुच्यते तदा तस्य लक्षणस्य समन्वयस्तत्र न भवेत्, चिन्तनीय-बाह्यपदार्थज्ञानस्यापि मनःपर्यवज्ञानत्वभावात्, न चैवमुच्यते, किन्तु मनोमात्र-साक्षात्कारित्वं तल्लक्षणमुच्यते, तच्च सम्भवत्येव, यतः मनःपर्यवज्ञानिनो ज्ञानं मनोद्रव्यस्यैव साक्षात्कारि, चिन्तनीयवस्तु बाह्यघटादिरनुमित्यात्मकमेव तस्य ज्ञानं, चिन्तकस्यायं मनसो घटाद्याकारपर्यायः चिन्तनीयबाह्यवस्तुजनितः तदाकारपर्यायत्वात्, यो यदाकारपर्यायः स तद्वस्तुजनितः स्फटिके जपाकुसुमरक्ताकारपर्यायवदित्येवमनुमानप्रयोगोऽत्र बोध्यः।

पृ. ११. पं. १२ तदिति–मनःपर्यवज्ञानम्, ऋजुमतिमनःपर्यवज्ञानं, विपुलमतिमनःपर्यवज्ञानमित्येवं द्विविधमित्यर्थः। अन्वर्थः।

पृ. ११. पं. १४ अल्पविशेषपरः–अल्पविशेषप्रतिपादकतयाऽभीष्टः, तथा च विपुलमतिमनःपर्यवज्ञानं मनोद्रव्यस्य यावतो विशेषान्गृह्णाति ततोऽल्पतरविशेषान् ऋजुमति गृह्णातीत्यर्थः–

पृ. ११. पं. १४ अन्यथेति–स्वोक्तस्यैव विवरणं सामान्यमात्रग्राहित्व इति। विपुलमतिमनःपर्यायज्ञानस्वरूपं प्रकटयति–

पृ. ११. पं. १५ विपुलेति–अस्यार्थोविशेषग्राहिणीति, ऋजुमत्यपेक्षया बहुतरविशेषग्राहिणीति तदर्थः, उक्तमेवार्थं स्पष्टयति–

पृ. ११. पं. १६ तत्रेति–ऋजुमतिविपुलमत्योर्मध्य इत्यर्थः।

पृ. ११. पं. १७ तत्–चिन्तितं घटादि।

पृ. ११. पं. १८ एते–अनन्तरनिरूपिते–

पृ. ११. पं. १८ द्वे ज्ञाने–अवधिमनःपर्यवज्ञाने–

पृ. ११. पं. १८ विकलविषयकत्वात्–असकलवस्तुविषयकत्वात्।

पृ. ११. पं. १९ परिभाष्यते–जैनाचार्यकर्तृकसङ्केतोऽवधिज्ञानं मनःपर्यवज्ञानञ्च विकलप्रत्यक्षशब्दाद्बोद्धव्ये इत्याकारकपरिभाषातद्विषयौ–

॥ इति मनपर्यवज्ञाननिरूपणम् ॥

॥ अथ केवलज्ञाननिरूपणम् ॥

केवलज्ञानं निरूपयति–

पृ. ११. पं. २१ निखिलेति—अत्र निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारीति लक्षणनिर्देशः, केवलज्ञानमिति लक्ष्यनिर्देशः। मत्यादिज्ञानानां क्षायौपशमिकानां चतुर्णामपि निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारित्वाभावान्न तेष्वतिव्याप्तिः, केवलज्ञानञ्च करामलकवद्विश्वमेव साक्षात्करोति, ज्ञानस्य सामान्यतो ज्ञेयमात्रावभासनस्वभावो निजगतावरणकर्मणा प्रतिरुध्यते, स्वाशेषावरणक्षयसमुत्थस्य तु केवलस्य स्वविषये ज्ञेयस्वभावे जगति लेशतोऽप्यावरणाभावाद्युज्यते तस्य निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारित्वमितिलक्षणसमन्वयः। प्रमाणसामान्यलक्षणे पूर्वमेवोक्तं दर्शनेऽतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानपदमिति प्रमाणरूपज्ञानस्यैव प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन प्रथमं द्वैविध्यं ततः प्रत्यक्षस्य सांव्यवहारिकपारमार्थिकभेदेनद्वैविध्यं तत्र पारमार्थिकेष्ववधिमनःपर्यवकेवलज्ञानलक्षणप्रत्यक्षेषु यदिदं केवलज्ञाननिरूपणं प्रक्रान्तं तत्केवलज्ञानानुगाम्येव न तु केवलदर्शनानुगामीति, ततः प्रकृतलक्षणमिदं केवलदर्शनेनगच्छे दित्येतदर्थं सामान्यधर्मानवच्छिन्ननिखिलधर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपितनिखिलधर्मनिष्ठविशेष्यताकसाक्षात्कारित्वं केवलज्ञानस्य लक्षणं वक्तव्यं दर्शने च केवले सामान्यात्मना सकलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिण्यपि सप्रकारकत्वाभावान्न परिष्कृतलक्षणवत्त्वं केवलोपयोगमात्रस्य लक्ष्यत्वे तु यथाश्रुतलक्षणमपि सङ्गतमेवेति बोध्यम्।

पृ. ११. पं. २१ अत एव–निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारित्वादेव।

पृ. ११. पं. २१ एतत्–केवलज्ञानम्।

पृ. ११. पं. २१ सकलप्रत्यक्षम्–सकलवस्तुविषयकप्रत्यक्षम्, पारमार्थिकप्रत्यक्षत्वाविशेषेऽपि विकलविषयकत्वादवधिमनःपर्यवज्ञानयोर्विकलप्रत्यक्षं केवलज्ञानस्य तु सकलवस्तुविषयकत्वात्सकलप्रत्यक्षत्वमित्यर्थः। सकलप्रत्यक्षस्यास्य विषयतया निखिलद्रव्यपर्याययोरेवोपादानाज्जगति द्रव्यपर्यायानन्तर्भूतं नास्त्येव तत्त्वमित्यावेदितं। तत्र द्रव्याणि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशास्तिकायाः पञ्च

कालश्चेतिषट्, जीवादीनां सप्रदेशत्वादस्तिकायत्वं, यो ह्यवयवः प्रदेशिसम्बन्ध एव सर्वदाऽवतिष्ठते स प्रदेशः, ईदृशं प्रदेशमादाय सप्रदेशत्वं यद्यपि न पुद्गलानां, तथापि स्वात्मकसंघातनिविष्टैकदेशलक्षणावयवस्य प्रदेशत्वमुपचर्य सप्रदेशत्वं ज्ञेयम्ः । कालस्तु परमनिरुद्धसमयैकस्वरूपत्वान्नास्तिकायः । गुणपर्यायवद्द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणमिति । द्रव्यस्य सहभावी पर्यायो गुणः क्रमभावी पर्यायस्तु पर्यायेतिसामान्यसंज्ञया गीयते, द्रव्यपर्याययोरन्तर्भूतमेव सकलं वस्त्विति निखिलतदुभयसाक्षात्कारिणः केवलज्ञानस्य सकलप्रत्यक्षत्वं युक्तयुपपन्नमेवेति । यथा च पारमार्थिकप्रत्यक्षमप्यवधिज्ञानं अनुगाम्यादि भेदेन षड्विधं, मनः पर्यवज्ञानञ्च ऋजुमतिविपुलमतिभेदेन द्विविधं, तयोःकारणीभूतानां स्वावरणक्षयोपशमविशेषाणामवान्तरतारतम्यसम्भवात्, न तथा केवलज्ञानं सभेदं, तत्कारणस्याशेषस्वावरणात्यन्तक्षयस्यैकत्वात्, कारणभेदाभावे कार्यभेदासम्भवादित्याह-

पृ. ११. पं. २२ तच्चेति–केवलज्ञानश्चेत्यर्थः ।

पृ. ११. पं. २२ भेदरहितम्–अवान्तरविशेषशून्यम् । एकविधमेवेति यावत्, यथा हि कुड्याद्यन्तरितवस्तु चक्षुर्नविभासयतीति कुड्यादिकमावरणं तथा बाह्यमत्र नावरणं देशकालस्वभावविप्रकृष्टानां दूरादिव्यवस्थितातीतानागतकालीनाण्वादिस्वरूपाणामपि पदार्थानां ज्ञानेनावभासनात्किन्तु कर्मैव ज्ञाने आवरणं यद्वशात्सन्निहितमपि वस्तु नावभासयति यस्य च क्षयोपशमादत्यन्तक्षयाद्वा व्यवहितमपि ज्ञानं प्रकाशयतीत्याह–

पृ. ११. पं. २२ आवरणश्चेति–अत्र ज्ञाने, चर्मचक्षुषामस्मदृशां ज्ञानमपि स्वभावतः सर्वविषयकमेव, एवमपि यत्किञ्चित्प्रकाशयति किञ्चिन्न न प्रकाशयति तत्र सावरणत्वमेव निबन्धनं तदुक्तं ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धरि तथा च अस्मदादिज्ञानं सावरणं स्वविषयेऽप्रवृत्तिमत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा क्षायिकं केवलज्ञानमित्याह–

पृ. ११. पं. २३ स्व विषय इति–अस्मदादिज्ञानमप्यस्पष्टतया सर्वं गृह्णात्येव तत्काले यत्स्पष्टतया न सर्वस्य ग्रहणं तत्र सावरणमेव निबन्धनम्, अस्पष्टतयाऽप्यस्मदादिज्ञानस्य सर्वविषयकत्वाभावे, इदं वाच्यं प्रमेयत्वादित्यादौ यद्यत्प्रमेयं तत्तद्वाच्यमित्येवं प्रमेयत्ववाच्यत्वयोस्सर्वेऽपि संहारेण व्याप्तिग्रहणमपि

न भवेत्, तथा च तत्प्रभवाऽनुमितिरपि न स्यात्, तथा पर्वतो वह्निमान्धूमादित्यादौ यो यो धूमवान् स स वह्निमानित्येवं सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहणमपि कालान्तरीयदेशान्तरीयधूमवह्न्यादिग्रहणे सत्येव युज्यते नान्यथेति ज्ञानमात्रस्य सर्वविषयत्वमेवमपि यन्न विशेषतः स्वविषये प्रवृत्तिस्तत्रावरणमेव तन्त्रमित्याह ।

पृ. ११. पं. २४ असर्वविषयत्वे इति–ज्ञानं हि स्वप्रकाशस्वभावत्वात्स्पष्टमेव, तथापि यत्कचिद्विषयेऽस्पष्टं तत्परनिबन्धनं, परश्च तत्रावरणमेवेत्याह ।

पृ. ११. पं. २४ सावरणत्वाभाव इति, सिद्धे चैवमावरणस्वरूपे कर्मणि सम्यग्दर्शनादिना तस्यात्यन्तक्षये जायमानस्य ज्ञानस्य कैवल्यमपि निरावरणत्वलक्षणं सिद्धिपथमेतीत्याह ।

पृ. ११. पं. २५ आवरणस्य चेति योगाभ्यासजनितधर्मविशेषसहकृतमनसा योगिनः सर्वविषयकं ज्ञानम्प्रादुरस्ति तदेव केवलज्ञानमितिवैशेषिकादयः प्रलपन्ति तन्मतमपाकर्तुमाह ।

पृ. ११. पं. २७ योगजेति–योगाभ्यासजनितेन धर्मेण सहकृतं यन्मनस्तज्जन्यमेव एवकारेण भावनाप्रकर्षजन्यं केवलज्ञानमित्यादेर्व्यवच्छेदः ।

पृ. ११. पं. २७ इदम्–केवलज्ञानम् ।

पृ. ११. पं. २७ केचित्–वैशेषिकादयः, वदन्तीति शेषः–

पृ. ११. पं २७ तन्न–उक्तमतं न समीचीनम्, यो यस्य विषयस्तज्ज्ञानमेव तेन जन्यते न हि रूपज्ञानं चक्षुर्भिन्नेन केनापीन्द्रियेण किन्तु चक्षुषैव, एवं रसादिज्ञानमपि रसनादीन्द्रियेण, सहकारिकारणन्तु स्वविषय एव करणस्य बलमादधाति न तु स्वाविषये करणप्रवृत्तिमाधातुमलमिति आत्ममात्रापेक्षस्य स्वावरणक्षयसमुत्थस्य केवलज्ञानस्य जनने न योगाभ्यासजनितधर्मविशेषसहकृतस्यापि मनसः सामर्थ्यमिति न तादृशमनःप्रभवन्तदित्याह ।

पृ. १२. पं. १ धर्मानुगृहीतेनापीति–योगजधर्मसहकृतेनापीत्यर्थः ।

पृ. १२. पं. १ पञ्चेन्द्रियार्थज्ञानवदिति–यथा च चक्षुरादिजन्यत्वेनाभिमतस्य रूपादिज्ञानस्य जननेन मनसः सामर्थ्यं यदि मनसस्तत्र सामर्थ्यं

स्यात्तदा तेनैव रूपादिज्ञानजननसम्भवाच्चक्षुरादिपञ्चेन्द्रियकल्पनवैयर्थ्यमेव प्रसज्येत, तथेत्यर्थः।

पृ. १२. पं. १ अस्य–केवलज्ञानस्य, केवलिनो जिनस्य कवलाहारं दिगम्बरा नाभ्युपगच्छन्ति, केवलज्ञानस्य ज्ञानान्तराद्यथा सर्वविषयकत्वलक्षणो विशेषः तथास्वयोगिनि पुरुषधौरेये कवलाहारमन्तरेणापि शरीरधारणसामर्थ्याधानमिति। तथा च ये कवलभोजिनस्ते न केवलज्ञानवन्तः, ये च केवलज्ञानवन्तस्ते न कवलभोजिन इति तन्मतमुपन्यस्य प्रतिक्षिपति।

पृ. १२. पं. ३ कवलभोजिन इति कवलाहारकारिण इत्यर्थः।

पृ. १२. पं. ३ कैवल्यम्–केवलज्ञानवत्त्वम्, एतदुक्तिश्च श्वेताम्बराणामस्माकं केवलिनि कवलाहारमभ्युपगच्छतां मतस्य विद्वेषेणेति–

पृ. १२. पं. ३ दिक्पटः–दिगम्बरः।

पृ. १२. पं. ३ तन्न–उक्तमतं न समीचीनम्, केवलज्ञाने जातेऽपि केवलिनि आहारपर्याप्तिनामकर्मणोऽसातवेदनीयकर्मणश्चोदयादेः कवलभोजनकारिणस्यास्मदादाविव सद्भावेन कवलाहारस्य तत्र सम्भवात्, न चोक्तकारणप्रसूतस्य कवलाहारस्य केवलज्ञानेन विरोधो येन तस्मिन् सति स न भवेत्, ज्ञानावरणादिकर्मणामेव केवलज्ञानेन सह विरोध इति तस्मिन्सति तेषामेवाभाव इत्याह।

पृ. १२. पं. ४ आहारपर्याप्तीति–यस्य कर्मणो बलादाहारं कर्त्तुं प्रभवति जन्तुस्तदाहारपर्याप्तिनामकर्मेत्यर्थः। सातं सुखं तद्भिन्नमसातं दुःखं तद्वेदनन्तदुपभोगस्तदनुभवो यस्य कर्मण उदयाद्भवति तदसातवेदनीयं कर्म तदुदयादिजन्यया कवलभुक्त्या कवलाहारेण समं कैवल्यस्य केवलज्ञानवत्त्वस्य विरोधाभावात् एककालावच्छेदेनैकत्राप्यात्मनि तयोस्सम्भवादित्यर्थः।

पृ. १२. पं. ५ घातिकर्मणामेवेति–येन कर्मणाऽऽवेष्टितो नितरां बद्धो जन्तुर्जगति नरामरतिर्यक्नरकगतिषु जन्मादिकमनुभवति। तत्कर्म अष्टविधं, तत्र नामादीनि चत्वारि कर्माणि अघातीनि आत्मनो ज्ञानदर्शनचारित्रवीर्यरूपगुणस्याविघातकानि ज्ञानादीनां सद्भावकालेऽपि तेषां सद्भावात्स्वफलोपभोगेनैव

तेषां विनाशात्, यानि तु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीयाऽन्तराख्यानि ज्ञानादिगुणानां विघातकानि तानि घातिकर्माणि तेषामेवेत्यर्थः ।

पृ. १२. पं. ५ तद्विरोधित्वात्-कैवल्यविरोधित्वात् । नन्वाहारपर्याप्त्यसातावेदनीयादि कर्म यद्यपि केवलिनि समस्ति तथापि केवलज्ञानज्योतिषा दग्धरज्जुकल्पन्तदिति न स्वकार्यकवलाहारकरणक्षममतो न कवलाहारो भगवत इत्याशङ्कते । दग्धरज्जुस्थानीयादिति दग्धरज्जुसदृशादित्यर्थः, सादृश्यश्च स्वकार्यकरणाक्षमत्वेन, कर्माभावबन्धहेतुः रज्जुश्च द्रव्यबन्धहेतुरित्येवंभेदेऽपि सामान्यतो बन्धहेतुत्वन्तयोस्समानं, दग्धरज्जोर्यथा न बन्धहेतुत्वन्तथा प्रकृतकर्मणोऽपि केवलज्ञानकाल इति ।

पृ. १२. पं. ६ ततः-आहारपर्याप्त्यादितः ।

पृ. १२. पं. ६ तदुत्पत्तिः-कवलभुक्तिजन्म । यदि केवलज्ञानकाले सदपि आहारपर्याप्त्यादिकर्म स्वफलन्न कुर्याद् दग्धरज्जुकल्पत्वात्, एवं सति तदानीं तथैव दग्धकल्पादायुःकर्मणोऽपि श्वासप्रश्वासादिलक्षणप्राणसञ्चारस्वरूपभवोपग्रहो न भवेदिति केवलज्ञानानन्तरमेव मरणं प्रसज्येतेति समाधत्ते ।

पृ. १२. पं. ६ नन्वेवं तादृशात्-केवलज्ञाने सति दग्धरज्जुकल्पात्

पृ. १२. पं. ६ आयुषः-जीवनादृष्टस्वरूपायुःकर्मणः । भवोपग्रहोऽपि कञ्चित्काले संसारेऽवस्थानमपि केवलिनः औदारिकशरीरस्थित्यन्यथानुपपत्त्याऽपि केवलिनि कवलाहारोऽभ्युपगन्तव्य इत्याह ।

पृ. १२. पं. ६ किञ्चेति-कार्मण तैजस वैक्रिय आहारक औदारिकभेदेन जैनमते शरीरं पञ्चविधम् । तत्र ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मसमूहस्वरूपं कार्मणम्, तत्सहचरितमेव तैजसशरीरं, यतः शरीरे औष्ण्योपलब्धिः, देवादीनां वैक्रियशरीरं यद्बलाद्यथेच्छति तथा शरीरमेषां भवति, आहारकलब्धिमतामाहारकशरीरं तदल्पकालस्थायि, यच्छरीरमुपादाय देशान्तरस्थितकेवलिभगवन्निकटे स्वप्रश्नोत्तरावाप्त्यर्थं तूर्णं गच्छति, ततो झटित्येवागत्य तच्छरीरं मुञ्चति । दृश्यमानश्चेदं शरीरमौदारिकम्, एतस्य शरीरस्य स्थितिः कवलाहारबलादेवास्मदादीनां दृष्टेति

औदारिकशरीरस्थितिम्प्रति कवलाहारस्य सामान्यत एव कार्यकारणभावस्य निर्णीतत्वेन कवलाहाररूपकारणं विना केवलिन औदारिकशरीरस्थितिरूपकार्यं कथं स्यान्न स्यादेवेत्यर्थः । यदि चास्मदादीनामाहारमन्तरेण शरीरधारणे सामर्थ्य-विशेषलक्षणवीर्यन्नास्तीति नास्मदादीनामौदारिकशरीरावस्थानं कवलाहारमन्तरेण सम्भवति, केवली तु भगवाननन्तवीर्य इति वीर्यविशेषबलादेव तदौदारिकशरीर-स्थितिः सम्भवतीति न तत्र कवलाहारपेक्षा, तर्हि केवलज्ञानात्पूर्वमपि तस्यापरिमि-तबलत्वमागमे भणितमिति तद्बलाच्छद्मस्थावस्थायां केवलज्ञानोत्पत्तितःप्राक्का-लीयानामपि कवलाहारस्तस्य न स्यादेव तं विनाऽपि तदीयशरीरस्थितिसम्भ-वादित्याह ।

पृ. १२. पं. ८ अनन्तवीर्यत्वेनेति–अपरिमितवीर्यत्वेनेत्यर्थः ।

पृ. १२. पं. ८ तां विना–कवलभुक्तिमन्तरेण ।

पृ. १२. पं. ८ तदुपपन्तौ–भगवत औदारिकशरीरस्थितिसम्भवे, इति केवलिनः कवलाहारमनभ्युपगच्छतो दिगम्बरस्य खण्डनम्, इति केवलज्ञाननि-रूपणम्, इत्थं निरूपितं प्रत्यक्षप्रमाणमुपसंहरति । उक्तं प्रत्यक्षमिति ॥

॥ इति प्रत्यक्षप्रमाणनिरूपणम् ॥

॥ अथ परोक्षप्रमाणनिरूपणम् ॥

अथ परोक्षप्रमाणनिरूपणमधिकरोति ।

पृ. १२. पं. १२ अथेति–अस्पष्टमिति लक्षणनिर्देशः परोक्षमितिलक्ष्य-निर्देशः । अस्पष्टता च प्रत्यक्षतोऽल्पतरविशेषप्रकाशनम्, अस्पष्टज्ञानामीत्यनु-भवसिद्धो विषयताविशेषो वा, यस्य ज्ञानं स विषयः, तद्विषयकं च ज्ञानं, विषये विषयतास्वरूपसम्बन्धेन वर्त्तते, ज्ञानेन सह विषयगताया विषयताया निरूप्य-निरूपकभावः सम्बन्धः । तत्र विषयताज्ञाननिरूपिता (ज्ञाननिरूप्या) भवति, ज्ञानं च विषयतानिरूपकम्भवति, तथा च निरूपकतासम्बन्धेन अस्पष्टताख्यवि-षयता अस्पष्टताख्यविषयता निरूपकत्वं वा परोक्षप्रमाणस्य लक्षणमितिभावः ।

॥ अथ परोक्षप्रमाणस्य विभागः ॥

परोक्षप्रमाणं विभजते ।

पृ. १२. पं. १२ **तच्चेति**–परोक्षप्रमाणञ्चेत्यर्थः । पञ्चसु परोक्षप्रकारेषु प्रथमोद्दिष्टं स्मृतिप्रमाणं निरूपयति ।

पृ. १२. पं. १३ **अनुभवेति**–अनुभवमात्रजन्यं ज्ञानमिति लक्षणनिर्देशः, स्मरणमितिलक्ष्यनिर्देशः । यद्वस्तुनः प्रथमत एव ज्ञानं तदनुभवः प्रत्यक्षं, तर्कः, अनुमितिः शाब्दबोधश्च, ततः पूर्वकालीनादुक्तस्वभावादनुभवादयं घटइत्याद्याकाराद्यदुत्तरकाले स घट इत्याद्याकारकं ज्ञानमनुभूतपदार्थविषयकं प्रादुर्भवति तत्रानुभव एव करणं अनुभवजन्या वासना च भावनासंस्कारापरनामधेया तत्रानुभवस्मरणमध्यकालवर्तिनी अनुभवस्य व्यापारतया स्मरणे कारणमिति करणतयाऽनुभवमात्रजन्यं ज्ञानं भवति स्मरणमितिलक्षणसमन्वयः । उक्तलक्षणलक्षितं स्मरणमुदाहरति ।

पृ. १२. पं. १४ **यथेति**–पूर्वं तीर्थकर्तुर्जिनस्य प्रतिमाऽनुभूता कालान्तरे कुतश्चित्कारेणात्तद्विषयिण्या वासनाया तत्-तीर्थकरबिम्बमिति ज्ञानम्भवति तज्ज्ञानं स्मरणमित्यर्थः । अनुभूतमात्रार्थविषयकत्वादगृहीतग्राहित्वाभावेन स्मृतेर्न प्रामाण्यमितिमीमांसकादयः, विकल्परूपत्वान्न प्रामाण्यमिति बौद्धाः, यथार्थानुभवस्यैवान्यानपेक्षस्य प्रमात्वं स्मृतेस्तु अनुभवत्वाभावात् च प्रामाण्येऽनुभवप्रामाण्यापेक्षणात्स्वातन्त्र्याभावेन न प्रामाण्यमितिगौतमीयाः वैशेषिकाश्च, स्याद्वादिनो जैनास्तु स्मृतेः प्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तस्तन्मतमाशङ्क्य प्रतिक्षिपन्ति ।

पृ. १२. पं. १४ **न चेदमप्रमाणमिति**–इदं स्मरणमप्रमाणमिति नाशङ्कनीयमित्यर्थः । प्रामाण्येऽबाधितार्थविषयकत्वमेव योजकं, नागृहीतग्राहित्वानुभवत्वादिकमपि तच्चाविसंवादकत्वात्स्मरणेऽप्यस्तीति प्रत्यक्षादिवत्तदपि प्रमाणमेवेत्याह ।

पृ. १२. पं. १५ **प्रत्यक्षादिवदिति**–आदिपदादनुमानादिपरिग्रहः ।

पृ. १२. पं. १५ **अविसंवादकत्वात्**–यया प्रवृत्त्या अर्थप्राप्तिर्न भवति सा प्रवृत्तिर्विसंवादिनी, तस्या जनकं भ्रमात्मकं ज्ञानं विसंवादकं, तादृशं यन्न भवति अर्थात्सत्यप्रवृत्तिजनकं ज्ञानमविसंवादकं तत्त्वादित्यर्थः, यस्मिन्मन्दिरे

पूर्वमनुभूतं यत्तीर्थंकरबिम्बं स्मृतौ सत्यां तद्देशगमने तत्र तत्तीर्थंकरप्राप्तिर्भवतीत्यतो यथार्थप्रवृत्तिजनकत्वात्स्मरणं प्रमाणमेवेत्यर्थः, यथा च कस्यचित्प्रत्यक्षादेरयथार्थप्रवृत्तिजनकत्वेनाप्रामाण्येऽप्येतावता न तज्जातीयस्य सर्वस्य प्रत्यक्षादेरप्रामाण्यं तथैव कस्यचित्स्मरणस्य विसंवादकस्याप्रामाण्यमित्यपि बोध्यम् । ननु स घटोऽस्तीतिस्मृतिरुपजायमाना दृश्यते सा तद्देशकालवृत्तित्वरूपतत्ताविशिष्टघटे वर्तमानकालवृत्तित्वम्बोधयन्ती न प्रमाणं, स्मृतस्य घटस्य विशेष्यीभूतस्य वर्त्तमानकालवृत्तित्वेऽपि विशिष्टे तस्मिन् विशेषणीभूतायां वा तद्देशकालवर्त्तित्वरूपायां तत्तायां वर्तमानकालवृत्तित्त्वस्य बाधादिति बाधितार्थविषयकत्वस्याप्रामाण्यनिबन्धनस्य तत्र भावादिति चिन्तामणिकारानुयायिनो नव्यनैयायिकाः प्रत्यवतिष्ठन्ते ।

पृ. १२. पं. १५ अतीततत्तांशे...प्रमाणमिदमिति–स्मरणम्, यत्र विशेषणस्य सुखादेः विशेष्यकालवृत्तित्वं सुखीत्यादौ तत्र विशेषणे विशेष्यकालवृत्तित्वस्य भानेऽपि सर्वत्र विशेषणे विशेष्यकालवृत्तित्वभाने मानाभावाद्विशेषणे-सर्वत्र विशेष्यकालनियमः परेषान्निर्युक्तिकत्वान्नोपादेय इति तत्तांशे वर्त्तमानकालवृत्तित्वमविषयीकृत्यापि स घट इति स्मृतिर्भवन्ती न निरोद्धुं शक्येति तस्या अबाधितार्थविषयकत्वात्प्रामाण्यं स्यादेवेति समाधत्ते ।

पृ. १२. पं. १६ नेति–वस्तुतः स घट इत्येव स्मरणं न तु स घटोऽस्तीति, वर्त्तमानकालवृत्तित्त्वं विशेष्यांशेऽपि स्मृतिर्नावगाहत एवेति कुतस्तस्या विशेषणांशे तदवगाहित्ववार्त्ताऽपीति । कुसुमाञ्जलौ चतुर्थस्तबके उदयनाचार्येणोक्तं ।

"अव्याप्तेरधिकव्याप्तेरलक्षणमपूर्वदृग् । यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते ॥ ॥ १ ॥ इति तस्यायमर्थः ।

अपूर्वदृग्–अनधिगतार्थाधिगन्तृज्ञानं । **अलक्षणं**—प्रमाया लक्षणं न भवति, लक्षणं हि अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषरहितं सद्भवितुमर्हति, तत्र अव्याप्तिः –लक्ष्यैकदेशे लक्षणस्यागमनं, यथा गोः शाबलेयत्वं लक्षणं कृतं चेत्तस्य लक्ष्यैकदेशे बाहुलेये गवि असत्त्वेनाव्याप्तिदोषः । अलक्ष्ये लक्षणगमनमतिव्याप्तिः, यथा गोः शृङ्गित्वं, तस्य अलक्ष्ये महिषे सत्त्वेनातिव्याप्तिदोषः; लक्ष्यमात्रे लक्षणागमनमसम्भवः यथा गोरेकशफत्वम्, गोमात्रस्य खुरद्वयवत्त्वे न एकखुर-

वत्त्वस्य गोमात्र एवाभावादसम्भवः, मीमांसकोक्तमपि अनधिगतार्थाधिगन्तृज्ञानत्वं प्रमाया लक्षणं, यत्र घटे चक्षुस्सन्निकर्षस्य चिरकालमवस्थाने, ततः अयं घटोऽयं घट इत्येवं ज्ञानाधारा जायते तत्र धारावाहिकज्ञाने पूर्वपूर्वज्ञानगृहीतस्यैव घटस्योत्तरोत्तरज्ञानेनावगाहनाद्गृहीतग्राहित्वेनागृहीतग्राहित्वस्याभावादव्याप्तेः, भ्रमे चेदं रजतमितिज्ञाने पूर्वज्ञानागृहीतस्य शुक्तौ रजतत्वस्य ग्राहित्वादतिव्याप्तिर्न संभवति, एवञ्च यथार्थानुभवोऽबाधितार्थग्राह्यनुभवः, मानं-प्रमा, स्मृतेरपि यथार्थत्वात्सा च स्वप्रामाण्ये स्वकरणीभूतस्य प्रामाण्यापेक्षणात्, अनुभवे प्रमाणे सत्येव तज्जन्या स्मृतिः प्रमा नान्यथेति स्वप्रामाण्ये तस्या अन्यप्रामाण्यापेक्षा नो वस्तुगत्या न तस्याः प्रामाण्यमितितद्व्यावृत्तये प्रमालक्षणेऽनुभवत्वं निवेश्यते, अनपेक्षतयैव चानुभवो मानमिष्यत इति । ततश्च स्मृतिर्न प्रमाणमित्याशङ्कते ।

पृ. १२. पं. १५ **अनुभवेति...पारतन्त्रादत्रेति**-स्मरणे, स्वप्रमात्वे अन्यदीयप्रमात्वनिरपेक्षत्वे सत्येव यदि प्रामाण्यमिष्यते तदाऽनुमितिरपि प्रमा न भवेत्, साऽपि प्रमात्मकव्याप्तिज्ञानजन्यैव प्रमेतिस्वप्रामाण्ये व्याप्तिज्ञानप्रामाण्यापेक्षणादिति समाधत्ते ।

पृ. १२. पं. १८ **अनुमितेरपीति**-व्याप्तिज्ञानादीत्यादिपदात्परामर्शपरिग्रहः । व्याप्तिज्ञानस्यानुमित्युत्पत्तावेवापेक्षा न तु अनुमितौ विषयप्रतिभासे इति स्वविषयप्रतिभासेऽनुमितेरन्यमुखनिरीक्षकत्वाभावात्प्रामाण्यमिति शङ्कते ।

पृ. १२. पं. १९ **अनुमिते...परापेक्षा**-व्याप्तिज्ञानाद्यपेक्षा, तदेतत् प्रकृतेऽपि तुलयमिति समाधत्ते ।

पृ. १२. पं. २० **स्मृतेरपीति**-उक्तप्रतिविधानमसहमानः परश्शङ्कते ।

पृ. १२. पं. २१ **अनुभवेति**-यद्यनुभवविषयीकृतभावविषयकत्वात्स्मृतेर्न स्वविषये परिच्छेदे स्वातन्त्र्यम्, तर्हि व्याप्तिज्ञानविषयीकृतव्यापकीभूतसाध्यविषयकत्वादनुमितेरपि न स्वविषयपरिच्छेदे स्वातन्त्र्यं, तर्हि व्याप्तिज्ञानविषयीकृतव्यापकीभूतसाध्यविषयकत्वादनुमितेरपि न स्वविषयपरिच्छेदे स्वातन्त्र्यमिति साऽपि प्रमा न भवेदिति समाधत्ते ।

पृ. १२ पं. २३ **तर्हीति**-ननु यो यो धूमवान् स स वह्निमानितिव्या-

प्तिज्ञाने सामान्येनैव धूमाधिकरणे सामान्यत एव वह्निर्भासते, अनुमितौ तु विशेषतो धूमादाकरणे पर्वतरूपपक्षे पर्वतीयो वह्निर्भासते तथा व्याप्तिज्ञाने वह्नि-सम्बन्धतया संयोग एव भासते। अनुमितौ पुनः पक्षतावच्छेदकीभूतपर्वतव्या-पकवह्निप्रतियोगिकसंयोगो वह्नेर्भासत इति न व्याप्तिगृहीतमात्रस्यानुमितौ मान-मितिविषयपरिच्छेदे स्वातन्त्र्यमस्त्येवानुमितेरिति शङ्कते।

पृ. १२. पं. २४ नैयत्येनेति–प्रतिनियतपर्वतत्वादिरूपपक्षतावच्छेदकरू-पेण पक्षतावच्छेदव्यापकविधेयप्रतियोगिकसंयोगत्वादिरूपेण चेत्यर्थः।

पृ. १२. पं. २४ अभात एव–व्याप्तिज्ञानेऽप्रतिभात एव, अर्थः पर्वतादिः।

पृ. १२. पं. २४ अनुमित्या पर्वतो वह्निमानित्यनुमित्या, अयं घट इत्य-नुभवे इदन्तैव भासते, न तु पूर्वकालवृत्तित्वरूपा तत्तेति तद्रूपेणानुभवेऽप्रतिभात एवं घटादिरर्थस्सद्य इतिस्मृत्या विषयीक्रियते इति स्मृतेरपि स्वविषयपरिच्छेदे स्वातन्त्र्यं समानमेवेति समाधत्ते।

पृ. १२. पं. २५ तर्हि तत्तया...न किञ्चिदेतत्–स्मृतेःपारतन्त्र्यान्न प्रामाण्यमिति न समीचीनमित्यर्थः॥

॥ इति स्मृतिनिरूपणम् ॥

॥ अथ प्रत्यभिज्ञाननिरूपणम् ॥

प्रत्यभिज्ञानं निरूपयति।

पृ. १२. पं. २८ अनुभवेति–प्रत्यभिज्ञानमिति लक्ष्यनिर्देशः, सङ्कलना-त्मकं ज्ञानमितिलक्षणनिर्देशः। अनुभवस्मरणाभ्यां सम्भूय सङ्कलनात्मकमेकं ज्ञानं जन्यत इति अनुभवस्मृतिकमिति कारणनिर्देशः तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगो-चरमितिविषयकथनम्, अनुभवस्मरणविषययोस्तादात्म्यादिसम्बन्धेन विशेषणवि-शेष्यभावेनावगाहिज्ञानं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं तत्प्रत्यभिज्ञानं। तच्च अयं घट इत्यादिर्यो वर्त्तमानविषयकोऽनुभवः स घट इत्यादिकं यत्पूर्वानुभूतार्थस्मरणं ताभ्यां जन्यत इति अनुभवस्मृतिहेतुकम्, ॥

पृ. १२. पं. २८ तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरमिति–किञ्चित्प्रत्य-

भिज्ञानं तिर्यक्सामान्यगोचरं, किञ्चिच्च ऊर्ध्वतासामान्यगोचरं, आदिपदात्सादृश्य–वैलक्षण्य–दूरत्व–समीपत्व–प्रांशुत्व-ह्रस्वत्वादिसनिरूपकधर्माणामुपग्रहः तेन सादृश्यादिगोचरमपि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः । अत्र विभिन्नदेशकालस्थितानां घटादिव्यक्तीनां सदृशाकारपरिणामलक्षणं घटत्वादिसामान्यं तिर्यक्सामान्यं, कुण्डलकटकादिपूर्वापरपर्यायानुगामिसुवर्णादिद्रव्यश्च ऊर्ध्वतासामान्यमितिविवेकः, उदाहरति–

पृ. १३. पं. १ यथेति–तज्जातीय एवायं गोपिण्ड इति तिर्यक्सामान्यावगाहिप्रत्यभिज्ञानम्, एको गोपिण्डः पूर्वमुपलब्धः अनन्तरं यदा कदापि द्वितीयो गोपिण्डो दृश्यते तदानीं पूर्वानुभूतां गोव्यक्तिं स्मरतः पुंसस्तज्जातीय एवायं गोपिण्ड इतिज्ञानमुपजायते, तच्च ज्ञानं पूर्वानुभूतगोव्यक्तिगतसमानाकारपरिणामलक्षणगोत्वजातिमत्त्वं पुरोवर्तिन्यां गोव्यक्तावगाहत इति, गोसदृशो गवय इत्यपि प्रत्यभिज्ञानं गोत्वातिरिक्तपूर्वानुभूतगोव्यक्तिगतकतिपयसमानाकारलक्षणतिर्यक्सामान्यवत्त्वप्रयोज्यसादृश्यवत्त्वमेव गवये वर्त्तमानानुभवविषयेऽवगाहत इति तिर्यक्सामान्यावगाह्येव सत्सादृश्यावगाहिप्रत्यभिज्ञानम् । स एवायं जिनदत्त इति तु ऊर्ध्वतासामान्यावगाहिप्रत्यभिज्ञानं, यतः बाल्यावस्थाकलितो जिनदत्तः पूर्वमनुभूतः स एव युवा पुनरिदानीमनुभवपदवीमुपगतस्ततः पूर्वदृष्टं बालं तं स्मरतः इदानीं युवानं पश्यतः पुंसः स एवायं जिनदत्त इति ज्ञानम्भवति, अवयवोपचयापचयाभ्याञ्च न बालयुवशरीरयोरैक्यमिति तच्छरीरद्वयानुगाम्येकजिनदत्तशरीरद्रव्यरूपोर्ध्वतासामान्यं यदवलम्बनेनैक्यावगाह्युक्तज्ञानमिति । अनयैवदिशा स एवायं घटः स एवायं पट इत्यादिप्रत्यभिज्ञानानामप्यूर्ध्वतासामान्यावगाहित्वं भावनीयम्, स एवानेनार्थः कथ्यत इत्यपि पूर्वपुरुषकथितार्थेन सहैतत्पुरुषकथितार्थस्वजात्याऽभेदे तिर्यक्सामान्यावगाहि, व्यक्त्याऽभेदे तु पर्यायतो भेदस्यावश्यम्भावत ऊर्ध्वतासामान्यबलादेवाभेद इति ऊर्ध्वतासामान्यावगाहि प्रत्यभिज्ञानमिति, को महिष इति कस्यचिज्जिज्ञासायां यदेतद्गवांककदम्बके गोभ्यो विलक्षणः स महिष इतिज्ञानमुत्पद्यते तद्वैलक्षण्यावगाहिप्रत्यभिज्ञानमित्याह ।

पृ. १३. पं. १ गोविलक्षणो महिष इति–अन्यदाऽपि च केवलमहिषव्यक्तिदर्शने गवां स्मरणे गोविलक्षणो महिष इतिज्ञानमनुभवस्मृतिहेतुकत्वात्प्र-

त्यभिज्ञानमवगन्तव्यम् । यदपेक्षया यद्दूरं तस्य स्मरणे सत्येव दूरस्य वस्तुनोऽनुभवे सति इदं तस्माद्दूरमितिज्ञानमुदेत्यतोऽनुभवस्मृतिहेतुकत्वात्प्रत्यभिज्ञानमवसेयम्, इदं तस्मात्समीपमित्यादिज्ञानेऽप्युक्तदिशा प्रत्यभिज्ञानता भावनीया । यश्च बौद्धः प्रत्यभिज्ञानस्य प्रामाण्यन्नाभ्युपगच्छति तन्मतं प्रतिक्षेप्तुमुपन्यस्यति ।

पृ. १३. पं. ५ तत्तेदन्तेति–सोऽयमित्यत्र स इत्यनेन तत्तारूपोऽस्पष्टाकारः इदमित्यनेनेदन्तारूपस्पष्टाकारोऽवभासते, स्पष्टास्पष्टाकारयोश्च विरोधान्नैकत्र ज्ञाने सम्भव इति स इतिज्ञानं पृथग् अयमितिज्ञानञ्च पृथगिति सोऽयमित्येकज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानतयाऽभिमतस्याभावादेव न प्रामाण्यसम्भव इति बौद्धाभिप्रायः । अनुभूयमानस्यापलापो न सम्भवति यथा तव मते आकाराकारिणोरभेदाज्ज्ञानान्तरं विभिन्नाकारं विभिन्नमेव, अथापि नीलपीतेत्याकारकमेकं चित्रज्ञानमाकारभेदेऽपि स्वीकरणीयमेवेति समाधत्ते ।

पृ. १३. पं. ६ तन्नेति, तस्य–सोऽयमितिज्ञानस्य अथवा सोऽयमितिज्ञानमस्पष्टैकरूपमेवेति नाकारभेदः, इदन्तोल्लेखश्च स्मृतिस्वरूपव्यावृत्तिकृतं प्रत्यभिज्ञानस्वाभाव्यनिबन्धनमेव, प्रत्यभिज्ञानसामग्री च अनुभवस्मृतिघटितस्वावरणक्षयोपशमरूपा अस्पष्टतत्स्वरूपजनिकैवेति न स्पष्टतेत्याह ।

पृ. १३. पं. ७ स्वसामग्रीति–प्रत्यभिज्ञानसामग्रीत्यर्थः ।

पृ. १३. पं. ७ अस्य–प्रत्यभिज्ञानस्य स इति स्मरणविषयः अयमिति च प्रत्यक्षविषयः । तदुभयभिन्नस्तु नास्त्येव प्रत्यभिज्ञानस्य विषय इति विषयाभावे विषयिणोऽपि ज्ञानस्याभाव इति बौद्धःशङ्कते ।

पृ. १३. पं. ८ विषयाभावादिति–इदं प्रत्यभिज्ञानम्, पूर्वापरकालवर्त्तिनोः पर्याययोरनुगामि यद्द्रव्यं तन्न स्मरणस्य विषयो नापि प्रत्यक्षस्य विषय इति तदेव द्रव्यं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयः, तद्द्रव्यं चाभेदस्वरूपं पूर्वापरपर्यायविशिष्टं सत्प्रत्यभिज्ञाने भासत इत्यतिरिक्तविषयत्वाद्भवति प्रत्यभिज्ञानम्प्रमाणमिति समाधत्ते ।

पृ. १३. पं. ९ न पूर्वापरविवर्त्तवृत्तीति–पूर्वापरपर्यायानुगामीत्यर्थः ।

पृ. १३. पं. ९ एतद्विषयत्वात्-प्रत्यभिज्ञानविषयत्वात्, भेदाख्यातिवादी प्रभाकरस्तु शुक्ताविदं रजतमित्यादिविशिष्टज्ञानलक्षणभ्रममपलपन् सर्वस्य ज्ञानस्य याथार्थ्यमेवोररीकुर्वन् भ्रमस्थले इदमितिज्ञानं प्रत्यक्षं रजतमितिज्ञानं स्मरणमित्यभ्युपेत्य तयोर्भेदाग्रहादेव विसंवादिप्रवृत्तिरितिमन्यमानःप्रत्यभिज्ञानस्थलेऽपि स इतिस्मरणविषयस्यायमितिप्रत्यक्षविषयेण सहासंसर्गाग्रहादेव प्रत्यभिज्ञानकार्यसम्भवात्स्मरणप्रत्यक्षरूपज्ञानद्वयव्यतिरिक्तं विशिष्टज्ञानरूपं प्रत्यभिज्ञानं नास्त्येवेति प्रलपति तन्मतमपि प्रत्यभिज्ञानस्य पूर्वापरपर्यायानुगामिद्रव्यविषयकत्वव्यवस्थापनतो निरस्तमित्याह।

पृ. १३. पं. १० अत एवेति-पूर्वापरविवर्त्तवर्त्येकद्रव्यस्य विशिष्टस्य प्रत्यभिज्ञानविषयकत्वादेवेत्यर्थः। अस्य निरस्तमित्यनेनान्वयः अगृहीतासंसर्गकं तत्त्वाविशिष्टेन सह इदन्ताविशिष्टस्यासंसर्गोऽभेदाभावलक्षणो न गृहीतो येन तथाभूतम्।

पृ. १३. पं. ११ एतत्-सोऽयमितिप्रत्यभिज्ञानम्, विशिष्टज्ञानस्यागृहीतासंसर्गकज्ञानद्वयरूपतयोपपादने प्रत्यभिज्ञानवद्घटवद्भूतलमित्यादिज्ञानानामपि तथैवोपपादनसम्भवाद्विशिष्टज्ञानमात्रमुच्छिद्येतेत्याह।

पृ. १३. पं. ११ इत्थं सतीति-विशिष्टज्ञानरूपस्यापि प्रत्यभिज्ञानस्य निरुक्तज्ञानद्वयरूपत्वे सतीत्यर्थः, प्रत्यभिज्ञानमिन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वात्प्रत्यक्षमेव, तत्तांशे इन्द्रियसंयुक्तमनस्संयुक्तात्मसमवेतसविषयकरूपो ज्ञानलक्षणालौकिकसन्निकर्ष इदमांशे च संयोगादिलक्षणलौकिकसन्निकर्षः, उद्बुद्धसंस्कारादेव प्रत्यभिज्ञानाभ्युपगमेऽलौकिकसन्निकर्षः संस्काररूपः, स्मरणोत्तरं तदभ्युपगमे स्मरणमेवालौकिकसन्निकर्ष इतिप्रत्यभिज्ञानं न प्रमाणान्तरमितिनैयायिकमतं प्रतिक्षेप्तुमुपन्यस्यति।

पृ. १३. पं. १२ तथापीति-प्रत्यभिज्ञानस्य विशिष्टरूपत्वेऽपीत्यर्थः।

पृ. १३. पं १२ अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधानात्-चक्षुरादीन्द्रियसन्निकर्षे सति प्रत्यभिज्ञानोत्पादः, तदभावे प्रत्यभिज्ञानानुत्पाद इत्येवमक्षेण सह प्रत्यभिज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकयोरनुविधानात्।

पृ. १३. पं. १३ **इदम्**–सोऽयं घट इत्यादिप्रत्यभिज्ञानम्, प्रत्यभिज्ञानस्य साक्षात्स इति यत्स्मरणमयमिति यत्प्रत्यक्षं ताभ्यां सममेवान्वयव्यतिरेकानुविधानं। ननु साक्षादिन्द्रियेण सहेति नास्य प्रत्यक्षत्वमनुभवस्मरणहेतुकत्वेन प्रमाणान्तरत्वमेवेति प्रतिक्षिपति ।

पृ. १३. पं. १३ **तन्नेति**–प्रत्यभिज्ञानस्येन्द्रियजन्यत्वे ।

पृ. १३. पं. १५ **प्रथमव्यक्तिदर्शनकाले**–यत्कालात्पूर्वं यद्व्यक्तेर्दर्शनन्नाभूदथ च तत्काले तद्व्यक्तेर्दर्शनमजनि, तत्काल एव ।

पृ. १३. पं. १६ **उत्पत्तिप्रसङ्गात्**–प्रत्यभिज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गात्, साक्षादिन्द्रियसन्निकर्षजन्यमेव तद्भवतेष्यते इन्द्रियसन्निकर्षश्च तदानीमपि समस्त्येव, प्रथमदर्शनसमये प्रत्यभिज्ञानोत्पत्तिवारणाय नैयायिकः स्वमन्तव्यम्प्रकटयति ।

पृ. १३. पं. १७ **अथेति**–प्रथमव्यक्तिदर्शनकाले चैवं सति न प्रत्यभिज्ञानोत्पतिप्रसङ्गः, ततः पूर्वं तद्दर्शनस्याभावेन तज्जनितसंस्काराभावे तत्प्रबोधस्याभावतस्तज्जन्यस्मृतेरभावे तद्रूपसहकारिणोऽभावान्नेन्द्रियन्तदानीं प्रत्यभिज्ञानमुत्पादयितुमलमित्यर्थः । स्मृतिनिरपेक्षेन्द्रियजन्यत्वमेव प्रत्यक्षत्वे प्रयोजकमिति न स्मृतिरिन्द्रियस्य सहकारिणी, यदि च स्मृतिसहकारेणेन्द्रियस्य प्रत्यक्षजनकत्वमभ्युपगम्येत, तदा मन एव व्याप्तिस्मरणलक्षणं सहकारिणमासाद्य पर्वतो वह्निमानितिज्ञानं कुर्यादितीन्द्रियजन्यत्वात्तदपि ज्ञानं प्रत्यक्षमेव भवेदित्युमानमपि प्रमाणान्तरन्न स्यादिति समाधत्ते ।

पृ. १३. पं. १८ **तदनुचितमिति**–उक्तकल्पनं नैयायिकस्य न समीचीनमित्यर्थः ।

पृ. १३. पं. १९ **अन्यथा**–प्रत्यक्षस्य स्मृतिसापेक्षत्वाभ्युपगमे । यथा च प्रत्यक्षस्य प्रतीतिः साक्षात्करोमीत्येवंरूपा ततो विलक्षणा चानुमानस्यानुमिनोमीत्येवंरूपेति प्रत्यक्षाद्व्यतिरिक्ताऽनुमितिरिष्यते, तथा प्रत्यभिज्ञानस्यापि प्रत्यक्षप्रतीतिविलक्षणैव प्रत्यभिजानामीति प्रतीतिरिति प्रत्यक्षाद्भिन्नमेव प्रत्यभिज्ञानमभ्युपगन्तव्यमित्याह ।

पृ. १३. पं. २१ किञ्चेति...विलक्षणप्रतीतेरपि–प्रत्यक्षप्रतीतिविसदृशप्रतीतिबलादपि।

पृ. १३. पं. २१ अतिरिक्तम्–प्रत्यक्षतो भिन्नम्।

पृ. १३. पं. २२ एतत्–प्रत्यभिज्ञानम्, यदपि सोऽयं घट इत्यत्र विशेष्येण घटेन सह चक्षुरिन्द्रियस्य सन्निकर्षात् स इति तत्तारूपविशेषणस्मरणरूपज्ञाने सति जायमानस्य ज्ञानस्य विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वेन प्रत्यक्षत्वमेव युक्तमिति नैयायिकमतं तदपि प्रत्यभिजानामीतिविलक्षणप्रतीतितोऽतिरिक्ततया प्रत्यभिज्ञानस्य सिद्ध्या निरस्तमित्याह।

पृ. १३. पं. २२ एतेन–अस्य निरस्तमित्यनेनान्वयः, तन्निरासे हेत्वन्तरमप्याह।

पृ. १३. पं. २३ एतत्सदृशः स इत्यादाविति...तदभावात्–विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षाभावात्, स एवायं घट इत्यत्र पुरोवर्तिनो घटस्य विशेष्यत्वेन तेन सहेन्द्रियसन्निकर्षस्य भावेऽपि एतत्सदृशः स इत्यादौ सादृश्यरूपविशेषणे प्रतियोगितयेदमर्थस्य विशेषणत्वमेव तच्छब्दार्थस्य तत्ताविशिष्टस्यैव विशेष्यत्वं तेन सह नेन्द्रियसन्निकर्ष इतिभवदभिमतस्य प्रत्यक्षत्वप्रयोजकस्य विशेषणज्ञानसहकृत विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वस्य तत्राभावान्न तस्य प्रत्यक्षत्वं किन्तु तदतिरिक्तत्वमेवेति तस्य प्रमाणान्तरप्रत्यभिज्ञानत्वव्यवस्थितौ सोऽयं घट इत्यस्यापि प्रमाणान्तरप्रत्यभिज्ञानत्वमेवेति, किञ्च स इति स्मृतिः अयमित्यनुभवः सोऽयमिति तयोःसङ्कलनमित्येवं क्रमोऽत्रानुभूयते न चैवं प्रत्यक्ष इत्यतोऽपि प्रमाणान्तरत्वमित्याह।

पृ. १३. पं. २४ स्मृत्यनुभवेति–बौद्धाभ्युपगतजगत्क्षणभङ्गुरापाकरणार्थं सर्वेऽपि स्थैर्यवादिनः प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणतयोररीकुर्वन्त्येव, तत्र पूर्वापरकालीनयोरैक्यावग्राहित्वेनैव प्रत्यभिज्ञानं स्थैर्यसाधनाय क्षणभङ्गबाधनाय च प्रगल्भमिति पूर्वापरैकत्वावगाहिज्ञानस्यैव प्रत्यभिज्ञानत्वं मीमांसकनैयायिकादयोऽभ्युपगच्छन्ति न तु सादृश्यवैसदृश्यादिज्ञानानामपि, जैना पुनरनुभवस्मरणप्रभवानां सादृश्यादिज्ञानानामपि सङ्कलनात्मकत्वाविशेषादेकत्वमात्रविषयकत्वस्य प्रत्यभि-

ज्ञानत्वेऽतन्त्रत्वात्प्रत्यभिज्ञानत्वमामनन्ति, तत्र सादृश्यज्ञानस्योपमानत्वमेव न तु प्रत्यभिज्ञानत्वमिति भट्टमतं कदाग्रहविलसितमेवेत्यावेदयितुमुपन्यस्यति ।

पृ. १३. पं. २६ अत्राह भाट्ट इति-भाट्टः-कुमारिलभट्टानुयायी, किमाहेत्यपेक्षायामाह ।

पृ. १३. पं. २६ नन्वेकत्वज्ञानमिति-पूर्वदृष्टेन सहेदानीमनुभूयमानस्याभेदावगाहिज्ञानम्,

पृ. १३. पं. २६ सादृश्यज्ञानन्तु-गोसदृशो गवय इति ज्ञानं यद्भवता प्रत्यभिज्ञानतयोदाहृतं तत्पुनः, दृष्टे गवये स्मृताया गोसादृश्यज्ञानस्योपमानत्वे भट्टस्य सम्मतिमाह ।

पृ. १३. पं. २८ तदुक्तमिति...तस्मादिति-अयमर्थः, दृष्टाद्गवयात् यत्पूर्वदृष्टं स्वकीयगोस्वरूपं स्मर्यते तद्गोस्वरूपं सादृश्येन विशेषितं गवयसादृश्यविशिष्टं सत् उपमानस्य अनेन सदृशी मदीया गौरित्युपमितेः प्रमेयं विषयः स्यात् ।

पृ. १४. पं. २ वा-अथवा तदन्वितम्-स्मृतगोव्यक्तिविशिष्टं सादृश्यं अनुभूयमानगवयसादृश्यं ।

पृ. १४ पं. २ उपमानस्य-अनेन गवयेन सादृश्यं मदीयायां गवीत्युपमितेः प्रमेयं स्यात्, अनेन सदृशी मदीया गौरित्यस्योपमितित्वे गोसदृशो गवय इति ज्ञानं तत्करणत्वादुपमानं, अनेन सादृश्यं तत्रेत्यस्योपमितित्वे तत्सादृश्यमस्येतिज्ञानं तत्करणत्वादुपमानं बोध्यम् । दर्शितोपमितिप्रमेयस्यान्यप्रमाणादसिद्धेरुपमानमेव तत्र प्रमाणान्तरमास्थेयमित्याह ।

पृ. १४. पं. ३ प्रत्यक्षेणेति-प्रत्यक्षेण गोसदृशोऽयमिति प्रत्यक्षेण अवबुद्धेऽपि ज्ञातेऽपि ।

पृ. १४. पं. ३ सादृश्ये-गवयनिष्ठगोसादृश्ये, गवि च स्मृते स्मरणविषये गवि पुनः ।

पृ. १४. पं ४ विशिष्टस्य–गवयनिरूपितसादृशविशिष्टस्य गोस्वरूपस्य गवयनिरूपितस्य गोनिष्ठसादृश्यस्य वा ।

पृ. १४. पं. ४ अन्यतोऽसिद्धेः—अनुमानप्रमाणव्यतिरिक्तप्रमाणात्सिद्धयभावात् ।

पृ. १४. पं. ४ उपमानप्रमाणता–उक्तविशिष्टसिद्धये उपमानस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणव्यतिरिक्तप्रमाणता आस्थेयेति । यद्यत्सङ्कलनात्मकं ज्ञानं तत्सर्वं प्रत्यभिज्ञानमेवेत्युक्तसादृश्यज्ञानस्यापि सङ्कलनात्मकत्वेन प्रत्यभिज्ञानत्वमेवेति तस्योपमानतया प्रमाणान्तरत्वमननं न युक्तमित्याह ।

पृ. १४. पं. ६ तन्नेति–दृष्टस्येत्यादिव्यक्तम् ।

पृ. १४. पं. ८ अन्यथा–सङ्कलनात्मकस्यापि सादृश्यज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानत्वमनभ्युपगम्य प्रमाणान्तरोपमानरूपत्वाभ्युपगमे, इत्यादेरित्यादिपदाद्दूरत्वादिज्ञानस्योपग्रहः ।

पृ. १४. पं. ९ सादृश्याविषयकत्वेनेति–सादृश्यविषयकज्ञानमेव भवतोपमानतयाऽभ्युपगम्यत इतिवैसदृश्यादिज्ञानस्य सादृश्यविषयकत्वाभावेनोपमानभिन्नत्वप्राप्तौ प्रत्यक्षानुमानोपमानशाब्दार्थापत्त्युपलब्धिभेदेन प्रमाणस्य षड्विधत्वं यद्भवता मीमांसकेनाभ्युपेयते तस्य व्याघातः प्रसज्येतेत्यर्थः । सादृश्यज्ञानस्योपमितिरूपता यद्यपि नैयायिकेन नाभ्युपगम्यते ।

यत उक्तं उदनाचार्येण–

साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते ।
अर्थापत्तिरसौ व्यक्तमिति चेत्प्रकृतं न किम् ? ॥ १ ॥ इति ॥

तथापि–

सम्बन्धस्य परिच्छित्तिः सञ्ज्ञायास्सञ्ज्ञिना सह ।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः ॥ १ ॥

इत्यादिनोदयनाचार्येण "अयं गवयपदवाच्य इति गवयो गवयपदवाच्य

इति वा ज्ञानस्य गवयनाम्नो गवयरूपार्थेन सह शक्तिरूपसम्बन्धविषयकस्य गोसदृशोऽयमितिज्ञानेन गोसदृशो गवय इत्यतिदेशवाक्यार्थस्मृतिव्यापारकेण जनितस्योपमितत्वमभ्युपगम्यते तदपि न समीचीनं तादृशज्ञानस्यापि सङ्कलनात्मकत्वेन प्रत्यभिज्ञानत्वस्यैव व्यवस्थितेरित्याह ।

पृ. १४. पं. ११ एतेनेति–अस्य अपहस्तितम्भवतीत्यनेनान्वयः, वनं गतस्य पुंसो यत्प्रथमतो गवयपिण्डदर्शने सति गोसदृशोऽयमितिज्ञानमुत्पद्यते तस्योपमितिकरणत्वमवतरणिकायां कतिपयनैयायिकाभिप्रायमाश्रित्यास्माभिरुपदर्शितम्, गोसदृशो गवय इत्यतिदेशवाक्यार्थज्ञानकरणकमिति तु नैयायिकैकदेशिमतमवलम्ब्य ग्रन्थकृतोक्तम्, अत्र आरण्यकम्प्रति गवयः कीदृगिति ग्रामीणस्य गवयशब्दवाच्यमजाननस्य प्रश्नानन्तरं गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तगवयत्वोपलक्षकगोसादृश्यसामानाधिकरण्येन गवयशब्दवाच्यत्वस्य प्रतिपादकं गोसदृशो गवय इत्यतिवाक्यमारण्यकेन ग्रामीणम्प्रत्युक्तं तद्वाक्यार्थज्ञानमयं गवयपदवाच्य इत्युपमितौ करणं, वनं गतस्य तु ग्रामीणस्य यद्गवयदर्शने सति गोसदृशोऽयमितिप्रत्यक्षं तत्तस्य व्यापारोऽनन्तरमयं गवयपदवाच्य इतिज्ञानमुपमितिस्तस्याः स्वरूपं विषयस्वरूपोपदर्शनेन स्पष्टयति ।

पृ. १४. पं. १३ सञ्ज्ञेति–सञ्ज्ञा गवयेति नाम, सञ्ज्ञी गवयरूपोऽर्थस्तयोस्सम्बन्धः गवयपदाद्गवयो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपस्संकेतस्तस्य प्रतिपत्तिः अयं गवयपदवाच्य इति गवयो गवयपदवाच्य इति वा तद्रूपं तदात्मकम् उपमानमुपमितिरित्यर्थः । एतेनेत्यादिष्टमेव तन्मतनिरासहेतुमुपदर्शयति ।

पृ. १४. पं. १४ अनुभूतव्यक्तौ–प्रत्यक्षविषयव्यक्तावित्यर्थः ।

पृ. १४. पं. १५ अस्य–अयं गवयशब्दवाच्य इति ज्ञानस्य, ननु गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य गवयपदवाच्यत्वग्रहरूपमिदं ज्ञानमभिमतं तत्कथं प्रत्यभिज्ञानसामग्रीतो जायेत, गवयत्वस्य प्रागननुभूततयाऽतिदेशवाक्येन तदवच्छिन्ने गवयपदवाच्यत्वस्याप्रतिपादितत्वेन स्वाविषये तत्रातिदेशवाक्यार्थज्ञानेनोक्तज्ञानस्योत्पादनासम्भवात्, अन्यथा गोगवयत्वव्यतिरिक्तधर्मावच्छिन्नेऽपि गवयपदवाच्यत्वस्य प्रतिपत्तिर्भवेदित्यत आह ।

पृ. १४. पं. १५ **प्रत्यभिज्ञानेति**–अतिदेशवाक्यं गोसदृशो गवय इति तत्र गवयपदं गवयपदवाच्यपरं, तत् गोसादृश्यमनूद्य तत्समानाधिकरण्येन गवयपदवाच्यत्वं विदधातीति तदनूद्यो धर्मो गोसादृश्यं तस्य गवयत्वावच्छेदेन दर्शनमिति प्रत्यभिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषेण गवयत्वावच्छेदेनैव गवयपदवाच्यत्वस्य परिच्छेदोपपत्तेर्निर्णयात्मकज्ञानसम्भवादित्यर्थः ।

पृ. १४. पं. १८ **अत एव**–निरुक्तकार्यकारणभावबलादेव, अस्योपपद्यते इत्यनेन सम्बन्धः ।

पृ. १४. पं. १८ **पयोम्बुभेदी**–क्षीरनीरविवेककर्त्ता, अर्थात् क्षीरनीरयोरन्योन्यमिश्रितयोर्मध्यान्नीरं विहाय क्षीरस्य पानकर्ता, हंसः स्यात् हंसपदवाच्यो भवेत्, अन्यत्स्पष्टम्, एवमनभ्युपगमे नैयायिकस्य स्वाभ्युपगतप्रत्यक्षानुमानोपमानागमाख्यप्रमाणचतुष्टयव्यतिरिक्तान्यपि सूक्ष्मत्वादिग्राहकज्ञानादिलक्षणप्रमाणान्यापतेरन्नित्याह ।

पृ. १४. पं. २० **यदि चेति**–अतः–बिल्वात्, तत्–आमलकम्, इत्यादीत्यादिपदाद्बिल्वादाम्रफलं महदित्यादिज्ञानानामुपग्रहः । ननु अतस्तत्सूक्ष्ममित्यादिज्ञानानामलौकिकमानसप्रत्यक्षत्वमेव नैयायिकैरभ्युपगम्यत इति प्रत्यक्षप्रमाण एवोक्तप्रतीतीनामन्तर्भावान्न प्रमाणान्तरप्रसङ्ग इत्यत आह ।

पृ. १४. पं. २४ **मानसत्वे चासामिति**–सूक्ष्मत्वादिप्रतीतीनाम्, ननु उपमानस्य मानसत्वप्रसङ्गस्य ममानिष्टस्यापत्तौ भवतोऽपि तदनिष्टमेवा पतितमित्यत आह–

पृ. १४. पं. २४ **प्रत्यभिजानामीति**–भवेदेतदेवं यद्युक्तप्रतीतीनामनन्तरमनुव्यवसायत्वेन भवताऽधीतःप्रत्ययोऽस्माकन्तु स्वसंवेदनरूपतयोक्तप्रतीतिस्वरूप एव प्रत्ययस्साक्षात्करोमीत्येवंरूपः स्यात्, न चैवं, किन्तु प्रत्यभिजानामीत्येवंरूपैवासां प्रतीतिरनुभूयत इति तया प्रत्यभिज्ञानत्वेमेवासामभ्युपेयमितिभावः । इति प्रत्यभिज्ञाननिरूपणम् ।

॥ अथ तर्कप्रमाणनिरूपणम् ॥

तर्क निरूपयति ।

पृ. १४. पं. २७ सकलेति-अत्र तर्क इतिलक्ष्यनिर्देशः, सकलेत्यादि ऊह इत्यन्तं लक्षणवचनम्, भूता भविष्यन्तो वर्त्तमानाश्च ये धूमादिवह्न्याद्यधिकरणीभूता ये च तथाविधाः काला आदिपदाद्ये च धूमवह्न्यादीनामवान्तरविशेषादयस्तदवच्छेदेन सर्वोपसंहारेणेति यावत् साध्यसाधनभावादीत्यादिपदाद्वाच्यवाचकभावादेरुपग्रहः तद्विषयको बोध ऊहापरपर्यायः तर्क इत्यर्थः । ऊह इति तर्कस्य नामान्तरं तावन्मात्रेण न विषयविशेषघटितमूर्त्तिकबोधरूपस्य तर्कस्य प्रदर्शनम्, वह्नौ सत्यमेव भवतीत्यन्वयव्याप्तिग्रहाकार प्रदर्शनम्, वह्निं विना न भवतीति व्यतिरेकव्याप्तिग्रहाकारोपदर्शनम्, यावान् कश्चिद्धूमः स सर्व इत्युभयत्रान्वितम् । व्याप्तिग्रहलक्षणं तर्कमुदाहृत्य वाच्यवाचकभावसम्बन्धग्रहणलक्षणं तर्कमुदाहरति ।

पृ. १५. पं. २ घटशब्दमात्रमिति-व्याप्तिग्रहणमूहाख्यतर्कप्रमाणेनैव न तु प्रत्यक्षप्रमाणेन सहचारदर्शनादिसहकृतेन व्याप्तिग्रहणं वदन्नैयायिको न यथार्थवादीत्याह ।

पृ. १५. पं. ३ तथाहीति-स्वरूपप्रयुक्तेति कार्यकारणभावतादात्मान्यतरलक्षणप्रतिबन्धप्रयुक्तेति स्वाभाविकीति यावत् । व्याप्तिर्द्विधाऽनौपाधिकी सोपाधिकी च यथा धूमे वह्निव्याप्तिरनौपाधिकी, सोपाधिकी तु वह्नौ धूमव्याप्तिः, उपाधिस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोगः, साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधेर्लक्षणं । आर्द्रेन्धनसंयोगो हि धूमव्यापकत्वे सति वह्न्यव्यापक इति भवत्युपाधिस्तद्गता च धूमव्याप्तिस्तत्सम्बन्धाद्वह्नौ प्रतिभाति, न साऽनुमितिनिबन्धनं ।

यदुक्तम्:-"अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तिनामुपजीवकाः ।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा" ॥ १ ॥

इति स्वरूपप्रयुक्ता कीदृशा व्याप्तिरित्यपेक्षायामाह अव्यभिचारलक्षणेति । अव्यभिचारलक्षणा च पञ्चविधा व्याप्तिः-(१) साध्याभाववदवृत्तित्व-(२) साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्व-(३) साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावासामानधिकरण्य-(४) सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभावप्रतियोगित्व-(५) साध्यवदन्यावृत्तित्वभेदात्, । इयं च व्याप्तिः केवलान्वयिसाध्यकानुमानस्यालक्ष्यत्वमभ्युपेत्य, तस्य

लक्ष्यत्वे तु हेतुव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्यमेव व्याप्तिः, तद्ग्रहस्यापि च साध्याभाववद्वृत्तित्वलक्षणव्यभिचारग्रहविरोधित्वमुपेयते । तत्राव्यभिचारलक्षण-व्याप्तावित्यर्थः ।

पृ. १५. पं. ४ भूयोदर्शनेति–इदञ्च मीमांसकमतमवलम्ब्य यत्र यत्र धूमस्य दर्शनं तत्र तत्र वह्नेरपि दर्शनं तत्सहितौ यावन्वयव्यतिरेकौ साध्यहेतु-सामानाधिकरण्य–साध्याभावहेत्वभावसामानाधिकरण्ये तत्सहकारेणापीत्यर्थः ।

पृ. १५. पं. ५ प्रत्यक्षस्य–सन्निकृष्टवर्त्तमानमात्रविषयकस्य प्रत्यक्षस्य, तावदितिवाक्यालंकारे ।

पृ. १५. पं. ५ अविषयत्वादेव–साध्यसाधनमात्रगतायामव्यभिचारलक्ष-णायां व्याप्तावित्यस्याभिसम्बन्धेन विषयत्वाभावादेव यो यस्य ज्ञानस्य विषयस्तत्रैव तज्ज्ञानस्य प्रवृत्तिः व्याप्तिस्त्वव्यभिचारलक्षणा न तस्य विषयस्तेन तत्र तस्य प्रवृत्तिः। यदा चाव्यभिचाररूपायामपि तस्यां न प्रवृत्तिस्तदातीतानागतवर्त्तमानसाध्य-साधनघटिता न प्रत्यक्षस्य वर्तमानमात्रविषयकस्य विषय इति न तत्र तस्य प्रवृत्तिरित्याह ।

पृ. १५. पं. ६ सुतराञ्चेति–केवलाव्यभिचारग्रहणेऽपि न यस्य सामर्थ्यं तस्य न सम्भवत्येव सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारेण व्याप्तिग्रहणे इति भावः । प्रत्यक्षाग्राह्यत्वादेव तन्मूलकानुमानादिग्राह्यत्वमपि न व्याप्तेः किन्तु जैनाभिमतो-हाख्यतर्कप्रमाणग्राह्यत्वमित्यतस्तर्कप्रमाणमभ्युपेयमित्याह ।

पृ. १५. पं. ६ साध्येति–पूर्वं साध्यसाधनयोरेकत्र दर्शनं ततो हेतुदर्शने सति पूर्वदृष्टसाध्यसाधनसहचारस्य स्मरणं ततो वर्त्तमानदर्शनविषये धूमादिलिङ्गे पूर्वदृष्टवह्न्यादिसहचरितधूमस्य सजातीयत्वप्रतिसन्धानलक्षणप्रत्यभिज्ञानं तत-स्तत्सहचरितात्तर्काख्यज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषाद्यत्र यत्र धूमस्तत्राग्निरित्या-कारकस्सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारेण तर्को व्याप्तिप्रतिपत्तौ समर्थ इत्यर्थः ।

पृ. १५. पं. ७ तत्प्रतीतिं–व्याप्तिप्रतीतिं ।

पृ. १५. पं. ८ आधातुं–जनयितुम् ।

पृ. १५. पं. ८ अलम्–समर्थः, अव्यभिचारलक्षणव्याप्तेः प्रत्यक्षायोग्य-

त्वात्प्रत्यक्षेण ग्रहणासम्भवेऽपि सहचारनियमलक्षणव्याप्तेः स्वव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्यरूपायाः प्रत्यक्षयोग्यत्वात्प्रत्यक्षेण ग्रहणं भविष्यतीति व्यर्थमेव तर्कप्रमाणकल्पनमिति नैयायिकः शङ्कते ।

पृ. १५. पं. ९ अथ स्वव्यापकेति–स्वं हेतुः पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यादौ धूमः तद्व्यापकं साध्यं वह्निस्तत्सामानाधिकरण्यं धूमेऽस्तीति लक्षणसमन्वयः अयोगोलकं धूमवद्वह्नेरित्यादौ व्यभिचारिणि वह्निहेतौ नेदं लक्षणं समस्ति यतो व्यापकत्वं तत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मत्वं, तत्र प्रकृते तत्पदेन वह्निर्धर्तव्यः तत्समानाधिकरणस्तदधिकरणवृत्तिरत्यन्ताभावो धूमात्यन्ताभावः तस्य वह्न्यधिकरणेऽयोगोलके वृत्तित्वात्, तत्प्रतियोगितावच्छेदकमेव धूमत्वमिति न वह्निव्यापको धूमलक्षणसाध्यमिति । ननु कालान्तरीणदेशान्तरीणवह्निधूमादिव्यक्तीनां प्रत्यक्षासम्भवात्सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारेण कथं प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहणमित्यत आह ।

पृ. १५. पं. ११ सकलसाध्येति सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या इन्द्रियसम्बन्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतसामान्यरूपालौकिकसन्निकर्षेण यदा कश्चिद्धूमश्चक्षुस्सन्निकृष्टस्तद्विषयकं धूम इतिज्ञानमुत्पद्यते तदा सकलधूमेन सह चक्षुष उक्तसन्निकर्षो वर्त्तते । तथाहि–इन्द्रियसम्बद्धश्चक्षुस्संयुक्तः पुरोवर्त्तिधूमस्तद्विशेषकं धूम इतिज्ञानं तत्प्रकारीभूतं धूमत्वं सामान्यं सकलधूमे वर्त्तत इति तादृशसन्निकर्षबलाच्चक्षुषा सकलधूमालौकिकप्रत्यक्षम्, एवमुक्तदिशा सकलवह्नेरपि प्रत्यक्षमतस्सकलोपसंहारेण व्याप्तिग्रहणं प्रत्यक्षेण सम्भवतीत्यर्थः । ऊहाख्यतर्कमन्तरेण ज्ञातेनापि धूमत्वादिसामान्येन सकलधूमादिव्यक्तिज्ञानासम्भवात्तर्कादेव, व्याप्तिग्रहणसम्भवे सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्यभ्युपगमे प्रमाणाभावान्नोक्तदिशा प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहसम्भव इति समाधत्ते ।

पृ. १५. पं. १२ नेति–तर्क एव नास्ति, कुतस्तेन व्याप्तिग्रहोपपत्तिरित्याशङ्कापनोदायाह ।

पृ. १५. पं १२ तर्कयामीति–यथा साक्षात्करोमीत्यनुभवबलात्प्रत्यक्षमुपेयते, यथावाऽनुमिनोमीत्याद्यनुभवबलादनुमित्यादिरुपेयते, तथैव तर्कयामीत्यनुभवबलात्तद्विषयस्तर्कोऽभ्युपेय इत्याशयः । सामान्यलक्षणाग्रन्थे गङ्गेशोपा-

ध्यायेन समर्थिताऽपि सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिर्दीधितिकारेण खण्डितैवेति स्वगोत्रकलहोऽपि नैयायिकानां तत्रेति तत्साधकतयोपन्यस्यमानं प्रमाणमाभास एवेत्याशयेनाह।

पृ. १५. पं. १४ प्रमाणाभावादिति–सामान्यलक्षणाभ्युपगमपक्षपातिनामालोककृतां पक्षधरमिश्राणां।

वक्षोजपानकृत्काण संशये जाग्रति स्फुटं।
सामान्यलक्षणा कस्मादकस्मादपलप्यते॥ १॥

इति वचनं सामान्यलक्षणानभ्युपगन्तारं दीधितिकारम्प्रतीति किं वदन्त्यपि श्रूयते। किञ्च प्राचीनमते ज्ञायमानं सामान्यं नवीनमते सामान्यज्ञानं सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिरुपेयते नैयायिकैः, तत्र ज्ञाते सामान्ये सामान्यज्ञाने वा सति कुतस्तत्प्रत्यासत्त्याऽतीतानागतवर्त्तमानसकलज्ञानम्भवति, सकलधूमव्यक्तिषु धूमत्वसामान्यं समवायेन धूमत्वज्ञानं वा स्वविषयत्वसम्बन्धेनास्तीति सकलव्यक्तीनां तेन सम्बन्धेन सन्निकृष्टत्वाविशेषादेकस्याव्यक्तेर्भानं नान्यस्या व्यक्तेरित्यत्र विनिगमकाभावाच्च सकलव्यक्तीनां भानमिति भवता वाच्यं तत्र सकलास्वेव धूमव्यक्तिषु धूमत्वसामान्यस्य सम्बन्धो न कतिपयधूमव्यक्तिमात्र एवेत्यत्र किंनिमित्तमित्येव पृच्छायां यदि सकलधूमव्यक्तिषु तन्न समवेयात्सामान्यमेव न भवेदित्यनिष्टापादनप्रसङ्गलब्धसत्ताका सकलधूमव्यक्तिवृत्तित्वमन्तरेणानुपपद्यमानतैव व्याप्तिस्वरूपिणी भवताऽऽश्रयणीया तज्ज्ञानार्थमूहाख्यतर्कोऽवश्यमेवाभ्युपेय इति धूमवह्निव्याप्त्यवगतये प्रथमत एव सोऽभ्युपेय इत्याशयेनाह।

पृ. १५. पं. १४ ऊहं विनेति–वाच्यवाचकभावावगतिरपि तर्केणैवेति व्यवस्थापयति।

पृ. १५. पं. १५ वाच्यवाचकभावोऽपि...तस्यैव–तर्कस्यैव, यथा च वाच्यवाचकभावप्रतीतिर्दृश्यते तथा सा तर्केणैव सम्भविनीत्युपपाद्य दर्शयति।

पृ. १५. पं. १७ प्रयोजकेति–आज्ञापयिता प्रयोजकः स चासौ वृद्धः गृहीतशब्दार्थवाच्यवाचकभावसम्बन्धकः, तेनोक्तमुच्चरितं गामानयेत्यादिवाक्यं।

पृ. १५. पं. १७ श्रुत्वा प्रवर्त्तमानस्य—तादृशवाक्यश्रवणानन्तरं गवानयनगोचरप्रवृत्तिमतः प्रयोज्यवृद्धस्य आज्ञाकारिणो गृहीतशब्दार्थवाच्यवाचकभावसम्बन्धकस्य पुंसः।

पृ. १५. पं. १७ चेष्टामवलोक्य—गवानयनगोचरशरीरक्रियां दृष्ट्वा।

पृ. १५. पं. १८ तत्कारणज्ञानजनकताम्—प्रयोज्यवृद्धगतगवानयनानुकूलचेष्टाजनकप्रवृत्तिद्वारकज्ञानस्य गवानयनम्मदिष्टसाधनमित्याकारकस्य प्रयोज्यवृद्धज्ञानस्य जनकताम्।

पृ. १५. पं. १८ शब्दे—प्रयोजकवृद्धोच्चरिते गामानयेत्यादिवाक्ये।

पृ. १५. पं. १८ अवधारयतः—अनुमिन्वतः, अनुमानप्रयोगश्च प्रयोज्यवृद्धस्य गवानयनानुकूला चेष्टा गवानयनगोचरप्रवृत्तिजन्या गवानयनानुकूलचेष्टात्वात्, य यदनुकूला चेष्टा सा तद्गोचरप्रवृत्तिजन्या यथा मम भोजनानुकूलचेष्टा भोजनगोचरप्रवृत्तिजन्येति, सा प्रवृत्तिः गवानयनविशेष्यकेष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानजन्या गवानयनगोचरप्रवृत्तित्वात् या यद्गोचरा प्रवृत्तिः सा तद्विशेष्यकेष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानजन्या, यथा मम भोजनगोचरप्रवृत्तिः भोजनविशेष्यकेष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानजन्येति, प्रयोज्यवृद्धस्य गवानयनविशेष्यकेष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानं प्रयोजकवृद्धोच्चरितगामानयनयेतिवाक्यजन्यं कारणान्तराभावे सति तदनन्तरं जायमानत्वादिति, पुनः कीदृशस्य।

पृ. १५. पं. १८ अन्त्यावयवश्रवणेति-गामानयेत्यादिवाक्यस्य योऽन्त्यावयवः अन्त्यपदरूपस्तस्य श्रवणं, तस्य वाक्यस्य यः पूर्वावयवः पूर्वपदरूपस्तस्य स्मरणं ताभ्यां जनितं यद्वर्णपदवाक्यविषयकसङ्कलनात्मकप्रत्यभिज्ञानं तद्वतः अत्र पार्श्वस्थबालस्येति दृश्यं तत्र बालपदमगृहीततद्वाक्यघटकपदतदर्थवाच्यवाचकभावसम्बन्धकपुरुषपरम् एतावता तर्ककारणानां दर्शनस्मरणप्रत्यभिज्ञानानां सम्पत्तिर्दर्शिता, तादृशस्य पुंसः वाच्यवाचकभावप्रतीतिदर्शनादित्यत्र प्रतीतावन्वयः

पृ. १५. पं. २० आवापोद्वापाभ्याम्—गामानयेत्यादिवाक्ये गामिति स्थाने अश्वमित्यस्य प्रक्षेप आवापः, गामित्यस्यापनयनमुद्वापः एवमानये त्यस्य स्थाने नय इत्यस्य प्रक्षेप आवापः आनयेत्यस्यापनयनमुद्वापः यथाऽश्वमानय

गामानयेत्यादिस्ताभ्याम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिति यावत्, पूर्वं गामानयेत्यादिवाक्यस्य गवानयनमिष्टसाधनमितिसामान्यतोऽवधारणं न तु गोपदस्य गौरर्थः द्वितीयाविभक्तेः कर्मत्वमर्थः, आङित्युपसर्गसहितनीधातोरानयनमर्थः, आख्यातस्य चेष्टसाधनत्वमर्थ इति विशेषतोऽवधारणं, तादृशावधारणञ्चावापोद्वापाभ्यामेव जायत इत्याशयः,

पृ. १५. पं. २० सकलव्यक्त्युपसंहारेण च–सकलगवादिरूपार्थसकलगोशब्दादिस्वस्वशब्दव्यक्त्युपसंहारेण गोशब्दमात्रं गोवाचकं गोमात्रं च गोशब्दवाच्यमित्येवंरूपेति यावत, वाच्यवाचकभावप्रतीतिरत्र तर्कात्मिका ज्ञेया, नैयायिकेन क्वचिद्वह्निं विनाऽपि धूमो भविष्यति वह्निविरहिण्यपि धूमः स्यादित्यादिव्यभिचारशङ्कानिवर्त्तनाय धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्याद्वह्निजन्यो न स्यादित्यादिरनिष्टप्रसञ्जनरूपस्तर्कोऽङ्गीक्रियते, तल्लक्षणं तु व्यापकाभाववत्तया निर्णीते धर्मिणि व्याप्यारोपेण व्यापकारोप इति, तत्रापाद्यस्य वह्निजन्यत्वाभावस्यापादकेन वह्निव्यभिचारित्वेन व्याप्तिरपेक्षिता, तादृशव्याप्तिज्ञानस्यापि विरोधिनी आपाद्यविरहिण्यप्यापादकसत्त्वशङ्कालक्षणव्यभिचारशङ्का भवन्ती तर्केणैवापरेणोन्मूलनीया, सोऽपि तर्को नान्तरेणापाद्यापादकव्याप्तिग्रहं, तत्रापि विरोधिनी शङ्का आपतन्ती न तर्कमन्तरेण निवर्त्त्येत्येवमनवस्था यथा परमते, स्याद्वादे तु व्याप्तिप्रतिपत्तये स्वीकृतोऽयं तर्को नानवस्थया परिभूयते, सम्बन्धप्रतीत्यन्तरमन्तरेण स्वयोग्यतासामर्थ्यादेव साध्यसाधनाविनाभावलक्षणसम्बन्धप्रतीतिमाधातुं समर्थत्वादित्याह।

पृ. १५. पं. २१ अयश्चेति–अनन्तरोपवर्णितस्वरूपश्चेत्यर्थः। निर्विकल्पकस्य प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यं न तु तदन्तरभाविनो विकल्पस्येत्यभ्युपगच्छन्तो बौद्धा विकल्परूपत्वात्तर्कस्य प्रामाण्यन्नोररीकृतवन्त इति तन्मतं प्रतिक्षेप्तुमाशङ्कते।

पृ. १५. पं. २४ प्रत्यक्षपृष्ठभावीति–प्रत्यक्षोत्तरकालभावीत्यर्थः।

पृ. १५. पं. २४ अयम्–तर्कः, प्रत्यक्षानन्तरभाविनो विकल्पस्य यन्न प्रामाण्यं तत्र गृहीतमात्राध्यवसायित्वमेव प्रयोजकं न तु विकल्परूपत्वं, विकल्परूपत्वेऽप्यनुमानस्य प्रमाणतया बौद्धैरुपगमात्, अयश्च विकल्परूपोऽपि तर्को न

प्रत्यक्षमात्रगृहीतग्राही, सर्वोपसंहारेण व्याप्तेः प्रत्यक्षागृहीता या एवानेन ग्रहणादिति समाधत्ते ।

पृ. १५. पं २७ तन्नेनि...ताहशस्य–सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राहकस्य ।

पृ. १५. पं. २७ तस्य–तर्कस्य ।

पृ. १५. पं. २७ सामान्यविषयस्याप्यनुमानवत्–वस्तुभूतं सामान्यं न बौद्धाभ्युपगम इत्यतोऽवस्तुभूतसामान्यविषयकस्यापीत्यर्थः, भवन्मते सामान्यं यद्यपि न वस्तुभूतं तथापि तद्विषयस्यानुमानस्य प्रामाण्यं भवतोऽप्यनुमतं तथैवास्यापि प्रामाण्यं स्यादेवेत्यावेदयितुं अनुमानवदिति दृष्टान्तोद्भावनम्, यथा चावस्तुभूतसामान्यविषयकस्यानुमानस्य न साक्षाद्वस्तुभूतस्वलक्षणात्मकग्राह्यजन्यत्वं प्रत्यक्षवत, तथापि अतद्व्यावृत्तिलक्षणसामान्यरूपेण ज्ञायमानो यस्स्वलक्षणात्माविशेषस्तेन प्रतिबद्धं यत्स्वलक्षणात्मकं लिङ्गं तेन जन्यत्वात्परम्परया स्वलक्षणजन्यत्वं सम्भवत्येव, यथा च व्यवहारतोऽनुमानस्य प्रामाण्यं तथैव तर्कस्यापि, व्यवहारतः प्रामाण्यं नाम अनुमाय प्रवृत्तौ स्वलक्षणं प्राप्यत इति प्रवृत्तिविषयस्वलक्षणानुमानविषयसामान्ययोरैक्याध्यवसायादनुमानविषयस्यापि प्राप्तिरिति अर्थप्रापकत्वमेव, तच्च तर्केऽपि, तद्विषयस्यापि प्राप्यस्वलक्षणेन सहैक्याध्यवसायसम्भवादित्याशयेनाह ।

पृ. १५. पं. २७ अवस्तुनिर्भासेऽपि–तर्के सामान्यस्य भवन्मतेनावस्तुत्वसामान्यस्य प्रतिभासनेऽपि ।

पृ. १५. पं. २८ परम्परया–साध्यसाधनदर्शनविषयस्वलक्षणपरम्पराजन्यत्वतः ।

पृ. १५ पं. २८ पदार्थप्रतिबन्धेन—दर्शनविषयस्वलक्षणात्मकपदार्थसम्बन्धेन ।

पृ. १५. पं. २८ भवताम्–बौद्धानाम् ।

पृ. १५. पं. २८ व्यवहारतः प्रामाण्यप्रसिद्धेः–व्यवहारतः प्रामाण्यस्य अर्थप्रापकत्वलक्षणसांव्यवहारिकप्रामाण्यस्य, प्राप्यविकल्पयोरैक्याध्यवसायतः

स्वलक्षणस्य प्राप्तौ तदैक्याध्यवसितस्य विकल्पस्य सामान्यस्यापि प्राप्तेः । प्रसिद्धेः- सम्भवात्, अनुमानेऽपि अनुमेयसामान्यैक्याध्यवसितस्वलक्षणप्रतिबद्धलिङ्गस्व- लक्षणजन्यत्वलक्षणपरम्परया स्वलक्षणप्रतिबन्धेनैव भवतां व्यवहारतः प्रामाण्य- प्रसिद्धिस्सा प्रकृतेऽपि तुल्यैवेति यद्यनुमानस्य प्रामाण्ये भवतामनुमितिस्तदा- तर्कस्य प्रामाण्ये द्वेषो निर्निबन्धन एवेति भावः । बौद्धानां प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्च- काद्व्याप्तिग्रहाभ्युपगमस्य मिथ्यात्वं तदभ्युपगमोपदर्शनपुरस्सरमुपदर्शयति ।

पृ. १६. पं. १ यस्तु-अग्निधूमव्यतिरिक्त...तदनन्तरम्-धूमानुप- पलम्भानन्तरम् ।

पृ. १६. पं. २ ततः-अग्नेरुपलम्भानन्तरं, धुमस्येत्यनन्तरमुपलम्भ इति सम्बध्यते ।

पृ. १६. पं. २ इत्युपलम्भद्वयम्—अग्न्युपलम्भधूमोपलम्भस्वरूपोपल- म्भद्वयम् ।

पृ. १६. पं. २ पश्चात्-उक्तोपलम्भद्वयोत्तरकाले ।

पृ. १६. पं. ४ एतेषाम्-बौद्धानाम्, तत्र तेषां सम्मतिमुपदर्शयति ।

पृ. १६. पं ५ तदुक्तम्-धूमाधीरित्यादि-धूमस्यानुपलम्भः । अधी- स्तयोः वह्निधूमयोः क्रमेणानुपलम्भौ । अन्वयः-व्याप्तिग्रहणम् ।

पृ. १६. पं. ८ स तु मिथ्या-उक्तबौद्धसिद्धान्तो मिथ्या । तत्र हेतुमाह ।

पृ. १६. पं. ८ उपलम्भेति-नैयायिकास्त्वन्यादृशमेव तर्कमुपेत्य तस्य प्रमाणसहकारित्वेन प्रमाणानुकूलत्वेन च प्रमाणानुग्राहकत्वमेव न तु स्वतः प्रामा- ण्यमित्युपगच्छन्ति, तन्मतमुपदर्श्य प्रतिक्षिपति ।

पृ. १६. पं. ११ यत्तु व्याप्यस्येति-आहार्यारोपो बाधनिश्चयकालीनमि- च्छाजन्यं तदभाववति तज्ज्ञानं; स्वविरोधिधर्मितावच्छेदकस्वप्रकारकं ज्ञानं वा, तच्च नियमतो मानसप्रत्यक्षमेव, परोक्षज्ञानस्याहार्यत्वानभ्युपगमात्, तथा च धूमस्य वह्निजन्यत्वलक्षणबाधनिश्चयकाले वह्निजन्यत्वाभावव्याप्यस्य वह्निव्यभि-

चारित्वस्याहार्यारोपेण धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यादित्येवंरूपेण व्यापकस्य वह्निव्यभिचारित्वव्यापकस्य वह्निजन्यत्वाभावस्य आहार्यप्रसञ्जनं वह्निजन्यत्वाभावस्य आहार्यप्रसञ्जनं वह्निजन्यो न स्यादित्येवंरूपं तत्तर्क इत्यर्थः ।

पृ. १६. पं. १२ स च–उक्तलक्षणतर्कश्च ।

पृ. १६. पं. १२ विशेषदर्शनवदिति–अयं स्थाणुर्न वेतिविरोधिस्थाणुत्वस्थाणुत्वाभावकोटिसंशयकाले स्थाणुत्वप्रकारकनिश्चयात्मकप्रत्यक्षप्रमाकरणेन्द्रियप्रमाणस्य सहकारी स्थाणुत्वव्याप्यशाखादिमत्त्वनिश्चयलक्षणं विशेषदर्शने न तु स्वातन्त्र्येण प्रमाणं, तथा तर्कोऽप्ययं व्याप्तिविरोधिव्यभिचारशङ्काकालीनस्य व्याप्तिग्राहकान्वयव्यतिरेकसहचारग्रहलक्षणप्रत्यक्षप्रमाणस्य सहकारी ननु स्वातन्त्र्येण प्रमाणमित्यर्थः । एकधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावत्त्वलक्षणस्य स्वासमवधानप्रयुक्तफलोपधायकत्वाभाववत्कारणान्तरकत्वलक्षणस्य नासहकारित्वस्य कल्पनापेक्षया विरोधिशङ्कानिवर्त्तकत्वकल्पने लाघवमभिसन्धायोक्तं विरोधिशङ्कानिवर्त्तकत्वनेति व्याप्तिज्ञानविरोधिव्यभिचारशङ्कानिवर्त्तकत्वेनेत्यर्थः ।

पृ. १६. पं. १३ तदनुकूल एव–व्याप्तिज्ञानानुकूल एव ।

पृ. १६. पं. १३ चायम्–अनन्तरोपदर्शितस्तर्कः ।

पृ. १६. पं १३ स्वतः–साक्षात् ।

पृ. १६. पं. १४ तन्न–उक्तनैयायिकाभिमतं न समीचीनम् । पराभिमतश्च तर्को नास्माभिर्व्याप्तिग्राहकप्रमाणतयेष्यते किन्तु सकलदेशकालाद्यवच्छेदेन साध्यसाधनभावादिविषयक ऊह एव तथेष्यते तस्य च व्याप्तिग्रहरूपस्य स्वपरव्यवसायित्वलक्षणप्रामाण्याक्रान्तत्वेन स्वतः प्रामाण्यं स्यादेवेत्याह ।

पृ. १६. पं. १४ व्याप्तिग्रहरूपस्येति–तत्किं व्याप्यारोपेण व्यापकारोपरूपस्य तर्कस्य नैयायिकाभिमतस्य निपरुयोगित्वमेव, नेत्याह ।

पृ. १६. पं. १५ पराभिमतेति–नैयायिकाभिमतेत्यर्थः ।

पृ. १६. पं. १६ क्वचिदिति–यत्र तर्केणास्मदभिमतेन व्याप्तिग्रहप्रसङ्गस्तत्रेत्यर्थः ।

पृ. १६. पं. १६ एतद्विचाराङ्गतया–तर्केण यद्व्याप्तिसमर्थनात्माविचारस्तदनुकूलतया, कथन्तत्रानुकूल्यमस्येत्यपेक्षायामाह।

पृ. १६ पं. १६ विपर्ययपर्यवसायिन इति–अनिष्टापादनरूपस्य तर्कस्य मूलशैथिल्यादिविरहेण तर्काभासताविरहेण विपर्ययपर्यवसानमावश्यकं, धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्याद्वह्निजन्यो न स्यादित्यस्य विपर्ययस्तु अस्ति वह्निजन्यो धूमस्तस्मान्न वह्निव्यभिचारी, अनेन विपर्ययेण वह्निव्यभिचारित्वाभावे निश्चिते वह्निव्यभिचारित्वशङ्का व्यवच्छिद्यते ततश्चानुकूलमेव व्याप्तिग्राहकस्तर्कस्स्वकार्यसाधनाय प्रभवतीति आहार्यशङ्का विघटकत्वेन तर्कविचाराङ्गतयोपयोग इति नास्यापि निरुपयोगित्वमित्यर्थः यत्र तु व्याप्तिविचारो नाधिकृतः तत्राहार्यशङ्काऽपि नास्त्येव, अथापि विषयपरिशोधनाय स्वातन्त्र्येण तर्क आद्रियते। यदि वह्निर्न स्याद्धूमोऽपि न स्यादित्यादिस्तत्र वह्निं विनाऽपि धूमस्य या शङ्का तादृशशङ्कादिविघटतया स्वातन्त्र्येणैव पराभिमतस्य तर्कस्योपयोगः, अत एवात्माश्रयान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थालाघवगौरवादयो विषयपरिशोधका बहवस्तर्कस्य भेदाः। तेष्वपि स्वं यदि स्वापेक्षं स्यात्स्वभिन्नं स्यादित्यादिरूपेणानिष्टापादानावतारसम्भवादित्याशयेनाह।

पृ. १६. पं. १७ स्वातन्त्र्येण–शङ्कामात्रेति इदमत्रावच्छेदकमिदं कस्मान्न, इदञ्च कारणमिदं कस्मान्नेत्यादिशङ्कामात्रेत्यर्थः, ननु यदि शङ्कामात्रविघटतया नैयायिकाभिमतस्यापि तर्कस्योपयोगित्वमुपदर्श्य नैयायिकम्प्रत्यनुग्रहः स्याद्वादिना भवता क्रियते तदाऽज्ञाननिवर्त्तकत्वेन तर्कस्य प्रामाण्यं समर्थयमानो धर्मभूषणोऽपि भवताऽनुग्राह्य एव, अन्यथाऽपक्षपाति स्वात्मगतं न स्यादित्यत आह।

पृ. १६. पं. १७ इत्थञ्चेति–उक्तदिशा परकीयतर्कस्योपयोगित्वसमर्थने चेत्यर्थः, सत्येव मिथ्याज्ञानरूपे व्यवच्छेद्ये तत्र ज्ञानरूपे तर्के अज्ञाननिवर्त्तकत्वेन तर्कस्य प्रामाण्यं धर्मभूषणोक्तं सङ्गच्छते इत्यन्वयः। अन्यज्ञानानामपि प्रामाण्यं समारोपलक्षणमिथ्याज्ञानव्यवच्छेदकत्वादेव तत्तर्कस्यापि समस्तीति स्याचरस्यापि प्रामाण्यम्, यदि च मिथ्याज्ञानं व्यवच्छेद्यमस्य नाङ्गीक्रियते तदा न भवेदेव प्रामाण्यमिति, यद्वा ज्ञानस्य फलमज्ञाननिवृत्तिः यतश्चार्थे ज्ञातता-

व्यवहारः, अज्ञानश्च ज्ञानाभावस्तन्निवृत्तिज्ञानं तच्च स्वसंविदितत्वात्फलं स्वव्यवसितित्वेन फलत्वस्य पूर्वं व्यवस्थापितत्वात्स्वसंविदितश्च तर्कज्ञानमपि तदात्मकफलाव्यभिचारित्वादपि भवति प्रमाणमिति धर्मभूषणोऽपि स्याद्वादिनाऽनुगृहीतः स्यादेवेत्याह ।

पृ. १६. पं. १९ ज्ञानाभावनिवृत्तिस्त्विति–न्यायमते व्यवसायस्य फलमनुव्यवसायस्तस्मिन्सति ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या व्यवसायलक्षणज्ञानस्य विषयतयाऽर्थे प्रतिभासादर्थो ज्ञात इति व्यवहारो भवति, जैनमते च व्यवसायज्ञानमेव स्वसंविदितमनुव्यवसायस्थानं तदेवार्थे ज्ञातताव्यवहारनिबन्धनत्वात्फलं तच्च सर्वस्य ज्ञानस्याविशिष्टमित्याशयः ।

। इति तर्कनिरूपणम् ।

॥ अथ अनुमानप्रमाणनिरूपणम् ॥

अनुमानं निरूपयति ।

पृ. १६. पं. २३ साधनादिति–अत्र अनुमानमिति लक्ष्यनिर्देशः, साधनात्साध्यविज्ञानमिति लक्षणनिर्देशः । एतच्चानुमानसामान्यलक्षणं विशेषलक्षणमग्रे वक्ष्यते, स्वार्थपरार्थभेदेन अनुमानस्य द्वैविध्यं दर्शयति ।

पृ. १६. पं. २३ तदिति–अनुमानमित्यर्थः ।

पृ. १६. पं. २४ तत्र–स्वार्थानुमानपरार्थानुमानयोर्मध्ये हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानमितिलक्षणनिर्देशः, स्वार्थमितिलक्ष्यनिर्देशः, यथा महानसे वह्निधूमयोर्गृहीताविनाभावस्य पुंसः पर्वतसमीपं गतस्य प्रथमं पर्वते धूमस्य ग्रहणं पर्वतोऽयं धूमवानिति, ततो वह्निधूमयोः पूर्वगृहीतस्य व्याप्तिरूपसम्बन्धस्य स्मरणम्, वह्निव्याप्तो धूम इत्याकारकं, तदनन्तरं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानं समुत्पद्यते तदनुमानमनुमितिः । तत्र धूमग्रहणं करणं व्याप्तिस्मरणं व्यापार इत्येवाभ्युपेयते न तु वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति परामर्शस्यापि तत्र कारणत्वमिष्यते इत्याशयेन तदुदाहरति ।

पृ. १६. पं. २५ यथा गृहीतधूमस्य–अनुमितेः प्राक्काले गृहीतो धूमो येन प्रमात्रा स गृहीतधूमस्तस्य ।

पृ. १६. पं. २५ स्मृतव्याप्तिकस्य–धूमदर्शनलक्षणोद्बोधकवशात्स्मृता व्याप्तिर्वह्निधूमयोर्येन स स्मृतव्याप्तिकस्तस्य "पर्वतो वह्निमान्" इति पर्वत विशेष्यकवह्निप्रकारकं ज्ञानं स्वगताज्ञाननिवृत्तिप्रयोजकत्वात्स्वार्थानुमानमित्यर्थः । अत्र अनुमाने हेतुग्रहण–व्याप्तिलक्षणसम्बन्धस्मरणयोर्यत्कारणत्वं तत्समुदितयोरेव, नत्वेकैकस्य, येन पूर्वं व्याप्तिरनुभूता इदानीं न स्मर्यते येन च पूर्वं नानुभूतैव व्याप्तिः तयोः पुंसोर्लिङ्गग्रहेऽप्यनुमानानुदयादितिलिङ्गग्रहणमात्रस्य, यस्य च व्याप्तिस्मरणं समस्ति लिङ्गग्रहणन्तु तदानीं नास्ति तस्य व्याप्तिस्मरणे सत्यप्यनुमानानुत्पादादिति व्याप्तिस्मरणमात्रस्य च व्यभिचारेण कारणत्वासम्भवादित्याह ।

पृ. १६. पं. २६ अत्रेति–एवकारेण एकैकस्य व्यवच्छेदः ।

पृ. १६. पं. २७ अन्यथा–केवलस्य हेतुग्रहणस्य केवलस्य व्याप्तिस्मरणस्य कारणत्वाभ्युपगमे, विस्मृताप्रतिपन्नसम्बन्धस्येत्यनेन विस्मृतसम्बन्धस्य अप्रतिपन्नसम्बन्धस्य च ग्रहणम्, तत्रानुमानोत्पादश्च न भवतीत्यत एकैकस्य न कारणत्वमिति भावः । स्वार्थानुमानप्रसङ्गहेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थमित्युक्तं तत्र को हेतुरित्याकाङ्क्षायामाह ।

पृ. १७. पं. २ निश्चितेति–निश्चिता या साध्यं विना हेतोरनुपपत्तिस्सा निश्चिताऽन्यथानुपपत्तिः सैवैका लक्षणं यस्य स निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणः स हेतुः एवञ्च निश्चितान्यथानुपपत्तिमत्त्वं हेतोर्लक्षणमित्यर्थः, एकलक्षणेत्युक्तेर्व्यवच्छेद्यमाह ।

पृ. १७. पं. २ न तु–त्रिलक्षणादिरित्यादिपञ्चलक्षणकस्योपग्रहः । पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व–विपक्षासत्त्वैतद्रूपत्रयवत्त्वं त्रिलक्षणकत्वं । पक्षसत्त्व–सपक्षसत्त्व–विपक्षासत्त्वा–बाधितत्वा–सत्प्रतिपक्षितत्वेत्येतत्पञ्चरूपोपपन्नत्वं पञ्चलक्षणत्वं, तत्रोक्तत्रिलक्षणको हेतुरिति बौद्धा अभ्युपगच्छन्ति, तन्मतं प्रतिक्षेप्तुमुपदर्शयति ।

पृ. १७. पं. २ तथाहीति–त्रिलक्षण एवेत्येवकारेण एकलक्षणकस्य पञ्चलक्षणकस्य हेतोर्व्यवच्छेदः, उक्तत्रिलक्षणरहितस्य हेत्वाभासस्य सद्धेतुत्वापनोदाय

त्रिलक्षणकत्वं हेतोरिष्यते बौद्धैः । तत्र त्रिरूपमध्यात्केन कस्य व्यपोह इत्यपेक्षायामाह ।

पृ. १७. पं. ३ पक्षधर्मत्वाभावे इति-पक्षसत्त्वं पक्षधर्मत्वं तद्रूपस्य हेतुलक्षणघटकत्वाभावे शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वादित्यत्र शब्दरूपपक्षेऽसतश्चाक्षुषत्वस्य स्वरूपासिद्धस्य सपक्षे घटादौ सत्त्वेन विपक्षे शशशृङ्गादावसत्त्वेन सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वलक्षणरूपद्वयसद्भावादसिद्धत्वेऽपि हेतुत्वप्राप्तेरसिद्धत्वव्यवच्छेदस्यासम्भवेन चाक्षुषत्वहेतुनाऽपि शब्देऽनित्यत्वानुमितिस्स्यादिति तत्प्रतिरोधो न भवेदित्यर्थः । असिद्धत्वव्यवच्छेदस्येत्यस्यासम्भवेनेत्यनेनान्वयः, सपक्षसत्त्वस्य हेतुलक्षणघटकत्वाभावे च विरुद्धस्यापि साध्यानुमापकत्वं स्यादित्याह ।

पृ. १७. पं. ४ सपक्ष एवेति-विरुद्धत्वव्युदासस्येत्यस्यासम्भवेनेत्यनेनान्वयः, विपक्षसत्त्वस्य हेतुलक्षणघटकत्वाभावे व्यभिचारिणो गमकत्वं प्रसज्येत्याह । विपक्ष इति अनुमित्यप्रतिरोधेत्यत्र अनुमितिप्रतिरोधेतिपाठो युक्तः । बौद्धमतम्प्रतिक्षिपति ।

पृ. १७. पं. ६ तन्नेति-हेतोस्त्रिलक्षणाभ्युपगमनं बौद्धस्य न समीचीनमित्यर्थः । यस्य हेतोर्न पक्षसत्त्वं तस्यापि गमकत्वस्य दर्शनेन पक्षसत्त्वस्य न हेतुनिष्ठसाध्यगमकत्वाङ्गत्वमित्याह ।

पृ. १७. पं. ६ पक्षधर्मत्वाभावेऽपीति-अश्विन्यादिनक्षत्राणां पूर्वपूर्वोदये तदव्यवहितोत्तरनक्षत्राणामवश्यमेवोदय इतिनियमबलादेवाव्यवहितपूर्वकालीनकृत्तिकोदयरोहिण्युदययोर्नैककालवृत्तित्वस्यानुमितिर्जायते, तत्र कृत्तिकोदयतस्तदनन्तरोत्तरकालीनरोहिण्युदयलक्षणसाध्यस्य सत्त्वं तस्मिन्काले कृत्तिकोदयलक्षणहेतोरसत्त्वाभावात्पक्षधर्मता नास्ति तथापि ततो अनुमितिरुत्पद्यते इति ।

पृ. १७. पं. ७ शकटं-रोहिणीनक्षत्रम् । विभिन्नकालीनयोस्साध्यसाधनभावस्थले पक्षधर्मत्वस्य व्यभिचारमुपदर्श्य विभिन्नदेशस्थयोस्साध्यसाधनभावस्थले तमाह ।

पृ. १७. पं. ७ उपरि-ऊर्ध्वदेश इत्यर्थः ।

पृ. १७. पं. ७ सविता-सूर्यः, प्रतिबिम्बस्य बिम्बानुमापकत्वं बिम्बमन्त-

रेण प्रतिबिम्बस्यानुपपत्तिलक्षणनियमबलादेवेति तत्रापि पक्षधर्मत्वाभावेऽपि प्रतिबिम्बलक्षणहेतुतो बिम्बलक्षणसाध्यानुमितिर्जायत इत्याह ।

पृ. १७. पं. ७ अस्तिनभश्चन्द्रइति–नभश्चन्द्र आकाशस्थितश्चन्द्रो बिम्बात्मा, जलचन्द्रो जले चन्द्रप्रतिबिम्बनादाभासमानश्चन्द्रः इत्यादीत्यादिपदादभूत्कृत्तिकोदयश्शकटोदयात् वृद्धिमान् समुद्रश्चन्द्रोदयात्, अयं ब्राह्मणः पित्रोर्ब्राह्मण्यात्, उपरिदेशेऽभूद्वृष्टिः अधोदेशे नदीपूरवत्त्वात्, भविष्यति वृष्टिः साण्डपिपीलिकोर्ध्वसञ्चारादित्यादेरुपग्रहः, पक्षधर्मत्वस्य साध्यगमकत्वाङ्गत्वं भट्टस्यापि न सम्मतं । तदुक्तम् ।

पित्रोश्च ब्राह्मण्येन पुत्रब्राह्मणतानुमा ।
सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते ॥ १ ॥
नदीपूरोऽप्यधोदेशे दृष्टः सन्नुपरिस्थिताम् ।
नियम्यो गमयत्येव वृत्तां वृष्टिं नियामिकाम् ॥ २ ॥ इति ॥

ननु कृत्तिकोदयकालरोहिण्युदयकालद्वयव्यापकस्थूलकाल एव कृत्तिकोदयेन शकटोदयानुमाने पक्षीकरणीयस्तत्र साध्यहेत्वोरुभयोरप्यस्त्येव सद्भावः, एवं सर्वकालवर्त्तिन्याकाशात्मकदेशे तयोरस्ति सद्भाव इत्याकाशम्पक्षीकृत्यापि पक्षधर्मता सुसम्पाद्येति पराकूतमाशङ्क्य प्रतिक्षिपति ।

पृ. १७. पं. ८ न चात्रापि–वाच्यमित्यनेनान्वयः । अत्रापि उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयादित्यादावपि, उदेष्यति शकटमित्याद्यनुमाने धर्मितया विषयत्वं कालाकाशादेर्नानुभूयत इति न तस्य पक्षत्वम्, अननुभूयमानस्यापि पक्षतया विषयत्वाभ्युपगमे तु प्रासादधावल्यमस्ति काककार्ष्ण्यादित्यप्यनुमानम्भवेत् जगद्रूपपक्षे प्रासादधावल्यकाककार्ष्ण्ययोस्सद्भावादित्याह ।

पृ. १७ पं. १० अननुभूयमानेति–इत्थं कालाकाशादिकं गृहीत्वा, ननु पक्षः साध्यश्चेति द्वयं भासते, तत्र हेतोर्यद्व्याप्तिरूपं बलं तद्बलाद्व्यापकस्य साध्यस्य भानं, यच्च पक्षधर्मतारूपं बलं तद्बलाद्धर्मिणः पक्षस्य भानमितिव्याप्तिवत्पक्षधर्मताऽपि हेतोरवश्यमुपेया हेतुबलमन्तरेणैव धर्मिणोऽनुमितौ भाने नियतस्यैव

धर्मिणो भानमितिनियामकाभावान्न स्यादितिनियतधर्मिभानान्यथानुपपत्त्या पक्षधर्मताऽवश्यमुपेयेत्याशयेन पर आह ।

पृ. १७. पं. १३ ननु...तत्र–अनुमितौ, पक्षधर्मत्वस्यानङ्गत्वेऽपि यद्धर्म्यवच्छेदेन हेतोस्साध्यं विनाऽनुपपत्तिः प्रतिसन्धीयते यद्धर्मिणि हेतोर्ग्रहणं वा साध्यानुमितिं जनयितुमलं, तस्य धर्मिणोऽनुमितौ धर्मितयाभानमित्येवं प्रतिनियतधर्मिभाननिर्वाहादिति ग्रन्थकृदाह ।

पृ. १७. पं. १४ क्वचिदिति–अन्यथानुपपत्तिलक्षणव्याप्त्यवच्छेदकतया यस्य धर्मिणो ग्रहणं तस्यानुमितौ धर्मितया भानमित्युदाहरति ।

पृ. १७. पं. १५ यथेति–समुद्रादिदेशान्तरवर्त्तिचन्द्रं विना न हि जलचन्द्रोऽनुपपन्नः किन्तु नभसि चन्द्रं विनैवेति नभ एव बिम्बभूतचन्द्रानुमितौ धर्मितया भासते तस्यैवान्यथानुपपत्तिलक्षणव्याप्त्यवच्छेदकत्वात् । न हि अन्यदेशस्थितो धूमो गृहीतस्सन् स्वाधिकरणदेशातिरिक्तदेशस्थितवह्न्यनुमितिं जनयितुमलमिति यस्मिन्देशे गृहीतस्सन् अनुमितिम्जनयति स एव देशोऽनुमितौ धर्मितया भासते इत्युदाहरति ।

पृ. १७. पं. १६ क्वचिच्च...तत्र–पर्वते, व्याप्त्यवच्छेदकतयैव पर्वतस्य कुतो न भानमिति न शङ्क्यं सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहणे धूमाधिकरणमात्राननुगामिनः पर्वतस्य विशिष्याप्रतिभासनेनावच्छेदकत्वासम्भवादित्याह ।

पृ. १७. पं. १८ व्याप्तिग्रहवेलायां तु–अन्यथानुपपत्तिलक्षणव्याप्त्यवच्छेदकता हेतुग्रहणीया अधिकरणविधया विषयता वा नानुमितौ पक्षस्य प्रतिनियतस्य धर्मिविधया भाने प्रयोजिका किन्त्वन्तर्व्याप्तेरेवानुमितौ प्रयोजकत्वेन साध्यहेत्वोः पक्ष एव व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिरितिलक्षणलक्षितान्तर्व्याप्तिग्रहे धर्मिविधया पक्षस्यावश्यम्भानेन तदीयधर्मिविषयतैव तत्र प्रयोजिकेति पक्षधर्मत्वस्य हेतुलक्षणत्वाभावेऽपि नानुमितौ प्रतिनियत धर्मिविषयतानुपपत्तिरिति कस्यचिन्मतम्प्रतिक्षेप्तुमुपन्यस्यति ।

पृ. १७. पं. १९ यत्विति–अन्तर्व्याप्त्येत्यस्य पक्षसाध्यसंसर्गभानमित्यत्रान्वयः कथम्भावाकाङ्क्षायामुक्तम् ।

पृ. १७. पं. १९ **पक्षीयसाध्यसाधनसम्बन्धग्रहादिति**–अन्यथा पक्षीयसाध्यसाधनसम्बन्धस्यैवान्तर्व्याप्तिरूपत्वेन तत्र तृतीयार्थान्वयानुपपत्तिः स्यात्, अथवा पक्षीयसाध्यसाधनसम्बन्धग्रहोऽन्तर्व्याप्तिग्रहपर्यवसितः विषयिणि चोक्तग्रहे विषयस्य चान्तर्व्याप्ते कारणत्वविवक्षया तृतीयोपपत्तिः, पक्षीयसाध्यसाधनसम्बन्धस्यान्तर्व्याप्तित्वे स्याद्वादरत्नाकरसूत्रं प्रमाणयति ।

पृ. १७. पं. २० **तदुक्तमिति**–व्याप्तेरन्तरितिविशेषणं तदैव साफल्यमश्नुते यद्यन्यादृगपि व्याप्तिस्स्यात्, अस्ति चेत्का सा, किञ्चित्तल्लक्षणमित्यनुयोगे बहिर्व्याप्तिरसा दृष्टान्त एव विषये साध्यसाधनयोर्व्याप्तिर्बहिर्व्याप्तिरिति तल्लक्षणमितिप्रासङ्गिकविचारमवलम्ब्य स्याद्वादरत्नाकरसूत्रं बहिर्व्याप्तिलक्षणप्रकाशकमुपदर्शयति ।

पृ. १७. पं. २१ **अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिरिति**–अन्यत्र पक्षीकृताद्भिन्ने दृष्टान्त इति यावत्, यद्ग्रहणं पक्ष एव भवति साऽन्तर्व्याप्तिर्यद्ग्रहणं पक्षबहिर्भूतदृष्टान्त एव भवति सा बहिर्व्याप्तिरितिग्रहणे पक्षान्तर्भावबहिर्भावकृतो नान्तर्व्याप्तिबहिर्व्याप्त्योर्भेदः, किन्तु साध्यवदन्यावृत्तित्वादिलक्षणा व्यभिचारस्वरूपाऽन्तर्व्याप्तिः सा यदि पक्षेऽपि हेतुसाध्ययोस्सत्त्वम्भवेत्तदैव स्यादित्येतावन्मात्रोपदर्शनार्थमेव पक्षीकृत एवेत्यादितल्लक्षणप्रणयनं सूरेः, बहिर्व्याप्तिस्तु नाव्यभिचारः किन्तु साध्यहेत्वोः सामानाधिकरण्यमात्रं तच्च पक्षभिन्ने दृष्टान्तमात्रे साध्यहेत्वोस्सद्भावत उपपद्यते इत्येतावन्मात्रपरमेव, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिरितितल्लक्षणप्रणयनं, न तु तयोर्व्याप्त्योर्विषयभेदख्यापनार्थं तत्, सार्वत्रिकत्वमन्तरेण व्याप्तेस्स्वरूपलाभस्यैवासम्भवेन विषयभेदप्रयुक्तभेदस्य तत्रासम्भवात्, तथा च स्वरूपप्रयुक्ताव्यभिचारलक्षणैवैका व्याप्तिर्वास्तविकी अन्यात्वौपाधिक्येवेत्येवोक्तसूत्ररहस्यमित्याशयेन प्रदर्शितमतम्प्रतिक्षिपति ।

पृ. १७. पं. २२ **तन्न, अन्तर्व्याप्त्या**–यदा च स्वरूपत एवान्तर्व्याप्तिबहिर्व्याप्त्योर्भेदो न तु विषयभेदकृतः, तदाऽन्तर्व्याप्तिशरीरे पक्षस्याप्रविष्टत्वात्तद्ग्रहे न पक्षस्य धर्मितया भानमिति नान्तर्व्याप्तिग्रहीया धर्मिविषयताऽनुमितौ धर्मिविषयतायाः प्रयोजिकेति क्वचिदन्यथानुपपत्त्यवच्छेदकतयेत्यादिदिगेवास्मद्दर्शिताऽवलम्बनीयेत्याशयः । सहचारमात्रत्वस्येत्युक्त्या वस्तुस्थित्या बहिर्व्याप्ति-

र्व्याप्तिरेव न भवति नातोऽस्यास्साध्यप्रत्यायनशक्तिरपि साध्यप्रत्यायनशक्तिमाबिभ्राणाया अन्तर्व्याप्तेस्सकाशात्स्वरूपत एव भिन्नेयं न स्वगतभेदे विषयभेदमपेक्षते, सार्वत्रिकीत्वन्तर्व्याप्तिस्साध्यसमानाधिकरण्यमपि स्वरूपाव्यभिचारात्मकस्वशरीरे प्रवेशन्त्यपि तत्रोदासीनैव, नियमांशमात्रत एव स्वकार्यजनकत्वादिति हेतुव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्यरूपतां बिभ्राणाऽपि सा नियमांशविनिर्मुक्तसाध्यसहचारमात्रस्वरूपबहिर्व्याप्तितस्स्वरूपतो भिन्ना भवत्येवेत्यावेदितम् ।

पृ. १७. पं. २६ न चेदेवं–स्वरूपतोऽन्तर्व्याप्तिबहिर्व्याप्त्योर्भेदो नाभ्युपगम्यते चेत्, किन्तु अन्तर्व्याप्तौ पक्षस्य सन्निविष्टत्वात्तद्ग्रहे पक्षस्य धर्मितया भानमित्यतोऽनुमितौ धर्मितया पक्षस्य मानमेतावतैव न हेतोः पक्षधर्मताऽपेक्षेत्येव यदि स्वीक्रियते ।

पृ. १७. पं. २६ तदाऽन्तर्व्याप्तिग्रहकाल एव एव–यदा सर्वोपसंहारेण साध्यहेतोर्व्याप्तिग्रहणं तत्काले तस्मिन्व्याप्तिग्रह एव ।

पृ. १७ पं. २६ पक्षसाध्यसंसर्गभानादिति–अस्य प्रागेव "विना-पर्वतो वह्निमानित्युद्देश्यप्रतीतिं" इत्युत्तरग्रन्थ आकर्षणीयः तथा चोक्तव्याप्तिग्रह एव पर्वतो वह्निमानित्युद्देश्यप्रतीतिं विनाऽपि पक्षसाध्यसंसर्गभानात् ।

पृ. १७. पं. २७ अनुमानवैफल्यापत्तिः–पर्वतो वह्निमानित्यनुमितेर्वैफल्यं स्यात्, अनुमित्यापि पक्षसाध्यसंसर्ग एव बोधनीयः । स चान्तर्व्याप्तिग्रहेण बोधित एवेत्यर्थः । असत्पक्षो युक्तः पूर्वपक्षो वेत्यत्र स्वस्वशास्त्रनिष्णाताः कृतबुद्धयस्सुधिय एव प्रमाणं तैर्यथा भावयिष्यते तथाऽस्माभिरपि विचारणीयमेवावधारणीयमेव वेतिग्रन्थगौरवभयान्नात्र विचारसम्भारः प्रकटीक्रियते पक्षधर्मता तु नानुमितावङ्गमित्येतत्प्रसिध्येव कृतकृत्या वयमित्याशयेनाह ।

पृ. १७. पं. २८ यथातन्त्रमिति–स्वसिद्धान्तमनतिक्रम्येत्यर्थः, तथा चापसिद्धान्ताद्बिभ्यतां सुधियामस्मद्दर्शितयुक्तिमार्ग एवानुभवपथमागमिष्यतीत्यभिप्रायः ।

पृ. १७. पं. २८ भावनीयम्–विचारणीयम्, तथा चापाततः परपक्षस्य प्रथमं बुद्धौ भासनेऽपि विचारतो बाध्यमानत्वादनुपादेयत्वमेवेत्याशयः ।

पृ. १७. पं. २८ सुधीभिरिति–एतेन पक्षपाताचान्तस्वान्ताः कुधिय एव तैरयथावद्विचारणेन परपक्षस्य समर्थनेऽपि क्षतिरिति। सिद्धे चोक्तदिशा पक्षधर्मताया अनुमित्यनङ्गत्वे हेतोःपक्षधर्मत्वोपपादनायाननुभूयमानप्रकारेण पक्षसाध्यहेतुघटितप्रयोगविन्यासः परस्यायासमात्रफलक एव तथा व्यवस्थापिते हेतोरन्यथानुपपत्त्यैकलक्षणत्वेन नैयायिकस्य पक्षसत्त्व–सपक्षसत्त्व–विपक्षासत्त्वैतद्बौद्धोक्तत्रिरूपसहितस्याबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वलक्षणरूपद्वयस्यानुमित्यङ्गत्वसमर्थनेन पाञ्चरूप्यस्य हेतुलक्षणत्वमित्यभिधानमप्यपहस्तितम्भवतीत्याशयेनाह

पृ. १७. पं. २८ इत्थञ्चेति–पक्षधर्मत्वाभावेऽपि उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयादित्याद्यनुमानदर्शनेन पक्षधर्मत्वस्यानुमित्यनङ्गत्वव्यवस्थितौ चेत्यर्थः। पक्कान्येतानीत्यादिहेतुलक्षणमित्यन्तं नैयायिकमतगुम्फनम्, अत्र एतानि सहकारफलानि पक्कानि इति प्रतिज्ञा, एकशाखाप्रभवत्वादिति हेतुः, यद्यदेकशाखाप्रभवं तत्तत्पक्कं यथोपयुक्तसहकारफलमित्युदाहरणं, एकशाखाप्रभवाणि चैतानि सहकारफलानीत्युपनयः, तस्मात्पक्कानीतिनिगमनम्, नैयायिकैः पञ्चावयवानामुपगमात्तन्मतोपदर्शने पञ्चाप्यवयवाः प्रयोक्तव्या इत्यावेदनायादावित्युक्तम्।

पृ. १८. पं. २ बाधितविषये–बाधितःविषयस्साध्यं यस्य हेतोरेकशाखाप्रभवत्वस्य स बाधितविषयः तस्मिन्, अस्य अतिप्रसङ्गवारणायेत्यत्रातिप्रसङ्गेऽन्वयः। बाधश्च साध्याभाववान् पक्षः, प्रकृते अपक्कान्येवाम्रफलानि पक्षीकृत्य तत्र पक्कत्वं साध्यत इति साध्याभाववान् पक्षः समस्तीति एकशाखाप्रभवत्वहेतुर्बाधितविषयः।

पृ. १८. पं. २ मूर्खोऽयमिति–अत्र अयं देवदत्त इति पक्षः, मूर्ख इति मूर्खत्वं साध्यम्, तत्पुत्रत्वात् चैत्रपुत्रत्वादिति चैत्रपुत्रत्वं हेतुः, इतरतत्पुत्रवत् देवदत्तभिन्नचैत्रपुत्रवदिति दृष्टान्तः इत्यादावित्युपादानादत्रापि पञ्चावयवा उपलक्षिता भवन्ति ते चोपदर्शिता भावनीयाः। अत्र नव्यनैयायिकमते साध्याभावव्याप्यवान् पक्षः सत्प्रतिपक्ष इति लक्षणानुसारान्मूर्खत्वाभावव्याप्यशास्त्रज्ञत्ववान्देवदत्त इति सत्प्रतिपक्षः, स्वसाध्यविरुद्धसाध्याभावसाधकसाध्याभावव्याप्यवत्तापरामर्शकालीनसाध्यव्याप्यवत्तापरामर्शविषयः प्रकृतहेतुः सत्प्रतिपक्ष इति प्राचीनमते तु, अयं न मूर्खः शास्त्रज्ञत्वादिति प्रतिस्थापनानुमाने सति मूर्खत्ववि-

रुद्धमूर्खत्वाभावसाधकमूर्खत्वाभावव्याप्यशास्त्रज्ञत्ववत्तापरामर्शकालीनमूर्खत्वव्याप्यतत्पुत्रत्ववत्तापरामर्शविषयस्तत्पुत्रत्वहेतुस्सप्रतिपक्ष इति बोध्यम् ।

पृ. १८. पं. ३ **अतिप्रसङ्गवारणाय**–बाधितसत्प्रतिपक्षहेत्वोरलक्ष्ययोस्सद्धेतुलक्षणस्यातिव्याप्तेर्वारणाय, प्रागुक्तरूपत्रयं पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वलक्षणरूपत्रयम्, नैयायिकमतखण्डने हेतुमाह ।

पृ. १८. पं. ५ **उदेष्यतीति**–अत्र कृतिकोदयहेतौ पक्षस्य कस्यचिदभावादेव पक्षधर्मत्वस्यासिद्ध्या पक्षधर्मत्वघटितपञ्चरूपत्वं सद्धेतुलक्षणं नास्तीति लक्ष्ये तस्मिन्नुक्तसद्धेतुलक्षणस्याभावादव्याप्तिरित्यर्थः । अलक्ष्येऽपि तत्पुत्रत्वादिलक्षणदुष्टहेतावेतल्लक्षणमस्तीत्यतिव्याप्तिरप्यत्र दोष इत्याह ।

पृ. १८. पं. ६ **स श्याम इति**–मित्रानाम्नी काचिदङ्गना । तस्याः पञ्च पुत्रा बभूवुः तत्र चत्वारः श्यामरूपवन्तः एकस्तु पञ्चमो गौरः, तं गौरं पक्षीकृत्य मित्रापुत्रत्वेन हेतुना श्यामत्वं कश्चित्साधयन् स श्यामः तत्पुत्रत्वादित्यादिन्यायं प्रयुङ्क्ते, अत्र तत्पुत्रत्वहेतौ पक्षसत्त्वादीनि पञ्चापि रूपाणि विद्यन्ते परन्नायं सद्धेतुः शाकपाकजत्वस्य श्यामत्वलक्षणसाध्यव्यापकस्य तत्पुत्रत्वलक्षणहेत्वव्यापकस्योपाधेस्सत्त्वेन सोपाधिकत्वाद्व्याप्यत्वासिद्धिलक्षणदोषाक्रान्तत्वेन हेत्वाभास इति अलक्ष्ये तत्र लक्षणगमनादतिव्याप्तिरिति न निरुक्तपञ्चरूपोपपन्नत्वं हेतुलक्षणमित्यर्थः । एवञ्च परोक्तहेतुलक्षणे प्रत्याख्याते सति स्वाभिमताया निश्चितान्यथानुपपत्तेरेकस्या एव सर्वसद्धेतुगतत्वादुष्टहेत्ववृत्तित्वाच्च लक्षणत्वमुचितमित्याह निश्चितेति ॥

। इति हेतुस्वरूपनिरूपणम् ।

॥ अथ साध्यस्वरूपनिरूपणम् ॥

साध्यस्वरूपं निरूपयितुं तन्निरूपणानुकूलामुपोद्घातसङ्गतिमुपजीवन् परशङ्कामुत्थापयति ।

पृ. १८. पं. १० **ननु...तत्र**–अनुमानविषयीभूते साध्येऽवश्यवक्तव्ये सति, लक्षणाधीनालक्ष्यव्यवस्थितिरिति न हि साध्यस्य लक्षणमप्रदर्श्य साध्यस्व-

रूपमनुमानविषयतया निर्द्धारयितुं शक्यमिति किं लक्षणमसाधारणधर्मत्वस्वरूपलक्षणत्वसामान्यधर्मव्याप्यधर्मप्रकारकजिज्ञासाविषयीभूतज्ञानविषयः, जिज्ञासा च साध्यासाधारणधर्मप्रकारकज्ञानं मे जायतामित्याकारिका किमो जिज्ञासार्थकत्वात् अथवा किमित्याक्षेपे, यत्किमपि लक्षणं ग्रन्थकृतोपदर्शनीयं, तत्सर्वं दोषकवलितमेव भविष्यतीति लक्षणाभावान्नास्त्येव साध्यमिति तद्विषयकमनुमानमपि न संभवति, विषयाभावे विषयिणोऽप्यभावादित्याक्षेपः । यत्प्रमाणमुपजीव्यैव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणतया व्यवस्थितानि भवन्ति इदम्प्रमाणं संवादिप्रवृत्तिजनकत्वादित्याद्यनुमानमन्तरेण प्रत्यक्षादीनाम्प्रामाण्याव्यवस्थितेः, तस्यानुमानस्य विषयोऽस्त्येव साध्यं तल्लक्षणं यद्यप्येकान्तवाद्यभिमतं सर्वं दोषकलितं, तथापि स्याद्वादिनास्माकमभिमतं साध्यलक्षणं दोषलेशासम्पृक्तमस्त्येवेत्याशयवान् ग्रन्थकृदाह ।

पृ. १८. पं. ११ उच्यते...अप्रतीतमिति–अत्र साध्यमिति लक्ष्यनिर्देशः, अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं चेतिलक्षणवचनम्, पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यादौ वह्निः साध्यः, स च वह्नित्वेन सामान्यतःप्रतीतोऽपि पर्वतगततया साध्यत्वेनेष्टः पर्वतीयवह्निस्वरूपो न केनापि प्रमाणेन प्रतीत इत्यप्रतीतत्वं तस्य, तथा पर्वतरूपधर्मिणि न स केनापि प्रमाणेन निराकृतः पर्वते वह्न्यभावसाधकस्य कस्यापि प्रमाणस्याभावादिति प्रत्यक्षादिप्रमाणेनानिराकृतत्वमपि तस्य, इष्टश्च पर्वते साधयितुं प्रमातुः सः पर्वते वह्निमनुमिनुयामितीच्छाविषयानुमितिविषयत्वात्, उभयं हि लोकेऽभीप्सितं भवति फलं सुखदुःखाभावान्यतररूपं साक्षात्परम्परया वा तत्साधनं च, सुखसाधनशीतापनोदपाकादिसाधनत्वाद्वह्निरपि तथेत्यभीप्सितत्वमपि तस्येत्यप्रतीतत्वादिविशेषणत्रयवत्त्वलक्षणं तत्र वर्त्तत इति लक्षणसमन्वयः, तत्राप्रतीतत्वस्य कृत्यमुपदर्शयति ।

पृ. १८. पं. १६ शङ्कितस्यैव–यद्यपि संशयादेरपि ज्ञानत्वमेवेति तद्विषयोऽपि प्रतीत एव, तथापि अप्रतीतत्वमत्र प्रमात्मकनिश्चयाविषयत्वमिह विवक्षितम्, लोके य एव प्रमात्मकनिश्चयविषयकस्स एव प्रतीत इति व्यवह्रियते । यः खलु प्रमाता पर्वतो वह्निमान्नवेत्येवं पर्वते वह्निं सन्दिग्धे तम्प्रति संशयात्मकज्ञानविषयत्वेन वह्नेः शङ्कितत्वादप्रतीतत्वं, यश्च भ्रान्तःप्रतिपत्ता पर्वते सन्तमपि वह्निं नास्त्यत्र वह्निरिति पर्वतवृत्त्यभावप्रतियोगित्वेनावधारितवान् तम्प्रति विपर्ययात्मकज्ञानविषयाभावप्रतियोगित्वेन वह्नेर्विपरीतत्वादप्रतीतत्वं, यश्च प्रति-

पत्ता पर्वतेऽस्तित्वेन नास्तित्वेन च वह्निं न जानात्येव जानानोऽपि किमप्यत्रास्तीत्येवमेवावगच्छति तम्प्रति वह्नेरनध्यवसितत्वादप्रतीतत्वमिति सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नान्प्रति भवति, वह्नेस्साध्यत्वमित्येतदधिगतयेऽप्रतीतमितिविशेषणमित्यर्थः । तेन यश्च पर्वते वह्निं निश्चिनोत्येव तम्प्रति तस्य साध्यत्ववारणायाप्रतीतमितिविशेषणमित्यावेदितम्भवतीति । अनिराकृतमिति विशेषणस्य प्रयोजनमुपदर्शयति ।

पृ. १८. पं. १३ **प्रत्यक्षादिविरुद्धस्येति**–अत्रादिपदादागमादेर्ग्रहणम्, वह्निरनुष्णः कृतकत्वादित्यत्रानुष्णत्वमुष्णस्पर्शाभावः साध्यतया प्रयोक्तुरिष्टः स च वह्नावुष्णस्पर्शग्राहिप्रत्यक्षविरुद्ध इति प्रत्यक्षप्रमाणन्निराकृतत्वान्न तस्य साध्यम्, अनिराकृतत्वविशेषणानुपादाने तु तस्याप्यप्रतीतत्वेनाभीप्सितत्वेन च साध्यत्वं प्रसज्येतेति तस्य साध्यत्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्येतदर्थमनिराकृतमिति विशेषणम्, एवं जैनै रजन्यां भोजनं भजनीयं मनुष्यत्वादुभयसम्प्रतिपन्नरात्रिभोजिजनवदित्यत्र जैननिष्ठरात्रिभोजनकर्तृत्वं साध्यत्वं तच्च जैनागमप्रमाणविरुद्धं तत्र जैनानां रात्रिभोजननिषेधादिति तस्य साध्यत्वनिराकरणायापि तदुपादेयम्, तथाऽऽत्मा ज्ञानशून्योऽमूर्त्तत्वाद्धर्मास्तिकायादिवदित्यत्र ज्ञानशून्यत्वस्य साध्यत्वेनाभिमतस्य धर्मिण आत्मनः साधकस्यानुमानप्रमाणस्य ज्ञानवत्त्वेनैवात्मनो ग्राहकत्वेन तद्विरुद्धस्यात्मगतज्ञानाभाववत्त्वस्यानुमाननिराकृतस्य साध्यत्वापनोदायापि तद्विशेषणमित्यर्थः । अभीप्सितत्वविशेषणस्य प्रयोजनमुपदर्शयति ।

पृ. १८. पं. १४ **अनभिमतस्येति**–नैरात्म्यवादिनं बौद्धम्प्रति स्थिरात्मसाधनाय कपिलानुयायिनः साङ्ख्याः चक्षुरादयः परार्थाः सङ्घातत्वाद्ये ये सङ्घातरूपास्ते परार्थाः यथा शयनीयादय इति प्रयोगमारचयन्ति तत्र चक्षुरादीनां पारार्थ्यं यत्साध्यं तदात्मार्थत्वमेव साङ्ख्यानामुक्तप्रयोगप्रयोक्तॄणामभीप्सितं न तु बौद्धाभिमतं चक्षुरादीनां संहतपरार्थत्वं तत्साधने हि न साङ्ख्यानामात्मा सिद्ध्यति तत्र वैफल्यमेवानुमानस्येतिसाङ्ख्यानभिमतस्य संहतपरार्थत्वस्यासाध्यत्वावबोधनाय तस्य साध्यत्वम्प्रासाङ्क्षीदित्येतदर्थमभीप्सितग्रहणं तथा चाभीप्सितस्यात्मार्थत्वस्यैव साध्यत्वं न तु संहतपरार्थत्वस्य, चक्षुरादीनां संहतपरार्थत्वे तु सोऽपि संहतःपरस्संघातरूपत्वात्संहतपरार्थः एवं सोऽपीत्यनवस्थाप्रसज्यत इति

संहतपरार्थत्वसाधनप्रतिकूलस्तर्क इत्यर्थः । शङ्कितस्यैव साध्यत्वं न तु विपरीतानध्यवसितयोरिति परमतमुपन्यस्य प्रतिक्षिपति ।

पृ. १८. पं. १६ कथायामिति–कथायां यथा सन्दिग्धार्थनिर्णयाय वादी समुपसर्पति तथा विपरीतस्याप्यर्थस्य स्वयं सत्यतयैवावधारितस्य परः कथमस्य वैपरीत्यं साधयितुं प्रगल्भ इति जिज्ञासया विपर्यस्तोऽपि तत्र प्रविशत्येव, एवमव्युत्पन्नोऽपि ममाज्ञानमनध्यवसायो वा यथावस्थितार्थावबोधतो विनङ्क्ष्यतीति मतिमास्थाय कथायामुपसर्पत्येवेति तौ प्रति विपर्ययानध्यवसायनिरासार्थमपि संशयनिरासार्थमिवानुमानप्रयोगस्सम्भवत्येवेति शङ्कितत्वमिव विपरीतत्वानध्यवसितत्वेऽपि साध्यविशेषणतयोपयुक्त एवेत्याह ।

पृ. १८. पं. १७ विपर्यस्ताव्युत्पन्नयोरपीति–न चैतत्कल्पनामात्रं दृश्यतेऽपि लोके विपर्यस्ताव्युत्पन्नपुत्रादिशिक्षणार्थं यथावस्थिततत्त्वावबोधकन्यायप्रयोगे यतमानः पित्रादिः, अन्यथाविपर्यस्तमव्युत्पन्नं वा पुत्रादिकं प्रति विपरीतस्यानध्यवसितस्य वा वस्तुनोऽसाध्यत्वेन साधनासम्भवेऽशक्यानुष्ठाने प्रवर्त्तमानः पित्रादिः प्रेक्षावतामुपहसनीय एव स्यादित्यभिप्रायः । विपरीतानध्यवसितयोस्साध्यत्वानङ्गीकारेऽनिष्टापत्तिमुपदर्शयति ।

पृ. १८ पं. २० न चेदेवमिति–यदि विपरीतानध्यवसितयोस्साध्यत्वं न स्यात्तदेत्यर्थः ।

पृ. १८. पं. २१ तस्य–जिगीषोः । अनिराकृतमिति चैकेन वादिना प्रतिवादिनाऽनिराकृतमिति नाभिमतं किन्तु वादिप्रतिवादिभ्यामुभभ्यामपि यत्प्रत्यक्षादिप्रमाणेन निराकृतन्न भवति तदेव साध्यमभिमतमित्याह ।

पृ. १८. पं. २२ अनिराकृतमिति...द्वयोः–वादिप्रतिवादिनोः । अभीप्सितमिति तु अनुमानप्रयोक्तुरेवाभिमतमित्येवंरूपमित्याह ।

पृ. १८. पं २३ अभीप्सितमिति तु वाद्यपेक्षयैव–अनुमानप्रयोगकर्त्रपेक्षयैव तथा चाभीप्सितमित्यस्य वाद्यभीप्सितमित्यर्थः । तत्र हेतुमाह ।

पृ. १८. पं. २४ वक्तुरेवेति–अस्य इच्छासम्भवादित्येतद्घटकेच्छायामन्वयः स्वाभिप्रेतेत्यत्र स्वपदेन वक्तुग्रहणम् ।

पृ. १८. पं. २५ ततश्च–अभीप्सितत्वस्य वा यद्यभीप्सितत्वरूपत्वतश्च ।

पृ. १८. पं. २५ परार्थाश्चक्षुरादय इत्यादौ–बौद्धम्प्रति चक्षुरादयःपरार्थास्सङ्घातत्वादिति साङ्ख्याभिमतानुमाने ।

पृ. १८. पं. २५ पारार्थ्यमात्राभिधानेऽपि–पारार्थ्यमात्रस्य साध्यतयाऽभिधानेऽपि मात्रपदेनात्मलक्षणपरार्थत्वाभिधानस्य व्यवच्छेदः ।

पृ. १८. पं. २६ सिध्यति–ततश्चेत्यस्यात्रान्वयादात्मसाधनार्थमुक्तानुमानप्रयोक्तुर्वादिन आत्मार्थत्वस्यैवाभीप्सितत्वादात्मार्थत्वमेव साध्यं सिध्यतीत्यर्थः ।

पृ. १८. पं. २६ अन्यथा—वाद्यभीप्सितत्वरूपतयाऽभीप्सितत्वस्याविवक्षायाम् ।

पृ. १८. पं. २६ संहतपरार्थत्वेनेति–बौद्धैश्चक्षुरादीनां संहतपरार्थत्वेनाभ्युपगमात्साधनवैकल्यादित्यन्वयः, यदि वाद्यपेक्षयेव प्रतिवाद्यपेक्षयाऽभीप्सितत्वमुपगतम्भवेत्तदा प्रतिवादिनो बौद्धस्य चक्षुरादीनां परार्थत्वं संहतपरार्थत्वमेवाभीप्सितमिति तदपि साध्यम्भवेत्, तत्साधने न च साङ्ख्यस्य नात्मा सिध्यति ततस्तत्साधनं विफलमेव साङ्ख्यस्य स्यादित्यर्थः, एतावताऽऽत्मार्थत्वस्य साध्यत्वं समर्थितं, तेन समं च सङ्घातत्वहेतोर्न दृष्टान्ते शयनीयादावन्वय इति रत्नाकरकारा अनन्वयादिदोषदुष्टम् ।

पृ. १८. पं. २८ एतत्–परार्थाश्चक्षुरादय इति साङ्ख्यसाधनमिति वदन्तीत्यर्थः । तथा च रत्नाकरपाठः, "ततश्च, परार्थाश्चक्षुरादय इत्यादौ पारार्थ्यमात्राभिधानेऽप्यात्मार्थत्वमेव साध्यम्प्रसिद्ध्यति तद्धीच्छयन्व्याप्तं साङ्ख्यस्य बौद्धम्प्रति साध्यमेव, आत्मा हि साङ्ख्येन साधयितुमुपक्रान्तस्ततोऽसावेव साध्यः, अन्यथा साधनस्य वैफल्यापत्तेः, संहतपरार्थत्वेन बौद्धैश्चक्षुरादीनामुपगमात्, एवञ्चात्मनः साध्यत्वे हेतोरिष्टविघातकारितया विशेषविरुद्धत्वं साध्यस्य च दृष्टान्तदोषः साध्यवैकल्यमिति" अत्र हेतोरिष्टविघातकारितयेत्यस्य हेतोःसङ्घातत्वस्य शयनीयादिदृष्टान्तगतस्य सङ्घातपरार्थत्वेन व्याप्तस्य इति यस्साङ्ख्यस्यासंहत आत्मा तस्य यो विघातोऽसंहतत्वस्वरूपापनोदस्तत्कारितया संहतात्मस्वरूपज्ञापकतयेति यावत्, विशेषविरुद्धत्वं विशेषः परार्थत्वलक्षणसाध्यस्यासंहतपरार्थत्वं

त्वेनैव व्याप्तस्यासंहतात्मार्थत्वेन सहैकाधिकरणावृत्तित्वं तथा च विरोधलक्षणो हेतुदोषः, साध्यस्य च साङ्ख्याभिमतात्मार्थत्वलक्षणसाध्यस्य, चकाराद्विशेषविरुद्धत्वं हेतुविशेषेण दृष्टान्तगतेन सङ्घातपरार्थत्वेनैकाधिकरणावृत्तित्वं । तथा च सति दृष्टान्ते साध्याभावात् साध्यवैकल्यलक्षणो दृष्टान्तदोष इत्यर्थः । नन्वप्रतीतत्वादिकं परार्थानुमाने साध्यस्य विशेषकम्भवति, तत्रैव विपरीतानध्यवसितादीनां साध्यता प्रतिवादिना प्रत्यक्षादिप्रमाणेन साध्यस्य यन्निराकरणं तदभावः, साध्यस्य वाद्यभिमतत्वञ्च, इदानीं तु स्वार्थानुमानं निरूप्यते भवता, तत्रानवसर एवेदृशसाध्यस्वरूपोपवर्णनस्येत्याशङ्कापनोदायाह ।

पृ. १८. पं. २८ **स्वार्थानुमानावसरेऽपीति**–स्वार्थानुमाननिरूपणकालेऽपीत्यर्थः ।

पृ. १९. पं. १ **परार्थानुमानोपयोग्यभिधानम्**–परार्थानुमाने साध्यरूपविशेषकतयोपयुक्तस्याप्रतीतत्वादिविशेषणस्य यदभिधानं तत् ।

पृ. १९. पं. १ **परार्थस्य**–परार्थानुमानस्य ।

पृ. १९. पं. १ **स्वार्थपुरस्सरत्वेन**–स्वयं साध्यमनुमाय परस्य तत्प्रतिपत्तये यथा समयं प्रतिज्ञाद्यवयववाक्यं प्रयुङ्क्ते इत्येवं स्वार्थानुमानपूर्वकत्वेन ।

पृ. १९. पं. १ **अनतिभेदज्ञापनार्थम्**–स्वार्थस्य स्वयमेवलिङ्गग्रहणादितो जायमानस्य परार्थानुमानस्य परप्रयुक्तावयवप्रभवलिङ्गज्ञानादितो जायमानस्य यत्किञ्चिद्विशेषसद्भावेऽप्यत्यन्तवैलक्षण्यं नास्तीत्येतज्ज्ञापनार्थम् । पर्वतो वह्निमान्धूमादित्यादौ साध्यं वह्न्यात्मको धर्मः पर्वतरूपो धर्मी वा वह्निविशिष्टपर्वतो वा, नाद्यः वह्निरूपधर्ममात्रस्य वादिप्रतिवादिभ्यामविगानेन प्रतीततया सिद्धस्य तस्य साध्यत्वायोगात्, अत एव न द्वितीयः, पर्वतरूपधर्मिणोऽपि वादिप्रतिवादिनो सिद्धत्वात्, किञ्च साध्येन सहाविनाभावो हेतोरपेक्षितोऽनुमाने, न च पर्वतरूपधर्मिणा समं धूमस्याविनाभाव इति कथं पर्वतस्य साध्यता, अत एव न तृतीयोऽपि वह्निविशिष्टपर्वतेनापि समं धूमस्याविनाभावाभावादित्याशङ्कापनोदायाह ।

पृ. १९. पं. ३ **व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया**–वह्निना धर्मेण सममेव

धूमस्य हेतोर्व्याप्तिर्गृह्यते न तु पर्वतरूपधर्मिणा सममतो व्याप्तिग्रहणकालापेक्षया वह्निरूपधर्म एव साध्यम्, धर्मविशिष्टधर्मिणोऽसिद्धस्य साध्यत्वे तदेकदेशे धर्मे उपचारात्साध्यपदप्रयोगोऽप्युपपद्यते इत्याशयः ।

पृ. १९. पं. ३ अन्यथा–वह्निरूपधर्मस्य साध्यत्वानङ्गीकारे, तदनुपपत्तेः हेतोस्साध्येन समं व्याप्तिग्रहणस्यानुपपद्यमानत्वात्, यतोऽसिद्धत्वाद्वस्तुस्थित्या-साध्यं वह्निविशिष्टः पर्वत एव न च तेन समं धूमस्य हेतोर्व्याप्तिग्रहणमुप-पद्यत इत्यर्थः ।

पृ. १९. पं. ४ आनुमानिकप्रतिपत्त्यवसरापेक्षया–पर्वतो वह्निमा-नित्यनुमित्यपेक्षया ।

पृ. १९. पं. ४ पक्षापरपर्यायः–पक्ष इति द्वितीयं नाम यस्य सः ।

पृ. १९ पं. ४ तद्विशिष्टः–वह्निरूपधर्मविशिष्टः । प्रसिद्धः प्रत्यक्षादि-प्रमाणसिद्धः, विकल्पसिद्धो वा अस्ति सर्वज्ञ इत्यादौ पूर्वं विकल्पसिद्धस्यापि सर्वज्ञादेर्धर्मित्वाभ्यनुज्ञानात् ।

पृ. १९. पं. ५ धर्मी–पर्वतः साध्यमित्यनुवर्त्तते, केवलस्य तु धर्मिणस्सा-ध्यत्वाभ्युपगमे न किञ्चित्प्रयोजनमिति तस्य साध्यत्वन्नाङ्गीक्रियते, वह्निपर्वत-योर्विशकलितयोः पूर्वं सिद्धत्वेऽपि वह्निविशिष्टपर्वतस्यानुमितितः प्रागसिद्धत्वेन युक्तं तस्यानुमित्यपेक्षया साध्यत्वाशयः। एवञ्च यावन्त्यङ्गानि तानि दर्शयति।

पृ. १९. पं. ५ इत्थं चेति–उक्तदिशा साधनादीनां स्वरूपनिर्धारणे चेत्य-र्थः । साधनादीनां कथं स्वार्थानुमानाङ्गत्वमित्यपेक्षायामाह ।

पृ. १९. पं. ६ तत्रेति–धर्मिसाध्यसाधनानाम्मध्य इत्यर्थः । अन्ते उद्दिष्ट-स्यापि साधनस्य प्रथममङ्गत्वोपपादनमनुमितिहेतुत्वेन तत्र तस्य प्राधान्य-मितिख्यापनाय ।

पृ. १९. पं. ७ गम्यत्वेन–अनुमितिविषयत्वेन, अङ्गमित्यनुवर्त्तते, साध्य-मनुमित्या कुत्र विधेयमित्याकाङ्क्षायामाधारोऽप्यवश्यं साध्यस्योद्देश्यतयाऽनु-मितावङ्गमित्याह ।

पृ. १९. पं. ७ धर्मी पुनरिति–साध्यधर्माधारत्वेनेत्यनन्तरमङ्गमिति सम्बध्यते, अत्र हेतुमाह ।

पृ. १९. पं. ७ आधारेति–पक्षो हेतुरित्येतद्द्वयमेव स्वार्थानुमानेऽङ्गम्, पक्षश्च साध्यविशिष्टो धर्मी, तथा च विशिष्टस्य विशेषणविशेष्याभ्यां कथञ्चिद्-भिन्नस्याङ्गत्वे तदभिन्नस्य वह्न्यादिसाध्यस्वरूपधर्मात्मकविशेषणस्य पर्वतादिधर्मिविशेषस्वरूपविशेष्यस्य चाङ्गत्वं प्राप्तमेवेति पक्षान्तरमुपदर्शयति ।

पृ. १९. पं. ८ अथवेति–साध्यरूपधर्मस्य पृथगङ्गत्वं धर्मिविशेषश्च पृथगङ्गत्वमिति धर्मधर्मिणोर्भेदविवक्षया प्रथमपक्षः, तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमितिनियमतो विशेषणाभिन्नविशिष्टाभिन्नस्य विशेष्यरूपधर्मिणो विशेषणीभूतधर्माभिन्नत्वमित्येवं धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षया च द्वितीयपक्षः, स्याद्वादे सर्वस्य घटमानत्वादित्याशयेनाह ।

पृ. १९. पं. १० धर्मधर्मिभेदाभेदविवक्षयेति–पूर्वं पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मीत्युक्तं, तत्र धर्मिणः प्रसिद्धिः कस्मादित्यपेक्षायामाह ।

पृ. १९. पं. ११ धर्मिण प्रसिद्धश्च...तत्र–प्रमाणप्रसिद्धत्व–विकल्पप्रसिद्धत्व–प्रमाणविकल्पोभयप्रसिद्धत्वानाम्मध्ये, प्रत्यक्षादीत्यादिपदात्परोक्षप्रकाराणां स्मृतिप्रत्यभिज्ञातर्कानुमानागमानामुपग्रहः, अवधृतत्वं निश्चितत्वम्, शब्दानुपातीवस्तुशून्यो विकल्प इति परलक्षितविकल्पस्य वस्तुमात्रविषयकत्वाभावेन निर्णीततया तत्प्रसिद्धत्वमसम्भवदुक्तिकमित्यतो विकल्पप्रसिद्धत्वमन्यथा निर्वक्ति ।

पृ. १९. पं. १३ अनिश्चितेति–न निश्चितमनिश्चितम्, अनिश्चिते प्रामाण्याप्रामाण्ये यस्य सोऽनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यस्तादृशो यः प्रत्ययो ज्ञानं तद्गोचरत्वं तद्विषयत्वं तदेव विकल्पप्रसिद्धत्वमिह विवक्षितमित्यर्थः । तद्द्वायविषयत्वं निश्चितप्रामाण्यकप्रत्यक्षाद्यन्यतमप्रमाणानिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्ययोभयविषयत्वम्, तत्र प्रमाणप्रसिद्धं धर्मिणमुदाहरति ।

पृ. १९. पं. १५ तत्रेति–निरुक्तत्रयाणाम्मध्ये,

पृ. १९. पं. १६ स–पर्वतः । विकल्पसिद्धं धर्मिणं दर्शयति ।

पृ. १९. पं. १६ **विकल्पसिद्धो धर्मीति**–अत्र सर्वज्ञोऽस्तीत्यनुमाने, खरविषाणं नास्तीत्यनुमाने च, हि यतः । उभयसिद्धं धर्मिणमुदाहरति ।

पृ. १९. पं. २० **उभयसिद्धो...स**–शब्दः, हि यतः ।

पृ. १९. पं. २१ **वर्त्तमानः**–वादिप्रतिवादिकर्णविवरवर्त्ती सन् वर्त्तमानकाली, यस्तु वर्त्तमानोऽपि न वादिप्रतिवादिकर्णविवरणवर्त्ती स भूतभविष्यच्छब्दवद्विकल्पसिद्ध एवेति बोध्यः । सर्वज्ञोऽस्तीत्यनुमानं सर्वज्ञानभ्युपगन्तृमीमांसकादीन् प्रतिवादिनः प्रति सर्वज्ञाभ्युपगन्त्रा जैनादिना क्रियते ततो यद्यपि वाद्यपेक्षयाऽऽगमप्रमाणसिद्ध एव सः, तथापि सर्वज्ञप्रतिपादकआगमो न मीमांसकादीन् प्रति निश्चितप्रामाण्यक इति विकल्पसिद्धत्वं तस्य पूर्वमभिहितं, खरविषाणं नास्तीत्यनुमानं तु असतः खरविषाणादेः ख्यातिरेव नास्तीति तस्य सत्त्वमसत्त्वं वेति पृच्छायां मूकीभवनमेव न्याय्यं, तत्र विधिनिषेधवचनान्यतरोद्गारे वाच्यत्वे प्रमेयत्वस्यापि प्रसक्तया निर्धर्मकत्वाभावतोऽलीकत्वमेव भज्येतेत्यादियुक्तिजालं पुरस्कुर्वतो नैयायिकादीन् प्रति स्याद्वादिना क्रियते असतो नास्ति निषेध इतित्वेकनयमाश्रित्य अत्रैव वा ग्रन्थकारोऽस्योपपत्तिं करिष्यति अन्यथा विधिनिषेधयोरेकाभावेऽपरस्यावश्यम्भाव इति निषेधाभावे सत्त्वमेव प्रसज्यते, तत्र कथायां मूकीभवने निगृहीत एव वादी स्यादित्यनुमानेन नास्तित्वं तस्य साधनीयमेव, तथा च निश्चितप्रामाण्यकप्रत्यक्षादिसिद्धत्वं वादिप्रतिवाद्युभयापेक्षयाऽपि खरविषाणादेर्नास्त्येव, अस्ति च खरविषाणमितिप्रत्ययः स च खरविषाणनास्तित्वानुमितितःप्राक् यथा प्रामाण्येन न निश्चितस्तथाऽप्रामाण्येनापीति भवति तद्विषयत्वाद्विकल्पसिद्धत्वमित्यभिप्रायेण खरविषाणस्यापि विकल्पसिद्धत्वं प्रागभिहितम् । शब्दः परिणामीत्यनुमानं तु नैयायिकादीन्प्रति जैनेन क्रियते, तत्र तु शब्दत्वेन सर्वोऽपि शब्दः पक्षीकृत इति वर्त्तमानस्य तस्य वादिप्रतिवाद्युभयापेक्षयैव प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वेऽपि भूतभविष्यतोश्च शब्दयोः पक्षीकृतयोर्न विशेषतेऽस्मदादिप्रत्यक्षविषयत्वमिति तज्ज्ञानमनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यकमेव तत्प्रतीतितद्विषयत्वात्तयोर्विकल्पसिद्धत्वमिति कृत्वा शब्दरूपो धर्मी प्रमाणविकल्पोभयसिद्ध इत्यर्थः यश्च प्रमाणसिद्धो धर्मी यो वा प्रमाणविकल्पोभयसिद्धस्तत्रामुकमेव साध्यम्भवितुमर्हतीति नास्ति नियमः किन्तु यं यं धर्मं तत्र साधयितुमिच्छति वादी स सर्वोऽपीच्छाविषयो धर्मस्साध्यं भवितुमर्हति, विकल्पमात्रसिद्धे तु धर्मिणि अस्तित्वना-

स्तित्वान्यतरस्यैव साध्यत्वम्, अलब्धसत्ताके तस्मिन्धर्मान्तरस्य साधनायोग्यत्वादित्याह ।

पृ. १९. पं. २३ **प्रमाणोभयसिद्धयोरिति**–प्रमाणसिद्धप्रमाणविकल्पोभयसिद्धयोरित्यर्थः । विकल्पसिद्धे धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोरेव साध्यत्वमित्यत्र प्राचां वचनं संवादकतया दर्शयति ।

पृ. २०. पं. ३ **तदुक्तम्**–**तस्मिन्**–धर्मिणि–**सत्तेतरे**–सत्त्वासत्त्वे, विकल्पसिद्धे सर्वज्ञधर्मिणि सत्त्वसाधनमसहमानस्य बौद्धस्य मतं प्रतिक्षेप्तुमुपन्यस्यति ।

पृ. २०. पं. ५ **अत्रेति**–धर्मिणो विकल्पसिद्धत्वे इत्यर्थः, बौद्ध इत्यस्य आहेत्यनेन सम्बन्धः, तद्वक्तव्यमुपदर्शयति ।

पृ. २०. पं ५ **सत्तामात्रस्येति**–**अनभीप्सितत्वात्**–वादिनो जैनस्यानभिलषितत्वात् ।

पृ. २०. पं. ५ **विशिष्टसत्तासाधने**–सर्वज्ञवृत्तित्वविशिष्टसत्तासाधने । वा अथवा अस्य पूर्वमेवान्वयः ।

पृ. २०. पं. ६ **अनन्वयात्**–सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वेन हेतुना सममन्वयस्य व्याप्तेरसिद्धाभावात्, न हि यत्र सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं तत्र सर्वज्ञवृत्तित्वविशिष्टसत्त्वमित्यन्वयग्रहोऽस्ति, दृष्टान्त एव तु व्याप्तिग्रहो वाच्यस्तत्र सर्वज्ञवृत्तित्वविशिष्टसत्त्वस्याभावात्, पक्ष एव तु व्याप्तिग्रहाभ्युपगमे तत एव सर्वज्ञस्यासिद्धत्वादनुमानवैफल्यमित्यभिसन्धिः । ततश्च–

पृ. २०. पं. ६ **विकल्पसिद्धे**–सर्वज्ञे–**धर्मिणि**–**न सत्ता साध्या**–सत्त्वं साध्य मनुमितिविषयो न भवति ।

पृ. २०. पं. ६ **तदसत्**–एतद्बौद्धमतमयुक्तम् ।

पृ. २०. पं. ७ **इत्थं सति**–उक्तप्रकारेण सर्वज्ञधर्मिणि सत्त्वानुमानस्य निराकारणे सति ।

पृ. २०, पं. ७ **प्रकृतानुमानस्यापि**–पर्वतो वह्निमानिति सर्वजनप्रसि-

द्वानुमानस्यापि, अत्र सर्वजनप्रसिद्धत्वमेव प्रकृतत्वम् । पर्वतो वह्निमानित्यनुमानस्येदानीं प्रस्तावाभावेन प्रस्तुतत्वलक्षणप्रकृतत्वस्य तत्राघटनात् कथं पर्वतो वह्निमानित्यनुमानस्य भङ्ग इत्यपेक्षायामाह ।

पृ. २०. पं. ७ **वह्निमात्रस्येति**–वह्निसामान्यस्येत्यर्थः ।

पृ. २०. पं. ७ **अनभीप्सितत्वात्**–पर्वतगततया वह्नेस्साधनाय यतमानस्य वादिनः पर्वते वह्निमनुमिनुयामितीच्छाया एव भावेन वह्निसामान्यस्य तद्विषयत्वात् वह्निसामान्यस्य सिद्धत्वेन तत्रेच्छाया असम्भवाच्च ।

पृ. २०. पं. ८ **विशिष्टवह्नेश्च**–पर्वतीयत्वविशिष्टवह्नेश्च ।

पृ. २०. पं. ८ **अनन्वयात्**–धूमेन हेतुना सममन्वयस्य व्याप्तेरसिद्ध्याऽभावात् महानसरूपदृष्टान्त एव तयोरन्वयग्रहो वाच्यस्स न सम्भवति महानसे धूमस्य सत्त्वेऽपि पर्वतीयवह्निरूपसाध्यस्याभावादित्यर्थः । तथा च यथा तत्र वह्निधूमसामान्ययोरेव व्याप्तिग्रहः हेतोः पर्वते ग्रहणाच्च पर्वतीयवह्निसिद्धिः तथा प्रकृतानुमानेऽप्यस्तित्वसुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वयोरेव व्याप्तिग्रहः सर्वज्ञे धर्मिणि सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वग्रहाच्च तत्र सत्त्वसिद्धिरिति किमनुपपन्नमिति भावः । पुनर्दुदुटो बौद्धः सत्त्वसाधकहेतूनेव विकल्पकबले प्रक्षिपन् सर्वज्ञधर्मिकसत्त्वसाधकानुमित्युन्मूलनाय शङ्कते ।

पृ. २०. पं. ८ **अथ तत्र (सर्वज्ञे) सत्तायां...तद्धेतुः**–सत्त्वसाधकहेतुः ।

पृ. २०. पं. १० **आद्ये**–भावधर्मस्य हेतूकरणे ।

पृ. २०. पं. १० **असिद्धिः**–सर्वज्ञे धर्मिणि भावधर्मरूपहेतोस्सिद्ध्यभावः, तत्र हेतुमाह ।

पृ. २०. पं. १० **असिद्धसत्ताके** इति–असिद्धा सत्ता यस्य सोऽसिद्धसत्ताकः तस्मिन् सर्वज्ञे धर्मिणीत्यर्थः ।

पृ. २०. पं. १० **भावधर्मासिद्धेः**–भावधर्मो हि भावरूपधर्मिणि वर्त्तते सर्वज्ञस्य त्वद्यापि सत्त्वैव न सिद्धा तामन्तरेण न भावत्वमिति भावधर्मलक्षणहेतोस्तत्रासिद्धेः । द्वितीये भावाभावधर्मस्य सत्तासाधकहेतुत्वमिति कल्पे ।

पृ. २०. पं. ११ व्यभिचारः–अस्तित्वलक्षणा सत्ताविधिस्वरूपे भाव एव वर्त्तते भावाभावधर्मश्च भावे अस्तित्वाभाववत्यभावे च वर्त्तत इत्यनैकान्तिकत्वम्। व्यभिचारमेव ग्राहयति।

पृ. २०. पं. ११ अस्तित्वाभावेति तृतीये–अभावधर्मो हेतुरिति पक्षे पुनः।

पृ. २०. पं. १२ विरोधः–अस्तित्वरूपसाध्यसामानाधिकरण्यम्, अत्रैव हेतुमाह।

पृ. २०. पं. १२ अभावधर्मस्येति–उक्तार्थम्, वृद्धवचनेन संवादयति।

पृ. २०. पं. १३ तदुक्तमिति–नासिद्धे इति–असिद्धसत्ताके सर्वज्ञधर्मिणि भावधर्मलक्षणो हेतुर्नास्ति। उभयाश्रयः–भावाभावोभयधर्मलक्षणो हेतुर्व्यभिचारी, अनैकान्तिकः। अभावस्य धर्मोऽभावधर्मलक्षणो हेतुर्विरुद्धः। सत्तारूपसाध्यासमानाधिकरणः, ततश्च। सा सत्ता–सर्वज्ञवर्त्तिनी सत्ता। कथम्–कथं साध्यते न कथञ्चिदपि साधयितुं शक्येति। उक्ताशङ्काम्प्रतिक्षिपति।

पृ. २०. पं. १६ नेति इत्थं–उक्तविकल्पत्रयकवलीकरणेन सत्तासाधकहेत्वपाकरणेन सत्तासाध्यकानुमाननिराकरणे।

पृ. २०. पं. १६ वह्निमद्धर्मत्वादिविकल्पैः–पर्वतो वह्निमान्धूमादित्यत्र वह्नौ साध्ये तद्धेतुर्धूमो वह्निमद्धर्मो वह्निमदवह्निमद्धर्मोऽवह्निमद्धर्मो वा स्यात् आद्ये पर्वतस्यानुमानात्प्राग् वह्निमत्त्वानिश्चये तदीयो धूमो न वह्निमद्धर्मतया निश्चितः किन्तु महानसीयधूम एव स पर्वतेऽसिद्धः, कथं वह्निं साधयेत्। द्वितीये व्यभिचारः वह्न्यभाववत्यपि तस्य वृत्तेः। तृतीये विरुद्धः अवह्निमद्धर्मस्य धूमस्य क्वचिदपि वह्निमत्यभावादित्येवं विकल्पग्रासैर्धूमेन वह्न्यनुमानस्याप्युच्छेदप्रसङ्गादित्यर्थः। प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धीतिवचनात्प्रमाणेनैव वस्तुसिद्धिर्भवति। विकल्पस्तु न प्रमाणं ततो विकल्पसिद्धिर्न भवत्येव, तथा च प्रमाणप्रसिद्धत्वमेकमेव धर्मिणो न विकल्पप्रसिद्धत्वं नापि प्रमाणविकल्पोभयप्रसिद्धत्वमिति नैयायिकमतस्योपन्यासपूर्वकमयुक्तत्वं प्रपञ्चयति।

पृ. २०. पं. १८ विकल्पस्याप्रमाणत्वेति...तस्य–नैयायिकस्य।

पृ. २०, पं. १९ इत्थंवचनस्यैव–विकल्पसिद्धो धर्मी नास्तीत्येवंरूपवचनस्यैव कथमीदृग्वचनस्यानुपपत्तिरित्याकाङ्क्षायामाह ।

पृ. २०, पं. २० विकल्पसिद्धधर्मिणो–प्रसिद्धस्यैव प्रतिषेधो भवति प्रतियोगिनिरूप्यत्वादभावस्य, निरूपकस्याप्रसिद्धौ तन्निरूप्यनिरूपणानुपपत्तेः, विकल्पसिद्धो धर्मी नास्तीत्यनेन वचनेन विकल्पसिद्धधर्मिणो निषेधः क्रियते नैयायिकेन, तन्निषेधस्य च प्रतियोगी विकल्पसिद्धो धर्मी तस्य चाप्रसिद्धौ तत्प्रतिषेधस्य विकल्पसिद्धो धर्मी नास्तीत्येवंरूपस्यानुपपत्तेः एतद्विषये भवतु तूष्णीम्भावापत्तिरेवास्माकमित्येवमिष्टापत्तिपादप्रसारिका च न निस्ताराय नैयायिकस्य, कथायां तूष्णीम्भावस्यापि निग्रहस्थानत्वादिति भावः। ननु "असतो नत्थि निसेहो" इति भवतामपि सिद्धान्तवचनमसन्निषेध प्रतिक्षेपकं जागर्त्येव तथा च नैयायिकवद्भवन्तोऽपि नासत्ख्यातिमुररीकुर्वन्तीति अभावांशेऽसतः प्रतियोगिनो विशेषणतया भानस्यासत्ख्यातिभयादनभ्युपगमे सति शशशृङ्गन्नास्तीतिवाक्यात्प्रतियोगितासम्बन्धेन शशशृङ्गप्रकारकाभावविशेष्यकबोधस्यानुपपत्तौ तदर्थं शशशृङ्गन्नास्तीति वचनलक्षणव्यवहारस्याप्यसम्भवेअत्रार्थे भवतामपि मूकीभवनमेव न्याय्यमिति–

> यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
> नैकः पर्यनुयोज्यः स्यात्तादृश्यर्थविचारणे ॥ १ ॥

इति वचनान्न नैयायिकम्प्रति तूष्णीम्भावापत्तिदूषणम्भवद्भिरामञ्जनीयमित्याशङ्काशङ्कून्मूलनायाह ।

पृ. २० पं. २१ इदं त्ववधेयम्–विकल्पसिद्धधर्मिणो भानं त्रिधा सम्भाव्येत तद्यथा–शशशृङ्गन्नास्तीतिवाक्याज्जायमाने शशशृङ्गन्नास्ति अनुपलम्भादित्यनुमानसमुद्भवे वा बोधो अखण्डस्य शशशृङ्गस्य भानम् अर्थात् प्रतियोगित्वसम्बन्धेनाखण्डशशशृङ्गप्रकारकोऽभावविशेष्यकः शाब्दबोधः । अखण्डशशशृङ्गविशेष्यिका नास्तित्वप्रकारिकाऽनुमितिर्वा, विशिष्टरूपतया वा शशशृङ्गस्य भानम् अर्थादुक्तवाक्यजन्यबोधे शशीयत्वविशिष्टशृङ्गं प्रतियोगित्वसम्बन्धेनाभावे प्रकारतया भासते, अनुमितौ तु शशीयत्वविशिष्टशृङ्गे नास्तित्वं प्रकारतया भासते,

खण्डशः प्रसिद्धतया वा शशशृङ्गस्यभानम्, अर्थात्, शाब्दबोधे अभावे प्रतियोगितया शृङ्ग शृङ्गे च शशपदलक्षणोपस्थितस्य शशसम्बन्धिनस्तादात्म्येन भानम्, अनुमितौ पुनः शशीयत्वं नास्तित्वरूपाभावे प्रतियोगितया, अभावस्य पुनः शृङ्गे प्रकारतया, शृङ्गे शशीयत्वन्नास्तीत्येवं भानम् अथवा शशस्याभाव विशेष्यतया शृङ्गस्य चाभावविशेषणतया शशे शृङ्गं नास्तीत्येवं भानम् तत्राखण्डस्य खरविषाणादे र्भानमिति प्रथमपक्षो न सम्भवतीत्याह ।

पृ. २०. पं. २१ **नाखण्डस्यैव भानमिति**–एवमभ्युपगमेऽसत्ख्यातिवाद आदृतः स्यात्, स च जैनानामनिष्ट इत्याह, असत्ख्यातिप्रसङ्गादिति असतः खरविषाणादेः ख्यातिः ज्ञानं तस्य प्रसङ्गादित्यर्थः। विकलप्रसिद्धस्य शाब्दबोधादौ विशिष्टरूपतया भानमिति द्वितीयपक्षमधिकृत्याह ।

पृ. २०. पं. २२ **शब्दादेरिति**–आदिपदादनुमानस्योपग्रहः, तथा च शब्दादनुमानाद्वेति तदर्थः ।

पृ. २०. पं. २२ **विशिष्टस्य**–खरियत्वविशिष्टविषाणादेः ।

पृ. २०. पं. २२ **तस्य**–विकल्पसिद्धस्य ।

पृ. २०. पं. २३ **विशेषणस्य संशये**–विषाणं खरीयं न वेत्येवं विषाणरूपविशेष्ये खरीयरूपविशेषणस्य संशये सति ।

पृ. २०. पं. २३ **अभावनिश्चये वा**–विषाणं खरीयं नेत्याकारकविषाणविशेष्यकखरीयत्वाभावप्रकारकबाधनिश्चये सति वा ।

पृ. २०. पं. २३ **वैशिष्टयभानानुपत्तेः**–खरीयत्वविशिष्टविषाणस्य प्रतियोगितया वैशिष्टयस्य यदभावे भानं शाब्दबोधे, यच्च खरीयत्वविशिष्टविषाणे नास्तित्वस्य वैशिष्टयभानमनुमितौ तस्यानुपपत्तेः । विशिष्टवैशिष्टयावगाहिबोधे विशेषणताकच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्य कारणत्वेन प्रकृते अभावे विशेषणं विषाणं, तत्र विशेषणं खरीयत्वमिति तद्विशेषणतावच्छेदकं, तत्प्रकारको निश्चयो विषाणं खरीयमित्याकारकः स च विषाणं खरीयं न वेति संशयकाले विषाणं खरीयं नेति बाधनिश्चयदशायां वा नास्तीति तदानीं खरविषाणं नास्तीति वाक्यतः प्रतियोगित्वसम्बन्धेन खरीयत्वविशिष्टविषाणप्रकारकाभावविशेष्यकबोधलक्षण-

विशिष्टवैशिष्ट्यबोधस्यानुपपत्तेः, एतच्च विशिष्टस्य वैशिष्ट्यं विशिष्टवैशिष्ट्यं तदवगाहिबोधे विशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्य कारणत्वमित्याश्रित्य विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिशाब्दबोधानुपपत्तिरुक्तदिशा भाविता, खरीयत्वविशिष्टविषाणविशेष्यकनास्तित्वप्रकारकानुमित्यनुपपत्तौ गतिस्तु विशिष्टे वैशिष्ट्यं विशिष्टवैशिष्ट्यं तदवगाहिबोधे विशेष्यतावच्छेदक प्रकारकनिश्चयस्य कारणत्वमितिखरीयत्वविशिष्टविषाणे नास्तित्वस्य वैशिष्ट्यावगाह्यनुमितिर्भवति विशिष्ट्यावगाहि बोधः । तस्य विषाणं खरीयं न वेति संशयकाले विषाणं खरीयं नेतिबाधनिश्चयकाले वा विषाणं खरीयमित्याकारकखरीयत्वलक्षण विशेष्यतावच्छेदक प्रकारक निश्चयरूपकारणाभावाद्भवत्यनुपपत्तिरिति । तथा चानाहार्यभ्रमरूपायाः प्रमारूपा वोक्तानुमितेरसम्भवेऽपि आहार्यारोपरूपा सा विषाणं खरीयं न वेतिसंशयकाले विषाणं खरीयं नेतिबाधनिश्चयकालेऽपि च स्यादेव । बाधनिश्चयकाले इच्छाजन्यज्ञानस्यैवाऽऽहार्यतया तस्य बाधनिश्चयप्रतिबध्यत्वेन तत्काले सम्भवो न विरुध्यते, प्रकृते खरविषाणविशेष्यकनास्तित्वप्रकारकानुमितिर्यद्यपि नास्तित्वरूपप्रकारांशेनाहार्यरूपा नास्तित्वाभावत्वाभावस्यास्तित्वस्य खरविषाणे निश्चयाभावात्, तथापि सा विषाणे खरीयत्वप्रकारकतया तत्र खरीयत्वाभावनिश्चयरूपबाधनिश्चयसद्भावेन तदानीं विषाणे खरीयत्वज्ञानम्मे जायतामितीच्छातस्सद्भूता खरीयत्वरूपविशेषणांशे आहार्यारोपरूपैव, यद्यपि आहार्यरूपं मानसप्रत्यक्षमेव भवति नतु परोक्षज्ञानं तस्यानाहार्यस्यैव व्यवस्थितेरिति परोक्षज्ञानरूपानुमितिर्नाहार्यतया स्वीकर्तुमुचिता, तथापि प्राचीननैयायिकैः प्रत्यक्षस्यैव संशयत्वं न तु परोक्षज्ञानस्य, परोक्षप्रमाणानां निश्चयमात्रजनकत्वस्याभावादित्येवमुररीकृतेऽपि सौन्दडोपाध्यायैः सत्प्रतिपक्षस्थले संशयाकारानुमितिरुररीक्रियते, तथैकदेशिभिराहार्यारोपरूपाऽप्यनुमितिः कक्षीकृतैव, तादृश्यप्यनुमितिर्न निष्फला, सर्वज्ञे परपरिकल्पितस्य देशकालसत्तालक्षणास्तित्वविपरीतसकल देशकालसत्ताभावात्मकनास्तित्वारोपस्य देशकालसत्तालक्षणास्तित्वसाधनेन खरविषाणे परपरिकल्पितानिरुक्तनास्तित्वविपरीतदेशकालसत्तालक्षणास्तित्वारोपस्यतद्विपरीतसकलदेशकालसत्ताभावलक्षणनास्तित्वसाधनेन च व्यवच्छेदस्यैव तत्फलत्वादित्याह ।

पृ. २०. पं २४ **विशेषणाद्यंशे**–विषाणे खरीयत्वादिरूपविशेषणांशे इत्यर्थः ।

पृ. २०. पं. २४ विकल्पात्मिकैवेति–अनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यकप्रत्ययरूपत्वमेवात्र विकल्पात्मकत्वं बोध्यम् । अनुमतेः शब्दज्ञानानुपातित्वाभावेन परलक्षितस्य शब्दज्ञानानुपातित्वे सति वस्तुशून्यप्रत्ययत्वरूपस्य विकल्पत्वस्याभावात्

पृ. २०. पं. २५ देशकालेति–यत्किञ्चिद्देशे यत्किञ्चित्काले च सत्त्वेऽप्यस्तित्वन्निर्वहतीति सामान्यतो देशकालेत्युक्तम् ।

पृ. २०. पं. २५ सकलदेशकालेति–यत्किञ्चिद्देशकालसत्त्वम्, सत्वावच्छेदकदेशकालभिन्नदेशकालासत्त्वञ्च न विरुद्धमिति सतोऽपि देशान्तरकालान्तरसत्त्वाभावमादाय नास्तित्वं प्रसज्येतेत्यतः सकलदेशकालेत्युक्तम्, अन्यत्सुगमम् । विकल्पप्रसिद्धस्य धर्मिणः खण्डशः प्रसिद्धतया भानं तृतीयकल्पमेव स्वसिद्धान्तीकुर्वन्नाह ।

पृ. २१. पं. १ वस्तुतस्तु–एतत्पक्ष एव भाष्यसम्मतिमुपदर्शयति ।

पृ. २१. पं. २ अत एव–खण्डशः प्रसिद्धपदार्थास्तित्वनास्तित्वसाधनस्यैवोचितत्वादेवेत्यर्थः ।

पृ. २१. पं. ३ भाष्यग्रन्थे–इत्यस्योपपादित इत्यनेनान्वः एतत्पक्षे अनुमितेराहार्यारोपरूपत्वाभावेऽपि न क्षतिः । नन्वत्र कल्पेऽसतो निषेधासम्भवं कक्षीकृत्योररीकृते खरविषाणं नास्तीत्यनुमानस्य खरे विषाणं नास्तीत्येवंरूपतयोपपादनेऽपि एकान्तनित्यमर्थक्रियासमर्थं न भवतीत्यनुमानस्य का गतिः ? तत्र खण्डशः प्रसिद्धिकरणप्रकारानुपलक्षणात्, एकान्तनित्ये चासति अर्थक्रियासामर्थ्यस्याप्यसत्तया तन्निषेधासम्भवादित्यत आह ।

पृ. २१. पं. ४ एकान्तनित्यमिति विशेषावमर्शदशायाम्–विशेषस्साध्यव्याप्यत्वेन गृहीतो हेतुः, तस्यावमर्शः साध्यधर्माधारे ग्रहणं तद्दशायां तस्मिन्सति, एतेन अनुमितिकारणयोरविनाभावलक्षणसम्बन्धस्मरणहेतुग्रहणयोस्सम्पत्तिरावेदिता, यद्यपि विशेषावमर्शो विशेषदर्शनं तच्च परमते साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्ष इति परामर्शात्मकं ज्ञानं तथापि जैनसिद्धान्ते परामर्शस्यानुमिति कारणत्वानङ्गीकारेणाकारणस्य तस्य सत्त्वाभिधानं न प्रकृतोपयोगीत्युक्त एवार्थ

आदर्त्तव्यः । तत्रापि इदानीं क्रमयौगपद्यनिरूपकत्वाभावस्य हेतुतयाऽर्थक्रियानियामकत्वाभावस्य साध्यतया नित्यत्वस्य साध्याधारधर्मितयाऽनुमतत्वात्तदनुसारेणैव व्याप्तिस्मरणहेतुग्रहणे वाच्ये। अनुमानाकारश्च नित्यत्वमर्थक्रियानियामकं न भवति, क्रमयौगपद्यनिरूपकत्वाभावादिति, तर्कोऽप्यत्र नित्यत्वं यद्यर्थक्रियाया नियामकं भवेदर्थक्रियाया अनुपरम एव भवेत् कार्यमात्रस्य सदातनत्वं प्रसज्येतेति यावदिति, नित्यत्वादाविति इदश्च नित्यत्वं न कूटस्थनित्यत्वं तस्यैकान्तनित्यत्वपर्यवसितत्वेन जैनोपगमाविषयतया तत्पक्षत्वेऽसतख्यात्यापत्तेः, किन्तु अनित्यत्वसहचरितनित्यत्वरूपं कथञ्चिन्नित्वत्वमेव तव अनित्यत्वसाहचर्यावच्छेदेन क्रमयौगपद्यनिरूपकत्वेऽपि अर्थक्रियानियामकत्वेऽपि च तदभावावच्छेदेन तयोरभावादिति बोध्यम् । नित्यत्वादावित्यत्रादिपदादनित्यत्वपरिग्रहः अत्रापि साध्यहेतू निरुक्तावेव । तर्कस्तु अनित्यत्वं यदि अर्थक्रियानियामकं भवेत्कारणं कार्यानुयायि न भवेत् उपादानोपादेयभावादिश्च प्रतिनियतो न भवेदित्यादिर्बोध्यः । सर्वज्ञोऽस्तीत्यादावपि वस्तुत्वं यत्किञ्चित्पुरुषवृत्तिप्रत्यक्षात्मकैकज्ञानविषयत्वव्याप्यं धर्मत्वात्तद्धटत्ववदिति सम्भवत्येवानुमानम्, अयं त्वविचारो गूढरहस्यत्वान्नाल्पज्ञैरवधारयितुं शक्य इति बहुविधशास्त्रज्ञैरेवायं युक्तायुक्तविवेकायालोचनीय इत्युपदर्शयाति ॥ इति सम्यग्निभालनीयमिति ॥ इति स्वार्थानुमानस्वरूपनिरूपणम् ॥

॥ अथ परार्थानुमानस्वरूपनिरूपणम् ॥

स्वार्थानुमानं निरूप्य परार्थानुमानं निरूपयति ।

पृ. २१. पं. १० परार्थमिति–अत्र परार्थमिति लक्ष्यनिर्देशः, तच्चानुमानमित्यनेन सम्बध्यते तथा च परार्थानुमानमिति लक्ष्यं, पक्षहेतुवचनात्मकमिति लक्षणम्, पक्षवचनं साध्यवत्तया पक्षस्य प्रतिपादकं वचनं प्रतिज्ञेति यावत्, हेतुवचनं तृतीयान्तं पञ्चम्यन्तं वा लिङ्गस्य प्रतिपादकं वचनं, तच्च हेतुरित्यभिधीयते, तदुभयात्मकं न्यात्यापरनामकं महावाक्यं परार्थानुमानमित्यर्थः । प्रतिज्ञाहेतू च न्यायैकदेशत्वादवयवशब्देनापि व्यपदिश्येते, यत्रानयोर्द्वयोरपि परानुमित्यर्थमवश्यप्रयोजकत्वं तत्र तदुभयात्मकस्य न्यायस्य परार्थानुमानत्वं यत्र तु विशिष्टमतेः परस्यानयोरेकतरेणाप्यनुमानप्रतिपत्तिसम्भवस्तत्रैकस्यापि परार्थानुमानत्वं सम्भवतीत्येतदवयवद्वयात्मकन्यायवाक्यस्य पदार्थानुमानत्वं नैतद्द्वया-

त्मकमहावाक्यत्वेनैव, किन्त्वेतदन्यतरवाक्यत्वेनेति बोध्यम् । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चन्यायावयवाः परार्थानुमानमिति नैयायिकाः । तत्र पतिज्ञाहेतुलक्षणमुपदर्शितमेव, साध्यहेत्वोरविनाभावप्रतिपादकं दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् हेतुमत्तया पक्षस्य वचनमुपनय इति प्राचीनमते नव्यमते तु साध्यव्याप्तिविशिष्टहेतुमत्तया पक्षवचनमुपनयः, अवधित्वप्रतिपत्तये पक्षे साध्यस्य पुनर्वचनं निगमनम् । पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञा. धूमादिति हेतुः, यो यो धूमवान् स वह्निमान् यथा महानसं; यत्र यत्र धूमस्तत्र वह्निः यथा महानसं इति वा उदाहरणम्, इदञ्चान्वयव्याप्तिप्रतिपादकत्वात्साधर्म्योदाहरणमिति व्यपदिश्यते । यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा ह्रदे, यो न वह्निमान् स धूमवानपि न भवति, यथा ह्रद इति वोदाहरणं व्यतिरेकव्याप्त्युपदर्शकत्वाद्वैधर्म्योदाहरणमिति व्यपदिश्यते, धूमवाँश्च पर्वत इत्यर्थकं प्राचीनमते, नव्यमते तु वह्निव्याप्यधूमवाँश्च पर्वत इत्यर्थकं तथा चायमितिवचनमुपनयः, वह्निव्याप्यधूमवत्वात्पर्वतो वह्निमानित्यर्थकं तस्मात्तथेतिवचनं निगमनम् । अत्र साध्यस्याबाधितत्वप्रतिपत्तये पञ्चम्यन्तस्य घटकता, साध्यवाप्यहेतुमत्त्वे साध्यवत्वं स्यादेवेति न तद्बाध इत्यस्य ततोऽवगतेः । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि उदाहरणोपनयनिगमनानि वा त्रीणि तत्र प्रयोक्तव्या इति मीमांसकादयः । उदाहरणोपनयौ द्वावेवावयवौ तत्र प्रयोक्तव्याविति बौद्धाः । अनुमानं प्रमाणं ज्ञानस्वरूपं, वचनञ्च पौद्गलिकत्वाज्जडस्वरूपमिति तयोरत्यन्तविरोधे जाग्रति पक्षहेतुवचनस्यानुमानत्वोपदर्शनं न युक्तमित्याशङ्काव्यवच्छित्तये आह ।

पृ. २१ पं. १० उपचारादिति–परस्य साध्यानुमितिरुक्तवचनाद्धेतुज्ञानादिद्वारा जायते इतिपरानुमितिकारणे उक्तावचने कार्यधर्ममनुमानत्वमुपचर्योक्तवचनं परार्थानुमानमिति व्यवह्रियत इत्यर्थः । एतदेव स्पष्टीकरोति ।

पृ. २१ पं. १० तेन–पक्षहेतुवचनेनेत्यर्थः ।

पृ. २१ पं. १० श्रोतुः–एवद्वचनं शृण्वतः परस्य ।

पृ. २१ पं. १० अनुमानेन–अनुमानद्वारा व्याप्तिस्मरणलिङ्गावगमद्वारेतियावत् ।

पृ. २१ पं. ११ अर्थबोधनात्–परेष्टस्य साध्यास्यानुमितिलक्षणज्ञानोत्पादनात्, परमतनिराकणपूर्वकस्वमतव्यवस्थापनरूपपरीक्षां परार्थानुमाने चिकीर्षन् ग्रन्थकारः परमतखण्डने यतमानः प्रथमं बौद्धमतं खण्डयितुं तन्मतमुपदर्शयति ।

पृ. २१ पं. ११ पक्षस्येति–साध्यवत्त्वेन पक्षप्रतिपादकप्रतिज्ञारूपपक्षवचनस्य ।

पृ. २१ पं. ११ विवादादेवेति–निर्वत्तनीयतया कथाङ्गस्य संशयस्य जनकत्वेनादौ मध्यस्थेनावश्यकर्तव्याद्विप्रतिपत्तिलक्षणविवादात् शब्दादिः क्षणिको न वेत्याकारकात्, पक्षस्य, शब्दादिः क्षणिक इति सौगतप्रतिज्ञायाः शब्दादिः क्षणिको नेति नैयायाकादिप्रतिज्ञायास्तत्प्रतिपाद्यार्थस्य वा, एवकारो विवादातिरिक्तस्वतन्त्रतत्प्रयोगं व्यवच्छिनत्ति, गम्यमानत्वादित्यत्राप्रयोग इत्यत्रच पक्षस्येत्यस्य सम्बन्धः ।

पृ. २१ पं. ११ अप्रयोग–परस्यानुमित्यर्थं प्रयोक्तव्ये न्यायवाक्ये तद्घटकतया पक्षस्य न प्रयोगः ।

पृ. २१ पं. १२ तन्न–एकान्तेन पक्षस्याप्रयोग इति बौद्धमतं न समीचीनमित्यर्थः । निषेधे हेतुमाह ।

पृ. २१ पं. १२ यत्किश्चिदिति–विप्रतिपत्त्यनन्तरं पूर्वं भवता वक्तव्यन्तदनन्तरमनेनेत्यादिवचनव्यवहितात् पूर्वं विप्रतिपत्तिलक्षणो विवादस्ततः कथाबहिर्भूतमेवोक्तवचनं ततो वादिना स्वपक्षस्थापनालक्षणकथारम्भस्तत्र निरुक्तवचनेन मध्यस्थितेन निरुक्तविवादो व्यवहितो भवत्येव तथाभूतात् ।

पृ. २१ पं. १२ ततो–विवादात् ।

पृ. २१ पं. १२ व्युत्पन्नमतेः–यत्सत्तत्क्षणिकं यथा घट इत्युदाहरणवाक्यप्रयोगात्सश्च शब्द इत्युपनयवाक्यप्रयोगादनेन वादिना शब्दादिः क्षणिक इति पक्ष एव नूनं परिगृहीत इत्युहापोहकुशलबुद्धिशालिनः प्रतिवादिनः ।

पृ. २१ पं. १३ पक्षप्रतीतावपि–पक्षवचनप्रयोगमन्तरेणापि पक्षज्ञानेऽपि, तथाच व्युत्पन्नमतिप्रतिवादिनम्प्रति न प्रयोक्तव्यं पक्षवचनमित्याशयः।

पृ. २१ पं. १३ अन्यान्प्रति–व्युत्पन्नमतिभिन्नान्मन्दमतीन्प्रति वादिनः वादीन्प्रति, तेषामूहापोहविकलानां पूर्वमीदृशीविप्रतिपत्तिः तत एतादृशोदाहरणादिवाक्यविन्यासस्तेनानेनैव पक्षेण भवितव्यमित्याद्यनुसन्धानासम्भवात्, उदाहरणप्रयोगे सत्यपि किमिदं क्षणिकत्वे साध्ये साधर्म्योदाहरणं किं वाऽसत्त्वे साध्ये वैधर्म्योदाहरणमेतदित्यादिसंशयसम्भवाच्च ।

पृ. २१ पं. १३ अवश्यनिर्देश्यत्वात–पक्षवचनस्यावश्यं प्रयोक्तव्यत्वात् तदन्तरेण मन्दमतीनां पक्ष प्रतीतेरसम्भवात्, यत्र च विप्रतिपत्त्यनन्तरमेव स्वपक्षसाधनाय परमुद्दिश्य परार्थानुमानं वचनलक्षणमारचयति वादी, तत्र मन्दमतेरपि कस्यचित्प्रतिवादिनः वादिप्रयुक्तोदाहरणादिलक्षणेनानुमानवाक्यावयवेनैकवाक्यतया गृह्यमाणाद्विप्रतिपतिलक्षणविवादादपि पक्षस्य प्रतिपत्तिसम्भवेन, तत्र तम्प्रति पक्षस्याप्रयोगोऽपि स्याद्वादिन इष्ट एवेति पक्षस्य प्रयोगाप्रयोगयोरनेकान्त एव विजयत इत्याह ।

पृ. २१ पं. १३ प्रकृतानुमानेति ततः–विवादात्, साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिधर्मताप्रतिपत्त्यर्थं बौद्धेनावश्यमेव पक्षवचनस्य प्रयोक्तव्यत्वमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा हेतोः प्रतिनियतधर्मिधर्मताप्रतिपत्त्यर्थमुपनयरूपस्योपसंहारवचनस्य प्रयोक्तव्यत्वमपि तत्कक्षीकृतं त्यक्तं स्यादुभयोस्समानत्वादित्याह ।

पृ. २१ पं. १५ अवश्यं च–ताथागतेनापि पक्षवचनमवश्यं चाभ्युपगन्तव्यमित्यन्वयः। तथागतो बुद्धस्तच्छिष्यस्ताथागतस्तेन बौद्धेनेत्यर्थः । हेतोः साधनस्य, प्रतिनियतधर्मी यत्र धर्मिणि साध्यं साध्यनीयं स तद्धर्मता तत्सम्बन्धिता तस्याः प्रतिपत्त्यर्थं पक्षे हेतुज्ञानार्थमिति यावत्, उपसंहारः पक्षसमीपे हेतोर्नयनं हेतोः पक्षसम्बन्धित्वं तस्य वचनं तत्प्रतिपादकवचनमुपनय इति यावत् ।

पृ. २१ पं. १५ तद्वत–हेतोः पक्षसम्बन्धित्वप्रतिपत्तये बौद्धेनोपनयो यथाऽभ्युपगम्यते तथेत्यर्थः ।

पृ. २१ पं. १५ साध्यस्यापि तदर्थम्-साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिता-प्रतिप्रत्यर्थमपि ।

पृ. २१ पं. १६ पक्षवचनम्-प्रतिज्ञावाक्यम् ।

पृ. २१ पं. १७ अन्यथा-विवादादेव पक्षस्य गम्यमानत्वात्पक्षस्याप्रयोगे।

पृ. २७ पं. १७ समर्थनोपन्यासादेव-हेतुभावेऽवश्यंसाध्यस्य भाव इत्यस्य समर्थकं यद्दृष्टान्ते हेतुसाध्ययोरविनाभावप्रतिपादकं वचनं तत्समर्थनमुदाहरणमिति यावत् । तस्योपन्यासादुद्भावनादेव, गम्यमानस्य हेतोः यद्व्याप्यं तद्व्यातुर्यद्व्यापकं तत्साध्यमितिनियमाद्व्याप्यत्वेनायमेव हेतुरित्येवं ज्ञायमानस्य हेतोरपि ।

पृ. २१ पं. १८ अनुपन्यासप्रसङ्गात्-उपसंहारवचनेन यदुपन्यसनं तदभावापत्तेः मन्दमतिः प्रतिवादी उदाहरणवाक्यतो हेतुस्वरूपं नावधारयितुं शक्नोतीति तत्प्रतिपत्त्यर्थं यद्युपसंहारवचनस्यावश्यकत्वं यदि भवता मन्यते, तदा कश्चिन्मन्दमतिर्विवादतोऽपि पक्षं नावधारयितुं शक्नोतीति तत्प्रतिपत्यर्थं पक्षवचनस्याप्यावश्यकत्वमभ्युपगम्यतामित्याह ।

पृ. २१ पं. १८ मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थस्येति-प्रतिज्ञायाः प्रयोगो बौद्धशास्त्रेऽपि दृश्यते तच्छास्त्रमपि परप्रतिपत्त्यर्थं प्रवृत्तत्वात्परार्थमेव तथा च यदि प्रतिज्ञायाः न प्रयोगार्हत्वं तदा शाक्यशास्त्रेऽपि तत्प्रयोगो न स्यादस्ति च शाक्यशास्त्रे तत्प्रयोगोऽतोऽन्यत्रापि तत्प्रयोगोऽवर्जनीय एव, अन्यथा कल्पनाया दृश्यानुसारित्वं भज्येत अदृश्यानुसारित्वञ्च प्रसज्येतेत्याह ।

पृ. २१ पं १९ किञ्चेति-भवतामेव शास्त्रे प्रतिज्ञायाः प्रयोगः तद्बलान्नास्माभिस्तत्प्रयोगः कक्षीकरणीय इति यदि बौद्धो ब्रूयात्तदा यच्छास्त्रं तेन प्रमाणी कृतं तत्राप्यस्याः प्रयोगो दृश्यते तद्दर्शनापलापस्तदप्रमाणता च वक्तुमशक्येत्याशयेनाह ।

पृ. २१ पं. २० दृश्यते चेति-इयं प्रतिज्ञा शाक्यशास्त्रेऽपि बौद्धदर्शनेऽपि मन्दमतीनां प्रतिनियतधार्मिधर्मतया तत्तदभिमतार्थप्रतिपत्तितोऽज्ञानादिकं निवर्त्ततामित्युपकृतीच्छया यदि शास्त्रे प्रतिज्ञावचनोपन्यासस्तर्हि तादृशोपकृती

च्छावादिना वादेऽपि प्रतिवादिमन्दमतीनधिकृत्य भवत्येव, मन्दमतयोऽपि स्वाभिमतशास्त्रार्थसत्यत्वाभिमानाग्रहग्रहिलाः स्वेष्टशास्त्रप्रतिपक्षशास्त्रसमर्थनपरायणवादिविजिगीषया कथायामुपसर्पन्त्येवेति तान्प्रति प्रतिनियतधर्मिधमतया साध्यस्य प्रतिपत्त्यर्थं वादेऽपि प्रतिज्ञोपन्यासो युक्तएवत्याह ।

पृ. २१. पं. २० परानुग्रहार्थम् तत्प्रयोगश्च—पक्षप्रयोगश्च ।

पृ. २१. पं. २२ तत एव—प्रतिज्ञावाक्यादेव, परार्थानुमानस्यान्यवाद्यभिमतं लक्षणं प्रतिक्षेप्तुमुपन्यस्यति ।

पृ. २१. पं. २३ आगमात्परेणैव—प्रतिवादिनैव ।

पृ. २१. पं. २३ आगमात्—स्वाभ्युपगतशास्त्रात् ।

पृ. २१. पं. २३ ज्ञातस्य—प्रसिद्धस्य हेतोरिति दृश्यम् ।

पृ. २१. पं २३ वचनं—वादिनोपन्यस्तं वचनं तथा च प्रतिवाद्यभ्युपगतागमप्रसिद्धस्य हेतोः साध्यप्रतिपत्त्यर्थं वचनं परार्थानुमानमित्यर्थः । उदाहरति—

पृ. २१. पं. २३ यथेति बुद्धिः—प्रकृतेः प्रथमः परिणामो महत्तत्त्वापराभिधानमन्तःकरणं, साऽचेतना, तस्याः कर्तृत्वेऽपि न चैतन्यं, कूटस्थनित्यस्य पुरुषस्यैव चैतन्यं, तत्सम्बन्धादचेतनाऽपि चेतनेव भवतीत्युपपादनाय साध्यते,कर्त्तुरेव चैतन्यमित्यभ्युपगन्तारं नैयायिकम्प्रति साङ्ख्यानुमानं, साङ्ख्येन वादिना कृतमनुमानम् । तत्र निरुक्तलक्षणस्य सङ्गमनायाह ।

पृ. २१ पं. २४ अत्र हि—निरुक्तसाङ्ख्यानुमान इत्यर्थः । हि—यतः । बुद्धाविति प्रकृतत्वादुक्तं, सत्कार्यवादिना साङ्ख्येन पूर्वमसतः सत्त्वलक्षणाऽऽद्यक्षणसम्बन्धापराभिधानोत्पतिः कुत्रापि नेष्यते, किन्तु असत्कार्यवादिना नैयायिकादिनैवोक्तोत्पत्तिमत्त्वं स्वीक्रियते साङ्ख्यस्य तु तत्स्थाने आविर्भावाद्ध्वंसस्थाने तिरोभावाद्व्यवहृतिः । तथा च नैयायिकाद्यभ्युपगतशास्त्रप्रसिद्धोत्पत्तिमत्त्वलक्षणहेतुवचनमिदं परार्थानुमानमित्यर्थः । प्रतिवाद्यागमो न वादिना वाद्यागमो न प्रतिवादिना प्रमाणतयाऽभ्युपगम्यते इति तत्तदागममात्रप्रसिद्धो

हेतुर्नोभयवादिप्रसिद्धः उभयवादिप्रसिद्धस्यैव च हेतुता युक्तेति न पराभिमत-मुक्तलक्षणं सम्यग् न वा तल्लक्ष्यतया उपढौकितं तथेत्याह । तदेतदपेशलमिति निरुक्तपरमतमसुन्दरमित्यर्थः । अथवा नैरात्म्यवादिनं बौद्धम्प्रत्येवैतदनुमानं साङ्ख्यस्य, यतो नैरात्म्यवादिना बौद्धेनात्मस्थाने आलयविज्ञानसन्ततिरेवा-भिषिक्ता, तन्मते ज्ञानस्वरूपा बुद्धिरेव चेतना स्वप्रकाशत्वात्, अतस्तन्मताया बुद्धेरेवाचैतन्यं साङ्ख्येन साध्यते, बौद्धमते सर्वस्य क्षणिकत्वात्सर्वान्तःपातिन्या बुद्धेरपि क्षणिकत्वं, क्षणिकत्वाच्चोत्पत्तिमत्त्वमपि तन्मतसिद्धं ततस्तदागमसिद्धो-त्पत्तिमत्त्वेन बुद्धेरचैतन्यसाधनमुक्तदिशा परार्थानुमानम् अन्यत्सर्वं दर्शितदिशा-ऽवसेयम् । उक्तासाङ्ख्यलक्षितपरार्थानुमानलक्षणस्यासुन्दरत्वे हेतुमाह ।

पृ. २१. पं. २६ **वादिप्रतिवादिनोरिति**—साङ्ख्यनैयायिकयोरिति, साङ्ख्यबौद्धयोरितिवाऽर्थः ।

पृ. २१. पं. २६ **आगमेति**—साङ्ख्यागमप्रामाण्ये बौद्धस्य विप्रतिपत्ते बौद्धागमप्रामाण्ये साङ्ख्यस्य च विप्रतिपत्तेरित्यर्थः । तथा च बौद्धोगमसिद्धमुत्प-त्तिमत्त्वं वस्तुतोऽसिद्धमेव साङ्ख्यस्येतिपरप्रतिपत्त्यर्थं तद्वचनं न घटत एवेति, कथं तस्य परार्थानुमानत्वमिति भावः ।

पृ. २१ पं. २७ **अन्यथा**—वादिप्रतिवादिनोः परस्परागमप्रामाण्यविप्रति-पत्त्यभावे ।

पृ. २१ पं. २७ **तत एव**—आगमादेव, साङ्ख्यागमे कुटस्थपुरुषभिन्न-सर्वस्यैवाचैतन्यं प्रतिपादितमस्तीति साङ्ख्यागमत एव प्रतिवादिनो नैयायि-कस्य कर्तुरचैतन्यस्य प्रतिवादिनो बौद्धस्य बुद्धेरचैतन्यस्य सिद्धिप्रसङ्गतः तम्प्रति तत्साधनायानुमानप्रणयनं साङ्ख्यस्य विफलमेव प्रसज्येतेति भावः । यद्यपि परागमप्रतिपादितार्थस्य युक्तत्वमयुक्तत्वं वा यावन्न परीक्षितं तावत्सा-मान्यतः शास्त्रत्वेन प्रामाण्यं परकीयागमस्यापि पराभ्युपगमविषयस्तथापि परीक्षादशायां तत्प्रतिपादितार्थस्यायुक्तत्वव्यवस्थितौ बाधितार्थकत्वेनाप्रामाण्य-स्यैव व्यवस्थित्या प्रामाण्याभ्युपगमस्य बाधादितिकथाकाले परस्परशास्त्रार्थ-परीक्षायां प्रस्तुतायां न परकीयागमप्रसिद्धं स्वतोऽसिद्धहेतुतयोद्भावनीयमिति तादृशहेतुवचनं न परार्थानुमानमित्याह ।

पृ. २१ पं. २८ परीक्षापूर्वमिति–तद्बाधात्–परकीयागमप्रामाण्याभ्युपगमाभावात्, ननु यदि परागमसिद्धहेतुना साध्यासाधनं न न्याय्यं, तर्हि नैयायिकागमसिद्धसर्वथैकत्वहेतुना सामान्यस्यानेकधर्मिसम्बद्धत्वाभावसाधनं स्याद्वादिनोऽप्ययुक्तमिति शङ्कते ।

पृ. २१ पं. २८ नन्वेवम्–परागममात्रसिद्धहेतुवचनस्यायुक्तत्वे ।

पृ. २१ पं. २८ भवद्भिरपि–जैनैरपि ।

पृ. २२ पं. १ परम्प्रति–नैयायिकम्प्रति । आपादनाकारं यत्सर्वथैकमित्यादिना दर्शितम्, यत्सर्वथैकं तन्नानेकत्र सम्बद्ध्यते इति व्याप्तिप्रदर्शनम् । तथा च सामान्यमिति उपसंहारवचनं, सर्वथैकं च सामान्यमिति तदर्थः । ततश्च सामान्यं नानेकत्र सम्बद्ध्यत इत्यापादनम्, यदि स्वतन्त्रानुमानरूपमिदं स्यात्तदाऽयुक्तत्वमस्यापि स्यादेवेत्यर्द्धस्वीकारपरम् ।

पृ. २२ पं. २ सत्यमिति–तर्हि किमिदमित्यपेक्षायामाह ।

पृ. २२ पं. २ एकधर्मोपगमे–सामान्ये नैयायिकेनैकधर्मोपगमे सर्वथैकत्वरूपधर्मोपगमे, तम्प्रति ।

पृ. २२ पं. २ धर्मान्तरसन्दर्शनमात्रपरत्वेन–धर्मान्तरस्य सर्वथैकत्वव्यापकानेकधर्मिसम्बन्धित्वाभावस्य प्रदर्शनमात्राभिप्रायकत्वेन ।

पृ. २२ पं. ३ एतदापादनस्य–यत्सर्वथैकं तन्नानेकत्र सम्बद्ध्यते, तथा च सामान्यमित्यापादनस्य ।

पृ. २२ पं ३ वस्तुनिश्चायकत्वाभावात्–तद्विषयस्य सामान्यगतानेकसम्बन्धित्वाभावस्य वस्तुतोऽभावेन वस्तुनिश्चायकत्वासम्भवात, व्याप्याभ्युपगमनान्तरीयको व्यापकाभ्युपगमो यत्र प्रसज्यते तत्प्रसङ्गसाधनमितिलक्षणसद्भावेन प्रसङ्गसाधनमेवैतन्नैयायिकम्प्रति जैनेन क्रियते, तदाकारश्च यदि सामान्यं सर्वथैकं स्यात्, अनेकत्रधर्मिणि न संबध्नीयादिति, तत्किमत्र वस्तुनिश्चयो न भवत्येव, एवञ्चेत्तदुद्भावनमनर्थकमेव भवतां प्रसज्येतेत्यत आह ।

पृ. २२ पं. ४ प्रसङ्गविपर्ययरूपस्य–एतत्प्रसञ्जन नैयायिकस्येष्टापादनरूपं, यतः सामान्यस्यानेकधर्मिसम्बन्धित्वाभावे सामान्यरूपतैव न स्यात्। नित्यत्वे सति अनेकसमवेतस्य सामान्यलक्षणत्वेन तेनाभ्युपगमात्, ततोऽस्य प्रसङ्गस्य विपर्ययपर्यवसानं विपर्ययश्च प्रकृते अस्ति चानेकसम्बन्धिसामान्यं ततो न सर्वथैकमिति अत्र च यदनेकसम्बन्धि तन्न सर्वथैकमिति तत्र चानेकसम्बन्धित्वलक्षणहेतुर्न न्यायागमकसिद्धः किन्तु जैनागमसिद्धोऽपि स विपर्ययहेतुः स्वतन्त्रसाधनरूपत्वान्मौलहेतुरभिधीयते तस्यैव । एवकारेण प्रसङ्ग हेतोर्व्यवच्छेदः ।

पृ. २२ पं. ४ तन्निश्चायकत्वात्–वस्तुनिश्चायकत्वात्, सामान्यगतसर्वथैकत्वाभावश्च विपकये साध्यः स च वस्त्वेवेति। ननु स्वतंत्रसाधनत्वाद्विपर्ययहेतुरेव प्रथमतः प्रयोक्तव्योऽलंप्रसङ्गहेतूपन्यासेनेत्यंतआह ।

पृ. २२ पं. ४ अनेकवृत्तित्वेति–यत्र यत्रानेकवृत्तित्वं तत्रानेकत्वमितिनियामादनेकवृत्तित्वस्य व्यापकमनकत्वं नैयायिकेन सामान्ये सर्वथैकत्वमभ्युपगच्छताऽनेक वृत्तित्व व्यापकस्यानेकत्वस्य निवृत्तिरभ्युपगतैव तयैवेति अनेकवृत्तित्वव्यापकानेकत्वनिवृत्त्यैवेत्यस्यार्थः । तथा च यत्र व्यापकाभावस्तत्र व्याप्याभाव इति व्याप्तेः ।

पृ. २२ पं. ५ तन्निवृत्तेः–अनेकत्वव्याप्यस्यानेकवृत्तित्वस्य निवृत्तेः सामान्येऽभावस्य ।

पृ. २२ पं. ६ मौलहेतुपरिकरत्वेन–यदनेकवृति तदनेकं, अनेकवृति च सामान्यं, तस्मादनेकमिति स्वतन्त्रस्य विपर्ययानुमानस्य हेतुत्वेन मौलहेतुरनेकवृत्तित्वं, तस्य परिकरत्वेन व्यतिरेकव्याप्तिरूपतयाऽङ्गत्वेन अन्वयव्याप्तिवद्व्यतिरेकव्याप्तेरपि साधनाङ्गत्वात्, यथा पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यत्र यो यो धूमवान् स वह्निमानित्यन्वयव्याप्तिवद्यो वह्न्यभाववान् स धूमाभाववानिति व्यतिरेकव्याप्तिः साधनाङ्गं, एवञ्च ।

पृ. २२ पं. ६ प्रसङ्गोपन्यासस्यापि–नैयायिकं प्रति यो जैनेन क्रियते यत्सर्वथैकंतन्नानेकत्र सम्बध्यते तथा च सामान्यमिति प्रसङ्गोपन्यासस्तस्यापि ।

पृ. २२ पं. ६ न्याय्यत्वात्–न्यायादनपेतत्वात् युक्तत्वादिति यावत् ।

नन्वेवं बौद्धम्प्रति बुद्धिरचेतना उत्पत्तिमत्वादिति साङ्ख्यानुमानमपि प्रसङ्ग-विपर्ययपर्यवसाय्येवास्तु, यतस्तत्रापि बुद्धिर्यदि चेतना स्यादुत्पत्तिमती न स्यादि-त्यापादनाङ्गस्य यच्चेतनं न तदुत्पत्तिमत्, चेतना च बुद्धिरित्यवयवद्वयात्मक-प्रसङ्गसाधनस्यास्त्येव सम्भवः, बुद्धेरुत्पत्तिमत्त्वाभावश्च न परस्येष्टस्ततो विपर्ययः, बुद्धिरचेतना उत्पत्तिमत्त्वादिति सम्भवतीत्यत आह ।

पृ. २२ पं. ६ बुद्धिरचेतनेत्यादौ चेति–उक्तावतरणदिशा मौलहेतुरु-त्पत्तिमत्त्वमेवायातं तच्च न साङ्ख्यस्य स्वमतसिद्धम्, अन्यागमप्रसिद्धन्त्व-प्रसिद्धकल्पमेवेति न तथोपन्यासो युक्त इति दोषो न व्यावर्त्तते । बुद्धिर्यद्युत्प-त्तिमती स्याच्चेतना न स्यादित्यापादनाङ्गस्य यदुत्पत्तिमत्तन्न चेतनं, यथा घटादि, उत्पत्तिमती च बुद्धिरित्यवयवद्वयात्मकप्रसङ्गसाधनस्य प्रथममुपन्यासस्तत्र बुद्धेरचै-तन्यंनबौद्ध स्येष्टमितिविपर्ययः, बुद्धिर्नोत्पत्तिमती चेतनत्वादिति,अत्र यत्र चेतनत्वं तत्रोत्पत्तिमत्त्वाभाव इति व्याप्तिस्सांङ्ख्यस्य सिद्धा,चेतनत्वमपि पुरुषे साङ्ख्यस्य प्रसिद्धं, परं साङ्ख्यमते उत्पत्तिमत्वाभावस्सर्वत्रैव चेतनेऽचेतने चेति चेतनत्वे उत्पत्तिमत्त्वाभावस्य नान्तर्व्याप्तिरतस्तत्राप्रयोजके हेतौ परेणेत्थं वक्तुं शक्यते । उत्पत्तिमत्यप्यस्तु बुद्धिर्चेतनाऽप्यस्तु न हि चेतनत्वस्योत्पत्तिमत्त्वविरोधे किञ्चि-न्मानं विद्यते साङ्ख्यस्येति, विरुद्धधर्माध्यासलक्षणविपक्षबाधकप्रमाणस्यानुस्थापना-दुपस्थापयितुमवश्यत्वाद्विपर्ययानुमानहेतुसाध्ययोर्व्याप्तिसिद्ध्यभावे तयोर्व्याप्य-व्यापक भावनिबन्धनस्य प्रसङ्गे विपर्ययसाध्याभावरूपव्यापकाभावहेतुकविपर्ययहे-त्वाभावरूपव्याप्याभावलक्षणसाध्यसाधनकारणव्याप्तिग्रहस्यासिद्ध्या प्रसङ्गस्याप्य-न्याय्यत्वम् । दर्शितप्रसङ्गविपर्ययसाधनपरताऽपि बुद्धिरचेतना उत्पत्तिमत्त्वाद्-घटवदिति साङ्ख्यानुमानस्योदक्षरत्वान्न युक्तमित्यर्थः ।

पृ. २२. पं. ९ वदन्ति–स्याद्वादरत्नाकरे श्रीमन्तो देवसूरयो वदन्ति, तथा चैतत्तत्त्वबुभुत्सुभिः स्याद्वादरत्नाकरोऽवलोकनीयः । तत्र प्रसङ्गविपर्ययरूपमौल-हेतोरेव तन्निश्चायकत्वादित्याद्येतद्ग्रन्थस्थसन्दर्भाभिप्रायसमानाभिप्रायकः पाठ-श्चेत्थं " प्रसङ्गः खल्वत्र व्यापकविरुद्धोपलब्धिरूपः अनेकव्यक्तिवर्त्तित्वस्य हि व्यापकमनेकत्वम्, ऐकान्तिकैकरूपस्यानेकव्यक्तिवर्त्तित्वविरोधात्, अनेकत्रवृत्ते-रनेकत्वं व्यापकं, तद्विरुद्धश्च सर्वथैक्यं सामान्ये त्वयाऽभ्युपगम्यते ततो नानेक-वृत्तित्वं स्यात्, विरोध्यैक्यसद्भावेन व्याप्येन व्यापकस्यानेकत्वस्य निवृत्त्या

व्याप्यस्यानेकवृत्तित्वस्यावश्यंनिवृत्तेः, न च तन्निवृत्तिरभ्युपगतेतिलब्धावसरः प्रसङ्गविपर्ययाख्यो विरुद्धव्याप्तोपलब्धिरूपोऽत्रमौलो हेतुः, यथा यदनेकवृत्तितदनेकम्, अनेकवृत्ति चसामान्यमिति, एकत्वस्य हि विरुद्धमनेकत्वं, तेन व्याप्तमनेकवृत्तित्वं तस्योपलब्धिरिह, मौलत्वं चास्यैतदपेक्षयैव प्रसङ्गस्योपन्यासात, न चायमुभयोरपि न सिद्धः, सामान्ये जैनयौगाभ्यां तदभ्युपगमात्, ततोऽयमेव मौलो हेतुरयमेव वस्तुनिश्चायकः " इति बुद्धिरचेतनेत्यादौ चेत्याद्येतद्ग्रन्थफक्किकाऽपि रत्नाकरस्थ-शङ्काग्रन्थमवतरणरूपतया मनसि संस्थाप्य तत्समाधानरूपैव ग्रन्थकतोद्भाविता, तथा च तद्ग्रन्थः " नन्वेवं प्रसङ्गेऽङ्गीक्रियमाणे बुद्धिरचेतना उत्पत्तिमत्वादि-त्ययमपि साङ्ख्येन ख्यापितः प्रसङ्गहेतुर्भविष्यति, तथा हि यदि बुद्धिरुत्पत्तिमती भवद्भिरभ्युपगम्यते तदानी तद्व्यापकमचैतन्यमपि तस्याः स्यान्न चैवमतो नोत्पत्तिमत्यपीयम् इति प्रसङ्गविपर्ययहेतोरित्याद्येतद्ग्रन्थसमाधानग्रन्थसमानाभि-प्रायक श्चरत्नाकरग्रन्थो यथा " प्रसङ्गविपर्ययहेन्तोर्मौलस्य चेतन्याख्यस्य साङ्-ख्यानां बुद्धावपि प्रतिषिद्धत्वात्, चैतन्यस्वीकारेऽपि नानयोः प्रसङ्गविपययोर्ग-मकत्वं, अनेन प्रसङ्गविपर्ययहेतो र्व्याप्तिसिद्धिनिबन्धस्य विरुद्धधर्माध्यासस्य विपक्षे बाधकप्रमाणस्यानुपस्थापनात् । चैतन्योत्पत्तिमत्त्वयोर्विरोधाभावत्, एवं हि अचेतनत्वेनोत्पत्तिमत्त्वं व्याप्तं भवेद्यदि चैतन्येन तस्य विरोधः स्यात्, नान्यथा, न चैवमिति । नैतौ प्रसङ्गतद्विपर्ययौ गमकौ भवतः " इति । परार्था-नुमाने हेतुप्रयोगप्रकारमुपदर्शयति ।

पृ. २२. पं. १० हेतुरिति—अस्य प्रयोक्तव्य इत्यनेनान्वयः ।

पृ. २२ पं. १० साध्योपपत्त्यथानुपपत्तिभ्याम्—साध्ये सत्येव हेतो-रुपपत्तिः साध्योपपत्तिः, साध्यं विना हेतोरनुपपत्तिरन्यथानुपपत्तिः ताभ्याम्, । द्विधा द्विप्रकारः । एतत्प्रकारद्वयं क्रमेणोदाहरति ।

पृ. २२ पं. ११ यथेति असत्यनुपपत्तेः—वह्नावसति धूमस्यानुपपत्तेः, यत्र परेण धूमादिति प्रयुज्यते, तत्र स्याद्वादिना वह्नौ सत्येव धूमस्योपपत्तेः, वह्नावसति धूमस्यानुपपत्तेरिति वा प्रयुज्यते, वाकारेणैतत्कथयति यदेकप्रयोग-तोऽपि प्रकृतार्थसिद्धिनिर्वाहाद्वयोर्मध्यात्कामचारमेकस्य प्रयोगो विधेय इत्येव स्पष्टयति ।

पृ. २२ पं. १२ अनयोरिति–साध्योपपत्त्यन्यथानुपपत्त्योरित्यर्थः। अन्यत्स्पष्टम् । पक्षहेतुवचनात्मकमनुमानमिति प्रागुक्तं तदेव व्यवस्थापयति पक्षेत्यादिना एवकारोद्भावनप्रयोजनमाह ।

पृ. २२ पं. १४ न दृष्टान्तादिवचनमिति–दृष्टान्तादिवचनं न परप्रतिपत्त्यङ्गमतो नैयायिकस्य प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनात्कपञ्चावयवस्य मीमांसकस्य प्रतिज्ञाहेतूदाहरणात्मकावयवत्रिकस्य उदाहरणोपनयनिगमनलक्षणावयवत्रयस्य वा बौद्धस्योदाहरणोपनयात्मकावयवद्वयस्य च परप्रतिपत्त्यङ्गतया परार्थानुमानत्वकथनमयुक्तमित्यावेदितम्, यतः स्वाभीष्टसाध्यप्रतिपत्तिर्भवति तदेवाभिधातव्यं, पक्षहेत्वभिधानतस्सा भवति, ततस्तस्यैवपरप्रतिपत्त्यङ्गत्वादभिधानं युक्तमित्याह ।

पृ. २२ पं. १५ पक्षहेतुवचनादेवेति–ननु व्याप्तिग्रहार्थं तत्स्मरणार्थंवा दृष्टान्तवचनस्याप्यावश्यकता व्याप्तिरूपसाध्यहेतुसम्बन्धस्मरणमन्तरेणानुमानात्मकपरप्रतिपत्तेरनुदयादित्यत आह ।

पृ. २२ पं. १५ प्रतिबन्धस्येति । तत्स्मरणस्यापि–प्रतिबन्धस्मरणस्यापि, पक्षवचनरूपप्रतिज्ञया साध्यस्य हेतुवचनतो हेतोश्च ज्ञाने सति पूर्वं गृहीततदुभयव्याप्तिरूपसम्बन्धस्य प्रतिवादिनः सम्बन्धिद्वयज्ञानत एवतत्सम्बन्धस्मरणस्य सम्भवेन तदर्थं दृष्टान्तवचनोपन्यासस्यानावश्यकत्वात्, पूर्वमगृहीतव्याप्तिकस्य तु प्रतिवादिनो दृष्टान्तेऽपि पूर्वंव्याप्तेरग्रहणेन तदुपन्यासेऽपि कथमत्रापि हेतुसत्त्वेऽवश्यसाध्यसत्त्वं येनाहमत्र निरुक्तसाध्यसाधनयोर्व्याप्तिमवधारयामीति प्रतिवादिजिज्ञासाया अनुपशान्तेस्तदुपशमनार्थं प्रकृतस्य हेतोः प्रकृतसाध्येन सहाविनाभावस्य साधनरूपसमर्थनं तयोः कार्यकारणभावतादात्म्यादिप्रतिबन्धग्राहकप्रमाणतः प्रतिवादिनभ्प्रतिवादिनाऽवश्यमेव कर्त्तव्यमिति दृष्टान्तानुपन्यासेऽप्युक्त समर्थनत एव व्याप्ति ग्रहणतस्साध्यप्रति पत्तिसम्भवे तदनङ्गस्य दृष्टान्तवचनस्योपन्यासोऽनावश्यक इत्याह ।

पृ. २२. पं. १७ असमर्थितस्येति–साध्यहत्वोरविनाभावावच्छेदकतयाऽसाधितस्य ।

पृ. २२ पं. १७ तत्समर्थनेनैव-हेतोः स्वासाध्येन सहाविनाभाव-साधनेनैव ।

पृ. २२ पं. १७ अन्यथासिद्धेश्च-दृष्टान्तोपनयनिगमनवचनोपन्यास-स्यान्यथासिद्धेश्चाकिं समर्थनमित्याकाङ्क्षायामाह ।

पृ. २२ पं. १८ समर्थनं हीति । तत एव-निरुक्तसमर्थनत एव,तर्कि दृष्टान्तादिवचनं कमपि प्रतिवादिनम्प्रति न प्रयोक्तव्यमेव, तथा सत्येवमभ्यु पगच्छतस्स्याद्वादवादिन एकान्तवादाभ्युगमादनेकान्तवादव्याकोप इत्यत आह ।

पृ. २२ पं. २१ मन्दमतींस्त्विति-अतिव्युत्पन्नम्प्रति हेतुप्रयोगमात्रस्य तदन्यव्युत्पन्नम्प्रति पक्षहेतूभयप्रयोगस्य मन्दमतिप्रतिवादिव्युत्पादनार्थं दृष्टान्तादि प्रयोगस्योपयोगम्भावयति ।

पृ. २२ प. २२ तथाहीति-निर्णीतः पक्षस्साध्यविशिष्टो धर्मी येन-प्रतिवादिना सः ।

पृ. २२ पं. २२ निर्णीतपक्षः दृष्टन्तेति-दृष्टान्तवचनेन स्मृतिविषयः-कर्त्तव्यो यः प्रतिनिबन्धस्तस्य ग्राहकं यत्तर्कात्मकम्प्रमाणं तस्य स्मरणे यो निपुणः दृष्टान्तवचनमन्तरेणापि प्रतिबन्धग्राहकतर्कप्रमाणं स्मर्तुं समर्थ इत्यर्थः ।

पृ. २२ पं. २३ अपरेति-उपनयनिगमनलक्षणावयवयोरभ्यूहने स्वयं तत्स्वरूपकल्पने यः समर्थः, भवितव्यमत्र ईदृशेनोपयेन ईदृशेन च निगमनेने-त्येवंस्वरूपाभ्युहने समर्थ इत्यर्थः । तथा च साध्यविशिष्टधर्मिविशेषप्रतिपत्ति-लक्षणप्रयोजनस्य क्षयोपशमविशेषादेव भावात्प्रतिज्ञोपन्यासस्य व्याप्तिग्राहकतर्क-स्मरणलक्षणप्रयोजनस्य कारणान्तरादेव सम्प्रन्नत्वाद्दृष्टान्तोपन्यासस्य, उपनयनि-गमनयोस्स्वयमप्यूहनात्तदुभयोपन्यासस्यानुपयोगे व्यवस्थिते तम्प्रति निरुक्त-प्रतिवादिनम्प्रति ।

पृ. २२ पं. २४ हेतुरेव प्रयोज्यः-हेतुवचनमात्रं प्रयोक्तव्यम् उक्तप्रति-वाद्यपेक्षयाकिञ्चिन्न्यूनव्युत्पत्तिमन्तं प्रतिवादिनम्प्रति पक्षहेतुवचनद्वयस्य प्रयोक्त-व्यत्वमनुज्ञास्तियस्त्विति ।

पृ. २२ पं. २४ नाद्यापि पक्षनिर्णयः–प्रारब्धकथातः प्रागव्यवहित-पूर्वकाले साधनीयसाध्यविशिष्टधर्मिविशेषनिर्णयो नास्ति, तेनैतत्कथानुपयुक्तसमये यत्किञ्चिद्धर्मविशिष्टधर्मिसाधनावसरे च तद्धर्मविशिष्टधर्मनिर्णयेऽपि न क्षतिः ।

पृ. २२ पं. २५ तम्प्रति–तम्प्रतिवादिनमुद्दिश्य ।

पृ. २२ पं. २५ पक्षोऽपि–प्रयोज्य इति सम्बद्ध्यते, अपिना हेतोः सङ्ग्रहः पक्षहेतू प्रयोज्यावित्यर्थः । मन्दमतिरपि मन्दातिमन्दातिमन्दतममतिभेदेन त्रिविध-स्तत्र प्रथममधिकृत्याह ।

पृ. २२ पं. २५ यस्त्विति प्रमाणस्य–स्मृत्यर्थकधातुयोगे कर्मणि षष्ठी, षष्ठ्यन्तविशेष्यवाचकपदसममिव्याहृतस्य विशेषणवाचकप्रतिबन्धकग्राहिण इत्य-स्यापि षष्ठ्यन्तत्वं, तथा च यो मन्दमतिः प्रतिवादी दृष्टान्तवचनातिरिक्तेन न केनचित् प्रतिबन्धग्राहितर्कप्रमाणविषयकस्मरणवान् ।

पृ. २२ पं. २६ तं प्रति–तम्प्रतिवादिनमुद्दिश्य ।

पृ. २२ पं. २६ दृष्टान्तोऽपि–प्रयोज्य इत्यनुवर्तते, अपिना पक्षहेत्वोर्ग्रहणं तथा च तम्प्रतिवादिनम्प्रति पक्षहेतुदृष्टान्तवचनानि प्रयोक्तव्यानीत्यर्थः । अति-मन्दमतिप्रतिवादिनमधिकृत्याह ।

पृ. २२ पं. २६ यस्त्विति दार्ष्टान्तिके–पक्षे उपनयोऽपीत्यत्रापि प्रयोज्य-इत्यस्य सम्बन्धः । अपिना पक्षहेतुदृष्टान्तानामुपग्रहः, तथाच तं प्रतिपक्षहेतु-दृष्टान्तोपनयाः प्रयोक्तव्याः । अतिमन्दतममतिमधिकरोति ।

पृ. २२ पं. २७–एवमपीति–पक्षादिवचनचतुष्टयप्रयोगेऽपीत्यर्थः ।

पृ. पं. २७ साकाङ्क्षं प्रति–एतावता किं जातमित्याकाङ्क्षाशालिनम्प्रति-वादिनम्प्रति, चः समुच्चये स च निगमनमित्यनन्तरं योज्यः, समुच्चयश्च प्रतिज्ञा-हेतूदाहरणोपनयानां, तथा च तम्प्रति प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चा-प्यवयवाः प्रयोक्तव्याः, नैतावता नैयायिकेनास्मदभिमतपञ्चावयवात्मकपरार्थानु-मानसिद्धिरिति सन्तोष्टव्यं, ततोऽधिकानामप्यवयवानां प्रतिवादिविशेषमधिकृत्या-वश्यम्प्रयोक्तव्यात्वादित्याह ।

पृ. २२ पं. २८ पञ्चादिति–आदिपदाद्धेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनानां ग्रहणं तथा च यः पक्षस्वरूपे विप्रतिपन्नस्तम्प्रति पक्षशुद्धिरपि यस्तु हेतुस्वरूपे विप्रतिपद्यते तम्प्रति पक्षशुद्धिहेतुशुद्धी द्वे अपि यस्तु दृष्टान्तस्वरूपेऽपि विवादग्रहितस्तम्प्रति पक्षहेतुदृष्टान्तशुद्धयस्तिस्रोऽपि, यस्तूपनयस्वरूपेऽपि विवादमाविष्करोति तम्प्रति पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयशुद्धयश्चतस्रोऽपि यस्तु निगमनस्वरूपेऽपि विवादाचान्तमति-स्तम्प्रति पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनशुद्धयः पञ्चापि प्रयोक्तव्याः, अपिना पक्षा-दीनां पञ्चानामुपग्रहः तथा च यन्निष्पन्नं तन्निगमयति।

पृ. २३ पं. १ सोऽयमिति। दशावयवो–पञ्चप्रतिज्ञादयः पञ्चपक्षशु-द्धयादयः तेषां मेलनेन दशावयव इत्यर्थः। पक्षशुद्धयादिकं च स्याद्वादरत्ना-करे व्यावर्णितं, तथा च तद्ग्रन्थः "तत्र वक्ष्यमाणप्रतीतसाध्यधर्मविशेषणत्वादि-पक्षदोषपरिहारादिः पक्षशुद्धिः अभिधास्यमानासिद्धयादि हेत्वाभासोद्धरणं हेतुशुद्धिः, प्रतिपादयिष्यमाणसाध्यविकलत्वादिदृष्टान्तदूषणपरिहरणंदृष्टान्तशुद्धिः उपनय-निगमनयोस्तु शुद्धी प्रमादान्यथाकृतयोस्तयोर्वक्ष्यमाणतत्स्वरूपेण व्यवस्थापके वाक्ये विज्ञेये इति।

॥ अथ हेतुविभागः ॥

हेतुप्रकारानुपदर्शयति

पृ. २३ पं. २ स चायमिति–अनन्तरनिरूपितस्वरूपो हेतुः पुनरित्यर्थः हेतोर्यथा साध्योपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां प्रयोगे द्वैविध्यं तथाप्रकारेऽपि द्वैविध्य-मित्यभिधानाय पुनरर्थकश्चकारः।

पृ. २३ पं. ३ विधिरूपः–भावरूपः।

पृ. २३ पं. ३ प्रतिषेधरूपः–अभावरूपः। प्रथमोद्दिष्टत्वाद्विधिरूपहेतुं विभजते।

पृ. २३ पं. ३ तत्रेति–विधिरूपनिषेधरूपहेत्वोर्मध्ये इत्यर्थः।

पृ. २३. पं. ४ विधिसाधकः–भावरूपसाध्यसाधकः।

पृ. २३ पं. ४ प्रतिषेधसाधकश्च–अभावरूपसाध्यसाधकश्च । विधिरूपसाध्यसाधकस्य विधिरूपहेतोः प्रकारानुपदर्शयति ।

पृ. २३ पं. ४ तत्रेति–विधिसाधकप्रतिषेधसाधकविधिरूपहेत्वोर्मध्य इत्यर्थः ।

पृ. २३ पं. ४ आद्यः–विधिसाधको विधिरूपो हेतुः ।

पृ. २३ पं. ४ षोढा–षट्प्रकारः, षड्विधत्वञ्च व्याप्य–कार्य–कारण पूर्वचरो–त्तरचर–सहचरभेदाज्ज्ञेयम्, तान् प्रकारान् क्रमेण निदर्शनोपदर्शनद्वारा भावयति । तद्यथेति ।

विधिसाधक विधेयव्याप्यं भावरूपहेतुमुदाहारति यथेति शब्देऽअनित्यत्वलक्षणभावधर्मो भावात्मकेन प्रयत्नान्तरियकत्वेन हेतुना साध्यते प्रयत्नान्तरियकत्वञ्च नानित्यत्वस्य कार्यकारणादिरूपं, किन्तु यत्रयत्र प्रयत्नानन्तरियकत्वं वर्त्तते तत्र अनित्यमपि वर्त्तत इत्यतः प्रयत्नानन्तरियत्वमनित्यत्वस्य व्याप्यमिति । ननु साध्येहत्वोर्व्याप्यव्यापकभावे सत्येव व्यापिग्रहणतः सर्वस्यानुमानस्योद्भवइति हेतुमात्रस्यैव साध्यव्याप्यरूपतेति प्रथमभेद एव सर्वेऽपि भेदास्सन्निविष्टा इति कार्यकारणादिहेतूनां प्रकारान्तरत्वन्न स्यादित्यत आह ।

पृ. २३ पं. ६ यद्यपीति–कार्याद्यनात्मकव्याप्यस्यैव व्याप्यत्वेन व्याप्यात्मकेहेतुतया विवक्षितत्वमितिकार्यादि हेतूनां न व्याप्यहेतावन्तर्भाव इत्यर्थः । एवं सति कार्यादिवत्स्वभावहेतुरप्यधिको वक्तव्यो भवति, तथा च विधिसाधकविधिहेतोस्सप्तविधत्वं स्यादित्यत आह ।

पृ. २३ पं. ७ वृक्षः शिंशपाया इत्यादेरिति–वृक्षस्वभावा शिंशपा यदि वृक्षस्वरूपमतिपतेत् वृक्षसामग्रीं वाऽतिपत्य जायेत, स्वस्वरूपमेवातिपतेत् स्वसामग्रींवाऽतिपत्य जायेतेतिविपक्षबाधकानिष्टप्रसङ्गतस्तादात्म्येन वृक्षव्याप्यतया निर्णीतस्य शिंशपालक्षणस्वभावहेतोः कार्यादिभिन्नत्वाद्व्याप्यहेतावेवान्तर्भाव इति न तमुपादाय विधिसाधकविधिहेतोस्सप्तविधत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । विधिसाधकं द्वितीयंकायरूपविधिहेतुं दर्शयति ।

पृ. २३ पं. ८ कश्चित्कार्यरूपइति–धूमइति–कार्यरूपो विधिस्वरूपो धूमहेतुरित्यर्थः, गमकत्वे सत्येव हेतुत्वमिति तद्भावयति ।

पृ, २३ पं. ९ धूम इति, हि यतः तदभावे अग्न्यात्मकस्वकारणाभावे, विधिसाधकं कारणात्मकविधिरूपहेतु तृतीयं निरूपयति ।

पृ. २३ पं. १० कश्चित्कारणरूपम्-इति-विशिष्टेति-अत्यन्तनैल्योन्न-तत्वादिविशिष्टेत्यर्थः ।

पृ. २३ पं. ११ मेघविशेष इति-अत्यन्तनैल्योन्नतत्वादिविशिष्टमेघः कारणात्मकविधिरूपो हेतुरित्यर्थः । भावयति ।

पृ. २३ पं. ११ स हि-तादृशमेघविशेषो यत इत्यर्थः । अत्र कारणस्य कार्यसाधकत्वमसहमानः परश्शङ्कते ।

पृ. २३ पं. १२ नन्विति-कार्याभावेऽपि सम्भवत्कारणमित्यनेन कार्य रूपसाध्याभाववद्वृत्तित्वादनैकान्तिकत्वं कारणहेतोर्दर्शितम् ।

पृ. २३ पं. १३ अत एव-कारणस्य कार्याभाववद्वृत्तित्वेनानैकान्तिकत्वा-त्कार्याननुमापकत्वादेव सर्वस्य कारणस्य कार्यानुमापकत्वाभ्युपगमे भवतः शङ्का सत्यैव, परं नैवमभ्युपगम्यते, किन्तु निश्चितकारणन्तरसाकल्याप्रतिबद्धसामर्थ्यस्य कारणविशेषस्यैव हेतुत्वमभ्युपेयते तस्य कार्याव्यभिचारित्वेन कार्यानुमापकत्व-मभ्युपगमे न कश्चिद्दोष इति समाधत्ते ।

पृ. २३ पं. १४ सत्यमिति, यस्मिन्निति-घनोन्नतत्वादिविशिष्टे मेघ-विशेषलक्षणवृष्टिकारणे इत्यर्थः ।

पृ. २३पं १४ सामर्थ्याप्रतिबन्धः-वृष्टिलक्षणकार्यजननसामर्थ्यस्य न केनचित्प्रतिकूलप्रबलवाय्वभिघातादिलक्षणप्रतिबन्धकेन प्रतिबन्धः ।

पृ. २३ पं. १४ कारणान्तरसाकल्यम्-वृष्टिकारणानुकूलवाय्वादिसम-वधानम् ।

पृ. २३ पं. १५ निश्चेतुं शक्यते-वृष्टिप्रतिबन्धकः कोऽपीदानीं नास्ति, वृष्ट्यनुकूलवाय्वादिसमवधानश्चास्मिन्मेघविशेषे वर्त्तते इत्येवं निश्चयो लिङ्गविशेषा-दिना कर्तुं शक्यते ।

पृ. २३ पं. १५ तस्यैव-तादृशमेघविशेषादेव ।

पृ. २३ पं. १५ कारणस्य–वृष्ट्यादिकारणस्य ।

पृ. २३ पं. १५ कार्यानुमापकत्वात्–वृष्ट्यादिकार्यानुमापकत्वात् विधिसाधकं तुरीयं पूर्वचरात्मकविधिरूपहेतुं निरूपयति ।

पृ. २३ पं. १६ कश्चित्पूर्वचर–इति उदाहरति ।

पृ. २३ पं. १६ यथेति, शाकटम्–रोहिणीनक्षत्रम् । उदेष्यतीत्यस्य मुहूर्त्तान्ते उदयं प्राप्स्यतीत्यर्थः । अन्यत्स्पष्टम्, विधिसाधकं पञ्चममुत्तरचरात्मकविधिरूपहेतुं प्ररूपयति ।

पृ. २३ पं. १९ कश्चित् उत्तरचर इति तम्–भरण्युदयम् कार्यकारणयोरव्यवधाने सत्येव कार्यकारणभावः पूर्वचरोत्तरयोस्तु मुहूर्तात्मककालव्यवधानात् न कार्यकारणभावः, इति पूर्वचरस्य न कारणहेतावन्तर्भावः, उत्तरचरस्य च कार्यहेतावन्तर्भाव इत्यनयोः प्रत्येकं पृथगेव हेतुत्वमित्याह ।

पृ. २३ पं. २१ कालव्यवधानेनेति–अनयोः–पूर्वचरोत्तरचरयोः, कार्यकारणाभ्यां भेद इति समासेऽल्पस्वरस्य पूर्वनिपात इति नियमबलादत्र कार्यपदस्य पूर्वमुपादानम् अन्वयस्तु पूर्वचरस्य कारणाद्भेदः, उत्तरचरस्य कार्याद्भेद इति । विधिसाधकं षष्ठं सहचरात्मकविधिस्वरूपहेतुं निरूपयति ।

पृ. २३ पं. २१ कश्चित्सहचर इति, मातुलिङ्गम्–"बिजोरा" इति भाषया लोके प्रसिद्धं फलं, तत्फलमन्धकारावृतेऽन्तर्गृहकोणे उपभुञ्जानःपुमान् मातुलिङ्गं रूपवद्भवितुमर्हति रसवत्तान्यथानुपपत्तेरित्यनुमिनोति तदानीमास्वाद्यमानाद्रसविशेषाद्योग्यमपि तत्रस्थं रूपविशेषमालोकसंयोगाद्यात्मक चाक्षुषप्रत्यक्षकारणाभावादप्रत्यक्षमित्यतोऽनुमिनोति तत्र रसो विधिरूपो हेतूरूपस्य सहचरः, तस्य गमकत्वमुपपादयति ।

पृ. २३ पं. २३ रसो हीत्यादिना–जैनमते पौद्गलिकानां यावतामेव नियमेन रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वमिति ।

पृ. २३ पं. २३ नियमेन रूपसहचरितो–रसः । तदभावे–रूपाभावे । अनुपपद्यमानोऽसम्भवस्थितिकः । तद्गमयति- रूपमनुमापयति रूपरसयोः परस्परस्वरूपपरित्यागेनोपलम्भान्नैक्यमिति न रूपस्वभावत्वं रसस्य,

समानकालीनत्वेनानयोः पौर्वापर्याभावात् पौर्वापर्यनियतकार्यकारणभावोऽपि नेति, स्वभावकार्यकारणेषु सहचरस्य नान्तर्भाव इति पृथगेवायं हेतुरित्याह ।

पृ. २३ पं. २४ परस्परेति, अस्य–सहचरस्य उदाहृतानां हेतूनां भावरूपत्वाद्भावसाधकत्वाच्च विधिसाधकविधिरूपत्वं विधेयेनाविरुद्धतयोपलभ्यमानत्वादेव चाविरुद्धोपलब्धिरूपत्वमन्यत्र गीयत इत्युपसंहरति ।

पृ. २३ पं. २५ एतेषूदाहरणेष्विति, त एव–पूर्वमुदाहृता धूमादिहेतव एव, इति विधिसाधकविधिस्वरूपहेतुषट्प्रकारोपवर्णनम् । अथ प्रतिषेधसाधकविधिस्वरूपहेतून्निरूपयति ।

पृ. २३ पं. २८ द्वितीयस्त्विति–प्रतिषेधसाधकविधिस्वरूपहेतुस्त्वित्यर्थः । प्रथमस्याविरुद्धोपलब्धिसंज्ञकत्वे निगमिते, द्वितीयस्य विरुद्धोपलब्धिसंज्ञकत्वमागतमेव, तथापि स्पष्टप्रतिपत्तये उक्तम्—

पृ. २३ पं. २८ विरुद्धोपलब्धिनामेति–प्रतिषेधसाधकविधिस्वरूपहेतुप्रकारानुपदर्शयति ।

पृ. २३ पं. २८ स चेति–विरुद्धोपलब्धिनामको निषेधसाधको विधिस्वरूप हेतुश्चेत्यर्थः ।

पृ. २३ पं. २८ स्वभावेति–निषेध्यस्वभावविरुद्धोपलब्धिः १ निषेध्यव्याप्यविरुद्धोपलब्धिः २ निषेध्यविरुद्धकार्योपलब्धिः ३ निषेध्यविरुद्धकारणोपलब्धिः ४ निषेध्यविरुद्धपूर्वचरोपलब्धिः ५, निषेध्यविरुद्धोत्तरचरोपलब्धिः ६, निषेध्यविरुद्धसहचरोपलब्धि ७. इत्थं सप्तप्रकारो निषेधसाधको विरुद्धोपलब्धिनामको विधिस्वरूपो हेतुरित्यर्थः । क्रमेण तानुदाहरणतो भावयति ।

पृ. २४ पं. १ यथेति–नास्त्येव सर्वथा एकान्तः अनेकान्तस्योपलम्भादित्यत्र अनेकान्तलक्षणो हेतुः प्रथमः नास्त्यस्य तत्त्वनिश्चयः तत्र सन्देहादित्यत्र तत्त्वविषयकसन्देहलक्षणो हेतुर्द्वितीयः, नास्त्यस्य क्रोधोपशान्तिः वदनविकारादेरित्यत्र वदनविकारादिलक्षणो हेतुस्तृतीयः, नास्त्यस्यासत्यं वचः रागाद्यकलङ्कितज्ञानकलितत्वादित्यत्र रागाद्यकङ्कितज्ञानकलितत्वरूपो हेतुश्चतुर्थः, नोद्गमिष्यति मुहूर्त्तान्ते पुष्यतारा रोहिण्युद्गमादित्यत्र रोहिण्युद्गमात्मकहेतुः पञ्चमः,

नोदगात् मुहूर्त्तात्पूर्वं मृगशिरः पूर्वफल्गुन्युदयादित्यत्र पूर्वफल्गुन्युदयात्मा हेतुः षष्ठः, नास्त्यस्य मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानादित्यत्र सम्यग्ज्ञानस्वरूपो हेतुः सप्तमः, अन्ते इति शब्दः विरुद्धोपलब्धिहेतुप्रकारोपदर्शनपरिसमाप्तौ, क्रमेणोपदर्शितानां विरुद्धोपलब्धिहेतुप्रभेदानां सप्तानामपि हेतूनां क्रमेण प्रतिषेधस्वभावविरुद्धादिरूपतां भावयति ।

पृ. २४ पं. ७ अत्रेत्यादिना...तदनिश्चयेति–तत्त्वानिश्चयेत्यर्थः ।

पृ. २४ पं ९ तदनुपशमेति–क्रोधानुपशमेत्यर्थः । अन्यत्सर्वं स्पष्टम् । इति प्रतिषेधसाधकविरुद्धोपलब्धिविधिस्वरूपहेतुनिरूपणम् ॥

॥ अथ प्रतिषेधरूपहेतुनिरूपणम् ॥

प्रतिषेधस्वरूपहेतुप्रकारमुपदर्शयति ।

पृ. २४ पं. १५ प्रतिषेधरूपोऽपीति–विधिसाधकस्य प्रतिषेधस्वरूपहेतोः प्रकारानुपदर्शयति ।

पृ. २६ पं. १६ आद्य इति–प्रतिषेधरूपहेतोः प्रथमो भेदो विधिसाधकप्रतिषेधरूपहेतुः । यथा विधिस्वरूपहेतोः प्रथमभेदो विधिसाधकोऽविरुद्धोपलब्धिनामा, तस्यैव द्वितीयः भेदः प्रतिषेधसाधको विरुद्धोपलब्धिनामा, तथा प्रतिषेधरूपहेतोरपि प्रथमभेदो विधिसाधको विरुद्धोनुपलब्धिनामा, तस्यैव द्वितीयभेदः प्रतिषेधसाधकोऽविरुद्धानुपलब्धिनामेत्यभिसन्धानेनोक्तम् ।

पृ. २४ पं. १६ विरुद्धानुपब्धिनामेति । विधेयविरुद्धेति–विधेयविरुद्धकार्यानुपलम्भः १; विधेयविरुद्धकारणानुपलम्भः २; विधेयविरुद्धस्वभावानुपलम्भः ३; विधेयविरुद्धव्यापकानुपलम्भः ४; विधेयविरुद्धसहचरानुपलम्भः ५; इत्येवं भेदात् विधिसाधकः प्रतिषेधलक्षणो विरुद्धानुपलब्धिसंज्ञको हेतुः पञ्चप्रकार इत्यर्थः । क्रमेणैषामुदाहरणान्युपदर्शयति ।

पृ. २४ पं. २७ यथेत्यादिना–अस्त्यत्र रोगातिशयो निरोगव्यापारानुपलब्धेरित्यत्र विधेयः साध्यो रोगातिशयः तस्य विरुद्धं नैरुज्यं तस्य कार्यं निरोगपुरुषकर्तृकसोत्साहगमनागमनादिक्रियालक्षणव्यापारस्तस्यानुपलब्धिस्तद-

भावो हेतुरत्र भवति विधेयविरुद्धकार्यानुपलम्भात्मा प्रथमः । विद्यतेऽत्र कष्टं इष्टसंयोगाभावादित्यत्र विधेयं कष्टं दुःखं तद्विरुद्धं सुखं तस्य कारणमिष्टस्य प्रियमित्रादेः संयोगो मिलापस्तस्यानुपलब्धिरभावो, हेतुर्भवति विधेयविरुद्ध-कारणानुपलम्भात्मा द्वितीयः । वस्तुजातमनेकान्तात्मकम् एकान्तस्वभावानुपलम्भादित्यत्रविधेयं अनेकात्मकत्वं तद्विरुद्धस्वभाव एकान्तस्वभावः तस्यानुपलम्भोऽभावो भवति विधेयविरुद्धस्वभावानुपलम्भात्मा तृतीयः । अस्त्यत्र छाया औष्ण्यानुपलब्धेरित्यत्र विधेयीभूता छाया तद्विरुद्ध आतपस्तद्व्यापकमौष्ण्यं तस्यानुपलम्भोऽभावो भवति विधेयविरुद्धव्यापकानुपलम्भात्मा चतुर्थः । अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानम्, सम्यग्दर्शनाननुपलब्धेरित्यत्र विधेयं मिथ्याज्ञानं तस्य विरुद्धं सम्यग्ज्ञानं तत्सहचरं सम्यग्दर्शनं तस्यानुपलम्भोऽभावो भवति विधेय-विरुद्धसहचरानुपलम्भात्मा पञ्चमः ॥ इति विधिसाधकविरुद्धानुपलब्धिसंज्ञक-प्रतिषेधरूपहेतुनिरूपणम् ॥

॥ अथ प्रतिषेधसाधकप्रतिषेधरूपहेतुनिरूपणम् ॥

प्रतिषेधसाधकाविरुद्धानुपलब्धिसंज्ञकप्रतिषेधरूपहेतुप्रकारान्दर्शयति ।

पृ. २४ पं. २२ द्वितीय इति—प्रतिषेध्याविरुद्धस्वभावानुपलब्धिः १, प्रतिषेध्याविरुद्धव्यापकानुपलब्धिः २; प्रतिषेध्याविरुद्धकार्यानुपब्धिः ३; प्रतिषेध्याविरुद्ध-कारणानुपलब्धिः ४; प्रतिषेध्याविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धिः ५; प्रतिषेध्याविरुद्धोत्तर-चरानुपलब्धिः ६; प्रतिषेध्याविरुद्धसहचरानुपलब्धिः ७; । इत्येवंभेदात्सप्तप्रकार-कोऽविरुद्धानुपलब्धिसंज्ञकः प्रतिषेधसाधकः प्रतिषेधरूपो हेतुरित्यर्थः । उक्तान्प्रकारान्क्रमेणोदाहरति ।

पृ. २४ पं. २३ यथेत्यादिना—नास्त्यत्र कुम्भः उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलब्धेरित्यत्र भूतलादिपुरोवर्तिदेशे घटो निषिध्यते अर्थात् घटा-भावस्साध्यत इति प्रतिषेध्यो घटः तस्याविरुद्धः उपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽर्थात्तच्चा-क्षुषप्रत्यक्षजनकघटतद्व्याप्येतरालोकादिसमवधाने सति प्रत्यक्षयोग्यतापन्नस्त-त्स्वभावः पृथुबुध्नाद्याकारविशिष्टघटस्वरूपं तस्यानुपलम्भो विषयतया तदुपलब्ध्य-भावो भवति प्रतिषेध्याविरुद्धस्वभावानुपलब्धिलक्षणः प्रथमः । नास्त्यत्र पनसः पादपानुपलब्धेरित्यत्र पनसाभावस्य साध्यत्वेन प्रतिषेध्यः, पनसो वृक्षविशेषस्त-

स्याविरुद्धो व्यापको वृक्षः सामान्यस्य विशेषव्यापकता सुप्रतीतैव तस्यानुपलम्भा दुपलब्ध्यभावो भवत्येव प्रतिषेध्याविरुद्धव्यापकानुपलम्भात्मा द्वितीयः। नास्त्यत्राप्रतिहतशक्तिकं बीजम् अङ्कुरानुपलब्धेरित्यत्र अप्रतिहतसामर्थ्ये कारणे सति कार्यमवश्यमेव भवतीति प्रतिसन्धाय अङ्कुरलक्षणकार्यानुपलब्ध्या क्षेत्रविशेषे अप्रतिहतसामर्थ्यकं बीजं निषिध्यते, अर्थात्तादृशबीजाभावस्साध्यत इति प्रतिषेध्यमप्रतिहतशक्तिकं बीजं निषिध्यते, तस्याविरुद्धं कार्यमङ्कुरं तदनुपलब्धिर्भवति प्रतिषेध्याविरुद्धकार्यानुपलब्धिरूपस्तृतीयः। न सन्त्यस्य प्रशमप्रभृतयो भावाः, तत्त्वार्थश्रद्धानाभावादित्यत्र रथ्यापुरुषसमकक्षे पुरुषविशेषे सम्यग्दर्शनकार्याणां प्रशमप्रभृतीनामभावस्साध्य इति प्रशमप्रभृतयो भावाः प्रतिषेध्यास्तेषामविरुद्धं कारणं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनस्तदनुपलम्भस्तदभावो भवति प्रतिषेध्याविरुद्धकारणानुपलब्ध्यात्मा तुरीयः। नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते स्वातिः चित्रोदयादर्शनादित्यत्र चित्रोदयादर्शनहेतुना मुहूर्तानन्तरं भविष्यत्स्वातिनक्षत्रोदयाभावस्साध्यत इति प्रतिषेध्यस्तादृशस्वातिनक्षत्रोदयः तस्याविरुद्धः पूर्वचरश्चित्रानक्षत्रोदयस्तददर्शनं तदभावो भवति, प्रतिषेध्याविरुद्धपूर्वचरानुपलब्ध्यात्मा पञ्चमः। नोद्गमत्पूर्वभद्रपदा मुहूर्तात्पूर्वम् उत्तरभद्रपदोद्गमानवगमादित्यत्र उत्तरभद्रपदोद्गमानवगमेन हेतुना मुहूर्तात्पूर्वम्भूतपूर्वभद्रोद्गमाभावस्साध्यत इति प्रतिषेध्यस्तादृशपूर्वभद्रपदोद्गमस्तस्याविरुद्ध उत्तरचर उत्तरभद्रपदोद्गमस्तदनवगमस्तदभावो भवति प्रतिषेध्याविरुद्धोत्तरचरानुपलब्ध्यात्मा षष्ठः। नास्त्यत्र सम्यग्ज्ञानम्, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेरित्यत्र सम्यग्दर्शनाभावेन हेतुना पुरुषविशेषे सम्यग्ज्ञानाभावस्साध्यते तत्प्रतियोगित्वात्प्रतिषेध्यं सम्यग्ज्ञानं तस्याविरुद्धं सहचरं सम्यग्दर्शनं तदनुपलब्धिस्तदभावो भवति प्रतिषेध्याविरुद्धसहचरानुपलब्ध्यात्मा सप्तमः।

॥ इति प्रतिषेधसाधकाविरुद्धानुपलब्धिसंज्ञकप्रतिषेधहेतुनिरूपणे वृत्तं हेतुनिरूपणम् ॥ इतिहेतुनिरूपणम् ॥

॥ अथ हेत्वाभासनिरूपणम् ॥

हेतुनिरूपणमुपसंहरन् तद्भिन्नत्वाद्धेत्वाभासनिरूपणमपि विधेयमित्याह।

पृ. २५ पं. २ सोऽयमिति अतः हेतुतः अन्यो–भिन्नः।

पृ. २५ पं. ३ हेत्वाभासः-हेतुवदाभासत इतिहेत्वाभासो दुष्टहेतुरिति यावत्, तल्लक्षणन्त्वनुमितितत्करणान्यतरप्रतिबन्धकज्ञानविषयवत्त्वम्, अत्रोक्तज्ञानविषयत्वं हेतुदोषस्य लक्षणमिति नैयायिका वदन्ति । स्वमते सद्धेतुभिन्नहेतुत्वमेव दुष्टहेतोर्लक्षणं । परोक्तलक्षणस्य दुष्टपक्षदुष्टसाध्येऽपि सत्त्वेनातिव्याप्तिग्रस्तत्वादतोऽतोऽन्यो हेत्वाभास इत्युक्तम्, हेत्वाभासं विभजते ।

पृ. २५ पं. ५ स त्रेधा-असिद्धविरुद्धानैकान्तिकभेदाद्धेत्वाभासस्त्रिप्रकार इत्यर्थः । प्रथमोद्दिष्टमसिद्धहेत्वाभासं निरूपयति ।

पृ. २५ पं. ५ तत्रेति-असिद्धविरुद्धानैकान्तिकहेत्वाभासेषु मध्य इत्यर्थः । अप्रतीयमानस्वरूपो हेतुरिति लक्षणं असिद्ध इति लक्ष्यम्, असिद्धत्वेनाभिमतस्य हेतोस्वरूपाप्रतीतौ कारणान्युपदर्शयति ।

पृ. २५ पं. ६ स्वरूपाप्रतीतिश्चेति-चाकारः कस्यचित्प्रमातुः हेतुस्वरूपा प्रतीतिस्तदज्ञानाद्भवति,कस्यचित्तु हेतुस्वरूपे ।

पृ. २५ पं. ६ सन्देहात्ः-कस्यचित्पुनः विपर्ययात् इति पुरुषभेदेन कारण भेदज्ञापनार्थम् ।

पृ. २५ पं. ७ स इति-उभयासिद्धान्यतरासिद्धभेदेन असिद्धलक्षणो हेत्वाभासो द्विप्रकार इत्यर्थः । यो हेतुः वादिप्रतिवादिभ्यामुभयाभ्यामपि पक्षे धर्मिणि नैव सिद्धोऽपि तु तदभाव एव पक्षे वादिप्रतिवादिभ्यामनुमतः स उभयासिद्धोऽसिद्धस्य प्रथमो भेदस्तमुदाहरति ।

पृ. २५ पं. ७ आद्यो यथेति-यदि शब्दः परिणामी चाक्षुषत्वादित्यनुमानं जैनो नैयायिकम्प्रति विदधीत, तदा वादिना जैनेन प्रतिवादिना नैयायिकेन च शब्दे चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्वं लक्षणं चाक्षुषत्वं न सिद्धं, द्वाभ्यामपि ताभ्यां शब्दे श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्वलक्षणश्रावणत्वाभ्युपगत्या चाक्षुषत्वाभावस्यैवोपेतत्वादित्यर्थः । वादिनः प्रतिवादिनो वा यो हेतुः पक्षे न सिद्धोऽपि तु तदभाव एव वादिप्रतिवाद्यन्यतराभीष्टस्स हेतुरन्यतरासिद्धस्तमुदाहरति ।

पृ. २५ पं. ८ द्वितीयो यथेति-यदि जैनम्प्रति बौद्धस्तरुषु चैतन्याभावसाधनाय विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वं हेतुं प्रयुञ्जीत, सोऽस्य हेतुः

तरूणां विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणमभ्युपगच्छतः प्रतिवादिनो जैनस्य न सिद्ध इति प्रतिवाद्यसिद्धोऽयमचेतनास्तरवो विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वादित्यत्रोपात्तो हेतुरित्यर्थः। अचेतनाः सुखादय उत्पत्तिमत्त्वादित्येवं जैनम्प्रति साङ्ख्यो यद्यनुमानप्रयोगं रचयेत्तदा साङ्ख्यस्यैकान्तसत्कार्यवादिनः उत्पत्तिमत्त्वं क्वचिदपि न सिद्धमिति सुखादिषु धर्मिष्वपि तत्तस्य असिद्धमेवेति वाद्यसिद्धत्वादन्यतरासिद्धोऽयं हेतुरित्यर्थः। अन्यतरासिद्धस्य हेत्वाभासत्वमसहमानः कश्चित्प्रश्नयति।

पृ. २५ पं. ११ **नन्विति**–अन्यतरासिद्धस्य हेत्वाभासत्वाभावं भावयति।

पृ. २५ पं. ११ **तथाहि**—इत्यादिना परेण प्रतिवादिना असिद्ध इत्युद्भाविते यदि त्वया प्रयुक्तोऽयं हेतुर्न प्रमाणेन प्रकृतधर्मिणि सिद्ध इत्येवमभिहिते सति।

पृ. २५ पं. १२ **वादी न तत्साधकं प्रमाणमाचक्षीत**–अनुमानप्रयोक्ता प्रकृतधर्मिणि स्वप्रयुक्तहेतुसाधकं किमपि प्रमाणं न ब्रूयात्।

पृ. २५ पं. १३ **प्रमाणाभावादुभयोरप्यसिद्धः**–प्रतिवादी तत्र प्रमाणमपश्यन्नेवासिद्ध इत्यभिहितवानिति प्रतिवादिनः प्रमाणाभावादेवासिद्धः, कथायां प्रयुक्तमेव प्रमाणम्प्रमाणताम्भजते, प्रयुक्तमिति सदपि प्रमाणमप्रयुक्तत्वान्न तत्र प्रमाणमिति वादिनोऽपि प्रमाणाभाव इति प्रमाणाभावाद्वादिप्रतिवादिनोरुभयोरप्यसिद्धो, नत्वेकस्यैवेति।

पृ. २५ पं. १३ **अथाचक्षीत**–प्रतिवादिना तवायमसिद्धो हेतुरित्युद्भाविते यदि वादी स्वोपन्यस्तहेतौ प्रमाणं ब्रूयात्, एवं सति यत्प्रमाणं तत्सर्वस्यापि प्रमाणम्भवत्येव नत्वेकस्य तत्प्रमाणमन्यस्य तु न प्रमाणन्न हि प्रमाणस्य प्रामाण्याप्रामाण्ये आपेक्षिके सम्भवत इति यद्वादिनोक्तं प्रमाणं, तत्प्रतिवादिनोऽपि प्रमाणमेवेति तत्सिद्धमुभयसिद्धमेवेति नैवमप्यत्रान्यतरासिद्धत्वस्यावकाश इत्याह।

पृ. २५ पं. १३ **तदा इति**–प्रमाणोपदर्शनानन्तरम्भवतूभयसिद्धम्। ततः प्राक् प्रमाणेनाप्रसाधितं तन्न प्रतिवादिनोऽभ्युपगमविषय इत्येतावता तम्प्रत्यसिद्धत्वादन्यतरासिद्धस्तदात्मको हेतुरुच्यत इत्याशङ्कते।

पृ. २५ पं. १४ अथेति–परं–प्रतिवादिनम्–प्रति–तम्प्रति–प्रतिवादिनम्प्रति समाधत्ते ।

पृ. २५ पं. १५ गौणमिति–तर्हि गौणमसिद्धत्वमित्यन्वयः । गौणत्वमेव निदर्शनोपन्यासेन द्रढयति ।

पृ. २५. पं. १६ नहि–अस्य तदाभास इत्यनेनान्वयः, यथा तत्त्वतो यदा रत्नादिर्न प्रतीयते तत्परीक्षकाभावात् तदानीमपि परमार्थतो रत्नाभासस्स न भवति किन्तु तदानीं परीक्षाऽविदग्धैः वस्तुतो रत्नरूपोऽपि सन् रत्नाभास इति व्यवह्रियते, गौणमेव, तस्य रत्नाभासत्वं, तथा वस्तुतः प्रमाणविषयस्य प्रमाणोपन्यासात्पूर्वं प्रतिवादिनः प्रमाणविषयत्वेनाप्रतिभासमानस्यापि हेतोरसिद्धोऽयं हेतुरित्येवंव्यवहारेण गौणमेवासिद्धत्वं तद्बलान्न मुख्यो हेत्वाभासोऽयं भवितुमर्हतीत्यर्थः किञ्च प्रतिज्ञाविरोधप्रतिज्ञासन्यासप्रतिज्ञान्तरादिनिग्रहस्थानानाम्मध्ये हेत्वाभासस्यापि परिगणनादन्यतरासिद्धरूपहेत्वाभासलक्षणनिग्रहस्थानावाप्तितो वादी निगृहीतस्तत्परिहारार्थं न तत्र प्रमाणोपन्यासं कर्तुमर्हति निग्रहान्तत्वाद्वादस्य, अन्यथा परापरविचारधाराप्रवृत्तितोऽनवस्थानात्कथान्तं न कोऽपि गच्छेदिति जयपराजयव्यवस्थैवोच्छिद्येतेत्याह ।

पृ. २५ पं. १७ किञ्चेति–न चेत्यस्य युक्तमित्यनेनान्वयः ।

पृ. २५ पं. १९ नापि–इत्यस्य युक्तमित्यनेनान्वयः । अन्यत्स्पष्टम् ।

पृ. २५ पं. २० अत्रोच्यत इति–उक्तान्यतरासिद्धहेत्वाभासानुपपत्तिशङ्कायां प्रतिविधानमभिधीयत इत्यर्थः ।

पृ. २५ पं. २० सम्यग्घेतुत्वम्–स्वोपन्यस्तहेतोस्सद्धेतुत्वम् ।

पृ. २५ पं. २० प्रतिपद्यमानोऽपि–जानन्नपि, एतावता न तस्य वाद्यसिद्धत्वमाविष्कृतम्, तर्हि येन प्रमाणेन स्वयं तं स्वीकरोति तत्प्रमाणोपदर्शनेन परमपि तं स्वीकारयिष्यतीति प्रतिवादिसिद्धोऽप्ययमत आह ।

पृ. २५ पं. २१ तस्समर्थनेति–तत्साधकन्याय्यः पूर्वमनुभवपथमासीदेव,

परमिदानीं सभाक्षोभादिना न स्मृतिपथमुपैति, सन्नपि संस्कारो नोद्बोधमुपयातीत्यतस्तत्समर्थनन्यायविस्मरणादिलक्षणकारणेन, प्रतिवादिनं स्वपक्षविरुद्धपक्षस्थापकतया स्वप्रतिमल्लम् ।

पृ. २५ पं. २२ प्राश्निकान्–वादिप्रतिवादिसिद्धान्तरहस्यज्ञान् मध्यस्थान् वा, प्रतिबोधयितुम् इदं मद्धेतुसिद्धिसमर्थं प्रमाणमिति ज्ञापयितुं ।

पृ. २५ पं. २२ न शक्नोति–न शक्तिमाबिभ्राति, एवं सति स्वहेतोरसिद्धतामेव स्वीकरोति, कथमेवं स्यात्स्वहेतोः सद्धेतुतां जानन्नयमप्रतिभामात्रेण प्रतिपन्नस्य तस्यासिद्धतां कथं नाम स्वीकरोत्विति ।

पृ. २५ पं. २२ असिद्धतामपि नानुमन्यते–एवञ्च न वादिसिद्धत्वान्न वाद्यसिद्धोऽयं, प्रतिवादी तु स्वयं स्वपक्षप्रतिपक्षसाधकं तं न स्वीकरोत्येव । वादिनाऽपि तत्साधकप्रमाणानुपन्यासान्न तथाप्रतिबोधित इति वादीत्वोपन्यस्तहेतोस्तदानीमन्यतरासिद्धत्वेनैव ।

पृ. २५ पं. १३ निगृह्यते–निग्रहस्थानमापन्नत्वान्निगृहीतो भवति, प्रकारान्तरेणापि अन्यतरासिद्धत्वत्वमुपपादयति ।

पृ. २५ पं. १३ तथेति–स्वयमनभ्युपगतोऽपि–स्वाभ्युपगमविषयोऽपि एतावता वाद्यसिद्धतां प्रकटीकृतम्, तर्हि कथमित्थं जानन्नप्यसिद्धेनैव हेतुना परम्प्रति साध्यं साधयितुं प्रवृत्त इत्याकाङ्क्षायामाह ।

पृ. २५ पं. २४ परस्येति–भवतु ममासिद्धोऽयं परस्तु यदि स्वसिद्धत्वतोऽस्मसिद्धत्वमेवाज्ञानादयं धारयेत्ततश्चासिद्धिनोद्भावयेत्, नहि सिद्धं नः । समीहितमिति परस्य सिद्धोऽयमित्येतावन्मात्रेण वादिनोपन्यस्तो हेतुरन्यतरासिद्धो निग्रहाधिकरणं निग्रहस्थानं भवतीतिशेषः । एतदुदाहरति ।

पृ. २५ पं. २५ यथेति–सुखादयोऽचेतना उत्पत्तिमत्त्वादित्यत्रोत्पत्तिमत्वलक्षणो हेतुः प्रतिवादिनो जैनस्य सिद्ध एव सुखादीनामुत्पत्तिमत्त्वस्य जैनेनाभ्युपगमात्, किन्तु सत्कार्यमभ्युपगच्छतो वादिनः कुत्राप्युत्पत्तिमत्त्वं न सिद्धं दृष्टान्तेऽपि घटे तदसिद्धमेवेति भवति तदन्यतरासिद्धमिति ॥ इति असिद्धाख्यहेत्वाभासनिरूपणम् ॥

॥ अथ विरुद्धहेत्वाभासनिरूपणम् ॥

विरुद्धं लक्षयति ।

पृ. २५ पं. २८ साध्येति–अत्र विरुद्ध इति लक्ष्यं साध्यविपरीतव्याप्त इति लक्षणम्, साध्याभावव्याप्यो हेतुर्विरुद्ध इत्यर्थ । उदाहरति ।

पृ. २५ पं. २८ यथेति–शब्दो धर्मी अपरिणामित्वं साध्यं कृतकत्वं हेतुः तत्र विरुद्धलक्षणं सङ्गमयति ।

पृ. २६ पं. १ कृतकत्वमितिः–अपरिणामित्वं परिणामित्वाभावः तस्य स्वप्रतियोगिना परिणामित्वेन समं परस्पराभावरूपत्वलक्षणप्रतिषेध्यप्रतिषेधकभावो विरोधः, अभावाभावस्य प्रतियोगिरूपत्वेनापरिणामित्वाभावस्य परिणामित्वस्य व्याप्तत्वात्कृतकत्वं विरुद्धमित्यर्थः ।

॥ अथ अनैकान्तिकहेत्वाभासनिरूपणम् ॥

अनैकान्तिकहेत्वाभासं निरूपयति । यस्येति अत्र–अनैकान्तिक इति लक्ष्यं, यस्यान्यथानुपपत्तिस्सन्दिह्यते स इति लक्षणम्, अनिर्णीतसाध्यान्यथानुपपत्तिको हेतुरनैकान्तिक इत्यर्थः । अस्यैव सव्यभिचार इति नामान्तरम्, यस्मिन्हेतौ साध्याभाववृत्तित्वं सन्दिह्यते तदानीं तत्र साध्यं विनाऽनुपपत्तिनिर्णयो न विद्यते, साध्यान्यथानुपपत्तेर्हेतौ निर्णये साध्याभाववद्वृत्तित्वाभावरूपाव्यभिचारनिर्णयरूपप्रतिबन्धकसत्त्वात्साध्याभाववद्वृत्तित्वसंदेहासम्भवात्, यत्र च हेतौ साध्याभाववद्वृत्तित्वस्य निर्णयो यदा विद्यते तदानीं तद्रूपप्रतिबन्धकसत्त्वात्साध्याभाववद्वृत्तित्वात्मकाऽव्यभिचारलक्षणान्यथानुपपत्तेर्निर्णयासम्भवादुभयत्रेदं लक्षणं समनुगतमिति ।

पं. २६ पृ. ४ स इति–अनैकान्तिकहेत्वाभासो निर्णीतविपक्षवृत्तिकसन्दिग्धविपक्षवृत्तिकभेदाभ्यां द्विप्रकार इत्यर्थः । यस्य हेतोः विपक्षे साध्याभाववति धर्मिणि वृत्तिर्निर्णीता स निर्णीतविपक्षवृत्तिकः यस्य तु साध्याभाववति विपक्षे वृत्तिः सन्दिग्धा स सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकः । तत्र प्रथममुदाहरति ।

पं. २६ पं. ५ आद्य इति–शब्दे धर्मिणि प्रमेयत्वेन हेतुना नित्यत्वसाध्यस्य साधने प्रमेयत्वहेतुर्निर्णीतविपक्षवृत्तिक इत्यर्थः। लक्षणं सङ्गमयति।

पृ. २६ पं. ६ अत्रेति–नित्यः शब्दः प्रमेयत्वादिति स्थल इत्यर्थः। निश्चितसाध्यवान् धर्मी सपक्ष इति व्योम्नि नित्यत्वलक्षणसाध्यस्य निश्चयात्सपक्षे प्रमेयत्वस्य वृत्तिर्यथा निश्चिता तथा निश्चितसाध्याभाववान्धर्मी विपक्ष इति घटादौ धर्मिणि नित्यत्वात्मकसाध्याभावरूपानित्यत्वनिर्णयाद्विपक्षे प्रमेयत्वस्य वृत्तिर्निर्णीतेति भवति प्रमेयत्वहेतुर्निर्णीतविपक्षवृत्तिकानैकान्तिक इत्यर्थः। सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकानैकान्तिकमुदाहरति।

पृ. २६ पं. ८ द्वितियो यथेति–जैनेन सर्वज्ञत्वेन रूपेणाभिमते पुरुषधौरेये महावीरे वक्तृत्वेन हेतुना सर्वज्ञत्वाभावलक्षणसाध्यस्य मीमांसकेन साधने वक्तृत्वहेतुस्सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकानैकान्तिक इत्यर्थः। तत्र लक्षणं सङ्गमयति।

पृ. २६ पं. ८ अत्रेति–अभिमतः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वादित्यनुमाने इत्यर्थः। यश्च नैयायिकस्य सोपाधिकत्वेन व्याप्यत्वासिद्धतयाऽभिमतो हेतुः सोऽपि सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकानैकान्तिक एवान्तर्भवतीत्याशयेनाह।

पृ. २६ पं १० एवं चेति–॥ इति अनैकान्तिकहेत्वाभासनिरूपणम् ॥

॥ अथ परवाद्यभिमतहेत्वाभासखण्डनम् ॥

धर्मभूषणेन अप्रयोजकापरनामाऽकिञ्चित्करो हेतुस्सिद्धसाधनबाधितविषयाभ्यां द्विप्रकारो हेत्वाभासोऽधिक उररीकृतस्तन्मतम्प्रतिक्षिपति।

पृ. २६ पं. १३ अकिञ्चित्कराख्य इति तस्य–अकिञ्चित्करस्य प्रतीतेति सिद्धसाधनरूपाकिञ्चित्करस्य प्रतीताख्य–पक्षाभासाभिन्नत्वात्, बाधितविषयरूपाकिञ्चित्करस्य च निराकृताख्यपक्षाभासाभिन्नत्वादतो हेतुदोष एवायं न भवति, कुतस्तमादाय हेत्वाभासस्य चतुर्विधत्वमित्यर्थः। पक्षदोषस्याप्यस्य यत्र पक्षदोषस्तत्रावश्यं हेतुदोष इतिनियममुररीकृत्य हेत्वाभासत्वाभ्युपगमे साध्यविकल–हेतुविकल–साध्यसाधनोभयविकल – दृष्टान्तलक्षणसाधर्म्यदृष्टान्तदोषाणां साध्याभावविकल–साधनाभावविकल–साध्याभावसाधनाभावोभयविकल––दृष्टान्त

लक्षणवैधर्म्यदृष्टान्तदोषाणामपि सद्भावेन यत्र दृष्टान्तदोषस्तत्रावश्यं हेतुदोष इति नियममुररीकृत्य तादृशदोषाणामपि हेत्वाभासतयाऽभिधानं कर्त्तव्यं स्यादित्याह ।

पृ. २६ पं. १५ न चेति–अस्य वाच्य इत्यन्तरंसम्बन्धः । अकिञ्चित्कराख्यदोषस्य हेत्वाभासत्वखण्डनेन नैयायिकाभिमतस्य कालात्ययापदिष्टाख्यहेत्वाभासस्य हेत्वाभासत्वमपहस्तितम्भवतीत्याह ।

पृ. २६ पं. १६ एतेनेति–अस्य प्रयुक्त इत्यनेनान्वयः ।

पृ. २६ पं. १७ प्रयुक्त–निरस्तः पक्षे साध्यसन्देहकाल एव साध्यसाधनकालस्तदत्ययस्तदतिक्रमः पक्षे साध्याभावप्रमाकाले साध्यसाधनं तस्मिन्काले बाधितसाध्यसाधनायापदिष्टः प्रयुक्तो हेतुः कालत्ययापदिष्ट इत्यनेन बाधितविषय एव उक्तो भवति तस्य निराकृतपक्षाभासभिन्नत्वेन हेत्वाभासत्वासम्भवादित्यर्थः । प्रकरणसमापरनामकं सप्रतिपक्षस्यापि असिद्धानैकान्तिकविरुद्धबाधितभिन्नतया हेत्वाभासपञ्चमभेदत्वं नैयायिका अभ्युपगच्छति तदपि न सम्यग्, तत्रापि साध्यसाधनयोरन्यथानुपपत्तिलक्षणाविनाभावानिश्चयेनासिद्धत्वस्यैव सम्भवादित्याह ।

पृ. २६ पं. १७ प्रकरणसमोऽपि नातिरिच्यते–उक्तत्रिविधहेत्वाभासान्न भिद्यते, अत्रैव हेतुमाह ।

पृ. २६ पं. १८ तुल्यबयसाध्यः–यद्यपि परस्परविरुद्धसाधकयो स्थापनाप्रतिस्थापनाहेत्वोरेकस्यावश्यमेव पराभिमतव्याप्तिपक्षधर्मतावत्त्वलक्षणस्याभावस्तथापि तत्काले वादिप्रतिवादिभ्यां स्वपक्षप्रतिपक्षहेतौ तन्न जानाति तज्ज्ञाने तमेव नोद्भावयेदिति वस्तुतस्तुल्यबलत्वाभावेऽपि तुल्यबलतया ज्ञातेत्यर्थः ।

पृ. २६ पं. १८ तद्विपर्ययेति–न स्वसाध्यविरुद्धसाध्याभावलक्षणसाध्येत्यर्थः

पृ. २६ पं. १९ अस्मिन्–प्रकरणसमे ॥ इति अनुमानप्रमाणनिरूपणम् ।

॥ अथ आगमप्रमाणनिरूपणम् ॥

आगमप्रमाणं निरूपयति ।

पृ. २६ पं. २२ आप्त इति–अत्र आगम इति लक्ष्यनिर्देशः, आप्तवचना-

दाविर्भूतमर्थसंवेदनामिति लक्षणनिर्देशः । नैयायिकैः शब्दलक्षणागमस्य प्रामाण्यं परिकल्पितं तच्चायुक्तं जडस्य तस्य ज्ञानत्वाभावेन ज्ञानविशेषत्वात्मकप्रमाणत्वस्याप्ययोगादितिलक्षणेअ र्थसंदनमित्युक्तं, अग्न्यादिशब्दोच्चारणे मुखदाहादिप्रसङ्गान्न शब्दार्थयोस्तादात्म्यलक्षणसम्बन्धः, सुवर्णद्रव्यादिशब्दोच्चारणमात्रत एव सुवर्णादिधनलाभसिद्धेः न कोऽपि जगति दरिद्रः स्यान्नवा तत्प्राप्तये राजसेवावाणिज्याद्यायासेनात्मानमायासयेदिति तदुत्पत्तिलक्षणोऽपि न तयोस्सम्बन्धः, तदुभयभिन्नस्तु सम्बन्धो नार्थप्रतिबन्धनिबन्धनं, तत एव न सङ्केतात्मासम्बन्धोऽपि नैयायिकपरिकल्पितो युक्तः, तस्य सम्बन्धत्वे यथाऽयं शब्दोऽमुमर्थं बोधयत्विति सङ्केतकक्षणाच्छब्दोऽर्थस्य वाचकश्शब्दवाच्यस्त्वर्थः । तथाऽयमर्थोऽमुं शब्दं बोधयत्विति सङ्केतकरणस्यापि सम्भवेनार्थश्शब्दस्य वाचकश्शब्दोऽर्थस्य वाच्य इति वाच्यवाचकपरिवर्त्तनमपि भवेत्, एवं शब्दार्थलक्षणयोः क्षणभङ्गुरत्वात्तत्सन्तानयोश्चावास्तविकत्वाद्यः शब्दो यदोत्पन्नस्तदनन्तरमेव विनश्यति नार्थकालमनुधावति, अर्थोऽपि स्वोत्पत्त्यनन्तरमेव विनश्यति न शब्दोत्पत्तिकालं यावत्तिष्ठतीति विभिन्नकालीनयोस्तयोर्न सङ्केतः कर्त्तुं शक्यः, समानकालीनयोरपि न तत्स्वरूपमविज्ञायैव तत्र सङ्केतकरणमिति तत्स्वरूपज्ञानावश्यकत्वे ज्ञानकाले तदुभयोरपि विनाशान्निराधारसङ्केतकरणासम्भवान्न सङ्केतः कर्त्तुं शक्यः । सर्वस्यार्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वतः क्षणिकतयैव व्यवस्थितेः नित्यानुगतैकस्वरूपसामान्यस्याभावादेव तत्र सङ्केतकरणासम्भव इति शब्दार्थयोस्सम्बन्धाभावान्न शब्दोऽर्थबोधञ्जनयति किन्तु विकल्पात्स्वयं जायते विकल्पञ्चोत्पादयति, तदुक्तं—

> विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पा शब्दयोनयः ।
> कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशयन्त्यपि ॥ १ ॥

इति बोद्धमतापाकरणायोक्तमर्थसंवेदनमिति, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वस्यैकान्तक्षणिके तथैकान्तनित्ये चासम्भवात्कथञ्चित्क्षणिकाक्षणिकरूप एव शब्दोऽर्थश्च, तयोरुक्तयुक्त्या तादात्म्यतदुत्पत्त्योरसम्भवेऽपि वाच्यवाचकभावलक्षणस्ताभ्यां कथञ्चिदभिन्नः प्रथमं वाच्योत्पत्तौ वाच्यकालेऽअंशेनोत्पद्यवाचकोत्पत्तिकाले अंशेनोत्पद्यमानस्वभावं प्रथमं वाचकोत्पत्तौ तत्काले अंशेनोत्पद्यवाच्योत्पत्तिकाले अंशेनोत्पदिष्णुस्वभावः सकलशब्दार्थसाधारणोऽपि प्रतिनियतशब्दार्थसङ्केताभिव्यज्यमानस्सम्बन्धोऽस्त्येव, तद्बलेन शब्दार्थसंवेदनं सम्भवत्येवेति न विक-

ल्पयोनित्वं शब्दानां विकल्पानां वा न शब्दयोनित्वमित्याशयः। ननु शब्दस्यैव लोके आगमतया प्रसिद्धेः कथमस्यागमत्वमित्यत उक्तमाप्तवचनादाविर्भूतमिति, आप्तवचनस्यागमत्वात्तत उत्पन्नेऽर्थसंवेदने कार्ये कारणोपचारमाश्रित्यागमोक्तिरविरुद्धा अत एवार्थसंवेदनस्य प्रमाणत्वात्तत्कारणे शब्दे कार्योपचारमाश्रित्यात्राप्तवचनं प्रमाणमिति व्यवहार उपपद्यत इति बोध्यम् । विप्रतारकाद्यनाप्तवचनसम्भूतार्थसंवेदनस्यागमप्रामाण्यं मा प्रसाङ्क्षीदित्येतदर्थमाप्तेति विशेषणं, अनेन च विशेषणेन पुरुषाणां भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवादिदोषस्यावश्यम्भावाद्वेदस्य पुरुषप्रणीतत्वे कारणदोषनिबन्धनदोषसम्भवतः प्रमाण्यन्नस्यादित्यपौरुषेयो वेदः प्रमाणमिति मीमांसकमतस्य निरासः कृतो वेदितव्यः । अपगताशेषरागादिदोषस्य तीर्थकरादेः पुरुषविशेषस्याप्तस्य सम्भवेन तद्वचनस्य निर्दुष्टस्य यथार्थसंवेदनकारणस्य सम्भवात्प्रतिनियतताल्वादिस्थानकस्य पौद्गलिकत्वाकारादिवर्णस्यैवानित्यत्वेन तदातदानुपूर्वीविशेषवतां पदानां तत्समुदायात्मकवाक्यसन्दर्भविशेषरूपस्य वेदस्यानित्यत्वस्यैव प्राप्तेरपौरुषेयत्वासम्भवात् । उत्पन्नो वर्णो विनष्टो वर्ण इत्यादिप्रतीतिबाधात्सोऽयं इत्यादिप्रत्यभिज्ञानैकान्ताभेदालम्बना किन्तु साजात्यावलम्बनेवेति नन्वेते पदार्था मिथः संसर्गवन्तः आकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वात् दण्डेन गामभ्याजेतेतिवाक्योपस्थापितपदार्थकदम्बकवदिति एतानि पदानि तात्पर्यविषयपदार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकाणि आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बत्वाद्गामानयेत्यादिपदकम्बवदिति वाऽनुमानस्यात्र सम्भव इत्यनुमानप्रमाण एवान्तर्भाव आगमप्रमाणस्येति वैशेषिकमतमाशङ्क्य प्रतिक्षिपति ।

पृ. २६ पं. २२ न चेति–व्याप्तिग्रहणबलाद्यथा धूमादिलिङ्गकानुमानस्योत्पत्तिस्तथा प्रकृते शाब्दस्थलाभिषिक्तानुमानस्येतिव्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्वत आगमस्यानुमानेऽन्तर्भाव इत्याह ।

पृ. २६ पं. २३ व्याप्तिग्रहणबलेनेति अस्य–आगमस्य, अनभ्यासदशायां निरुक्तसाध्यसाधनादिकल्पनातस्तदविनाभावग्राहितर्कप्रमाणतोऽत्रानुमानावतारसम्भवेऽप्यभ्यासदशायां निरुक्तसाध्यसाधनाविनाभावप्रतिसन्धानंविनाऽपि शब्दाद्विशिष्टार्थबोधस्य वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धग्रहणबलादर्थोपस्थितिद्वारा जायमानत्वेनानुमानादस्य पार्थक्यादिति प्रतिक्षेपहेतुपन्यस्यति ।

पृ. २६ पं. २६ कूटेति–कूटं मिथ्या, तद्भिन्नमकूटं सत्यम् । कार्षापणम्–षोडशपणमूल्यकं राजतमुद्राविशेषः पूर्वमिदं सत्यं कार्षापणमिदं मिथ्याकार्षापणमिति तद्दर्शनमात्रान्न प्रत्यक्षतोऽवधारयति पुरुषस्तदानीं तज्ज्ञानं लिङ्गविशेषेण कार्षापणाविनाभूतेन यद्यपि तस्य भवति, परमभ्यासदशायामिदं सत्यमिदं मिथ्याकार्षापणमितिप्रत्यक्षात्मकज्ञानमविनाभूतलिङ्गविशेषग्रहणमन्तरेणैव जायते तद्वच्छब्दादप्यर्थबोधोऽभ्यासदशायां जायते इति व्याप्तिग्रहनैरपेक्ष्येणैवार्थबोधकत्वादागमस्यानुमानात्पार्थक्यमित्यर्थः । आप्तः कः तद्वचनं किमित्यपेक्षायामाह ।

पृ. २६ पं. २५ यथास्थितेति–योऽर्थो यद्रूपेण व्यवस्थितस्तमर्थं तद्रूपेणैव ज्ञात्वा य उपदिशति तथोपदेशे प्रवीणस्समर्थस्स आप्त इत्यर्थः ।

पृ. २६ पं. २५ तद्वचनम्–आप्तवचनम्, वर्णस्याकाशगुणत्वं नैयायिक आह नित्यव्यापकद्रव्यरूपत्वं मीमांसकस्स्वीकरोति, आहङ्कारिकत्वं साङ्ख्यो वक्ति तदेतद्विभिन्नवादिमतनिरासायाह । वर्णोऽकारादिः पौद्गलिकं, प्रतिहन्यमानत्ववायुना नीयमानत्वद्वारतोऽनुगमनादिना पौद्गलिकत्वं वर्णानां सुव्यवस्थितम्, एकस्याप्यकारोकारमकारादेर्विष्णुशङ्करब्रह्मादौ सङ्केतितत्वेन तत्तदर्थवाचकत्वेन यदस स्यम्बन्धादेकस्मिन्नानुपूर्वीविशेषाभावादानुपूर्वीविशेषमद्वर्णत्वस्य पदलक्षणत्वं परित्यज्य सङ्केतवत्त्वं पदत्वमित्येव स्वीकर्त्तव्यमित्याशयेनाह ।

पृ. २६ पं. २७ पदं सङ्केतवदिति–अस्मात्पदादयमर्थो बोधव्य इति इदम्पदममुमर्थं बोधयत्वितिवेच्छा सङ्केतः नत्वीश्वरीयत्वमपि तत्र निवेशनीयं गौरवात् ईश्वरानङ्गीकर्तृमतेऽपि पदस्य सङ्केतसम्भवात् आधुनिकसङ्केतितेऽपि पदत्वव्यवहाराच्चेति बोध्यम् । साकाङ्क्षपदसमुदायस्यैव वाक्यत्वं नतु निराकाङ्क्षपदसमूहस्य विशिष्टार्थानवबोधकस्य वाक्यत्वं युक्तमित्याशयेन वाक्यलक्षणमुपदर्शयति ।

पृ. २६ पं. २७ अन्योन्येति–क्रियापदं कर्मबोधकपदमाकाङ्क्षति आनयेत्युक्तं किमित्याकाङ्क्षणात् तथा कर्मपदं क्रियाविशेषबोधमाकाङ्क्षति, गामित्युक्ते किमानय किम्वानयेतिक्रियाविशेषाकाङ्क्षादर्शनादित्येवं सर्वत्र ज्ञेयं तथापि विशिष्टार्थबोधं जनयिष्ये पदानां परस्परमपेक्षाऽस्त्येव, अन्यथैकस्यादपि पदाद्विशिष्टार्थबोध उत्पद्येतेति बोध्यम् ।

॥ अथ आगमप्रमाणस्य सप्तभङ्ग्यनुगमः ॥

आगमस्य सप्तभङ्ग्यनुगमे सत्येव प्रामाण्यं तथा सत्येव परिपूर्णार्थज्ञापकत्वात्, अन्यथापरिपूर्णार्थप्रापकत्वाभावे तात्त्विकप्रामाण्यासम्भवादित्याह।

पृ. २७ पं. १ तदिदमिति सर्वत्र–सत्त्वादिधर्ममात्रोपदर्शने।

पृ. २७ पं. १ विधिप्रतिषेधाभ्याम्–भावो विधिः अभावः प्रतिषेधः, यस्य यत्र विधानं तस्यैव तत्राभावः प्रतिषेधः, यथाऽयं सन्निति पुरोवर्त्तिनि सत्त्वस्य विधानं तत्र पुरोवर्त्तिनि नायं सन्निति सत्त्वस्यैवाभावः, एवं नित्यत्वादेरपि, ताभ्याम्।

पृ. २७ पं. १ स्वार्थम्–स्वप्रतिपाद्यम्।

पृ. २७ पं. १ अभिदधानम्––प्रतिपादयत् सत् आगमप्रमाणमिति सम्बध्यते।

पृ. २७ पं. १ सप्तभङ्गीम्–सप्तानां भङ्गानां समाहारःसप्तभङ्गी ताम् भङ्गाश्च सप्त अग्रे प्रदर्शयिष्यन्ते।

पृ. २७ पं. २ अनुगच्छति–अनुसरति। सप्तभङ्गीरूपतामात्मसात्कुर्वत् सदागमप्रमाणं स्वार्थम्प्रतिपादयतीत्यर्थः। पुरुषविशेषं प्रतिपाद्यमाश्रित्य यत्र स्यादस्त्येव घट इत्याद्येकभङ्गस्योपन्यासस्तत्र प्रतिपाद्यव्युत्पन्नमतिः स्याद्वादसंस्कारमाहात्म्यात्स्वयमेव भङ्गान्तराण्यनुस्मृत्योक्तेनैकभङ्गेन सहानुस्मृतानां भङ्गान्तराणामेकवाक्यतामभिनीय सप्तभङ्गीस्वरूपतापन्नमहावाक्यत एव परिपूर्णमर्थमवगच्छतीत्याह। क्वचिदेकभङ्गदर्शनेऽपि, तदुक्तं महावादिना संम्मतौ "पुरिसज्जातं तु पडुच्च जाणओ पन्नवेज्ज अन्नयरं। परिकम्मणाणिमित्तं ठाएहि सो विसेसं पि" ॥ अस्या गाथाया अयमर्थः–पुरुषजातं प्रतिपन्नद्रव्यपर्यायान्यतरस्वरूपं श्रोतारं प्रतीत्य आश्रित्य ज्ञकः (प्रज्ञापकः) स्याद्वादविद् प्रज्ञापयेदन्यतरदज्ञातम् परिकर्मनिमित्तं अज्ञातांशसंस्कारपाटवार्थं, ततः परिकर्मितमतये स्थापयिष्यत्यसौ स्याद्वादविशेषमपि परस्पराविनिर्भागरूपम् इति यद्यपि नयानधिकृत्यैवं गाथा दर्शिता

तथाप्यर्थेष्वपि तद्विषयेषु योजयितुं शक्यैव, यस्य प्रतिपाद्यस्य स्याद्वादसंस्कारो नास्ति तस्यैकभङ्गोपदर्शनेन परिकर्मितमत्याधानतस्स्याद्वादसंस्कारो भवति तम्प्रति उत्तरकालं त्वेकेन भङ्गान्तरोपदर्शनेऽपि यस्य प्रथमत एव परिकर्मितमतिता तस्य तत उद्बुद्धस्याद्वादसंस्कारबलात्स्वयमेव भङ्गान्तराणामूहनमिति विशेष इति बोध्यम् । यत्र वाक्ये सप्तभङ्गीसंस्पर्शोऽपि नास्ति तत्र लौकिकवाक्ये लोकपेक्षयैव प्रामाण्यन्न तु वस्तुत इत्याह ।

पृ. २७ पं ४ **तत्रार्थप्रापकत्वमात्रेण**–अर्थप्रापकत्वं वाक्ये परम्परया तज्जन्यतद्विषयकज्ञानात्तद्विषयकप्रवृत्तौ तदर्थावाप्तिः अत्र ग्रहे घटोऽस्तीति लौकिकवाक्यादपि गृहवृत्तितया घटविषयकज्ञाने जाते घटगोचरप्रवृत्तौ सत्यां घटरूपार्थप्राप्तिर्भवतीत्यर्थप्रापकत्वन्तावता लोकापेक्षया प्रामाण्यमस्य, लोकैस्तत्र इदं प्रमाणमिति व्यवहारस्य प्रवर्त्तनात्, न च तत्रापि परिपूर्णार्थप्राप्तिरेव भवतीति तद्वाक्यस्यापि परिपूर्णार्थप्रापकत्वमेवेति वास्तविकप्रामाण्यमेवेति साम्प्रतम् काकतालीयन्यायेन परिपूर्णार्थप्राप्तावपि तस्य परिपूर्णार्थप्रापकत्वाभावात् न हि वाक्यं पुरुषं हस्ते गृहीत्वाऽर्थम्प्रापयति किन्तु ज्ञानजननादर्थन्तूपदर्शयत्प्रवर्तकत्वतोऽर्थप्रापकम्भवति, लौकिकवाक्यन्त्वपरिपूर्णमेवार्थं ज्ञापयतीत्यपरिपूर्णार्थप्रापकत्वमेव तस्य । अर्थस्त्वनन्तधर्मात्मको नैकधर्मवानेव लभ्य इत्यतोऽर्थबलात्परिपूर्णार्थलाभो नतु लौकिकवाक्यप्रभवज्ञानादितिहृदयम् ॥

॥ अथ सप्तभङ्गीनिरूपणम् ॥

ननु वयं सप्तभङ्गीमेव नावगच्छामः कथमागमप्रमाणस्य तदनुसारित्वं जानीम इत्याशयेन पृच्छति ।

पृ. २७ पं. ८ **केयमिति**–इयम्–आगमप्रमाणानुगम्यतयाऽनन्तरम् एकत्रेत्यादिलक्षणं सप्तभङ्गीति लक्ष्यम् लक्षणसङ्गमनं त्वेवं घटरूपे एकस्मिन्धर्मिण्यनन्तधर्मात्मके एकैकधर्मस्यास्तित्वादिप्रत्येकधर्मस्य यः पर्यनुयोगः प्रश्नः–घटः किमस्तीत्यादिस्वरूपः तद्वशात् उत्तरार्हे प्रश्ने सति तदुत्तरमवश्यमेवदेयमिति प्रश्नोत्तरयोः पूर्वापरं भावनियमविशेषलक्षणाङ्गाङ्गिभावबलात् ।

पृ. २७ पं. ९ अविरोधेन–स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयाऽस्तित्वं परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया नास्तित्वमित्येवं विरोधपरिहारेण अवच्छेदकभेदेनेति यावत्, व्यस्तयोरन्योन्यासङ्कटितयोः पृथग्भूतयोरिति यावत् ।

पृ. २७ पं ९ समस्तयोश्च–अन्योऽन्यसङ्कटितमूर्त्तिकयोश्च विशेषणविशेष्यभावेनैकविशिष्टधर्मरूपतां प्राप्तयोरिति यावत्, विधिनिषेधयोः भावाभावयोरस्तित्वनास्तित्वयोः कल्पनया अवमर्शेन स्यात्काराङ्कितः स्यादित्येवंस्वरूपपदघटितः, सप्तधा सप्तप्रकारः वाक्यप्रयोगः वाक्याभिलापः सप्तभङ्गी सप्तभङ्गसमाहारः, एवकाराङ्कितत्वमपि ज्ञेयं, तथा च स्यादस्त्येव घटः १, स्यान्नास्त्येव घटः २, स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव च घटः ३, स्यादवक्तव्य एव घटः ४ स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्य एव च घटः ५, स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव च घटः ६, स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव च घटः ७, इति सप्तभङ्गसमुदायात्मकमहावाक्यस्वरूपा सप्तभङ्गीत्यर्थः । कथं सप्तभङ्ग्येव भवति नाष्टभङ्गी नवभङ्ग्यादिकमित्यपेक्षामाह ।

पृ. २७ पं. १० इयं चसप्तभङ्गी वस्तुनि–अनन्तधर्मात्मके घटादिस्वरूपैकैकवस्तुनि–

पृ. २७ पं. ११ प्रतिपर्यायम्–अस्तित्वाद्येकैकधर्ममाश्रित्य, सप्तविधधर्माणां सप्तसङ्ख्यकधर्माणां, यथा घटे अस्तित्वरूपधर्ममाश्रित्य, कथञ्चिदस्तित्व–कथञ्चिन्नास्तित्व––क्रमार्पितकथञ्चिदस्तित्वकथञ्चिन्नास्तित्वयुगपदर्पितकथञ्चिद–स्तित्वकथञ्चिन्नास्तित्वात्मकावक्तव्यत्व–कथञ्चिदस्तित्वे सति कथञ्चिदवक्तव्यत्व-कथञ्चिदस्तित्वे सति कथञ्चिन्नास्तित्वे सति कथञ्चिदवक्तव्यत्वेत्यवं रूपाणां सप्तविधधर्माणाम् ।

पृ. २७ पं. ११ सम्भवात्–एतावतैकधर्ममाश्रित्य निरुक्तसप्तविधधर्मव्यतिरिक्तधर्मासम्भवादष्टविधसंशयजिज्ञासाप्रश्नाद्यसम्भवेन नाष्टभङ्ग्यादिसम्भव इत्यावेदितम् ।

पृ. २७ पं. ११ सप्तविधेति–प्रदर्शितधर्मरूपविषयाणां सप्तविधत्वाच्चद्विषयकाणां संशयानामपि सप्तविधत्वं तेषां सप्तविधत्वाच्चत्कारणिकानां जिज्ञासानां

सप्तविधत्वं तासां सप्तविधत्वात्तन्मूलकानां सप्तविषयकप्रश्नानां सप्तविधत्वं तेषां सप्तविधत्वे तदुत्तररूपाणां भङ्गानामपि सप्तविधत्वमित्युपपद्यतेतरां सप्तभङ्गीत्यर्थः। तत्र प्रथमभङ्गमुपदर्शयति ।

पृ. २७ पं.१२ तत्रेति–तेषु सप्तधावाक्यप्रयोगेष्वित्यर्थः । सर्वत्वेन सर्वं धर्मीकृत्यास्तित्वमेकं धर्ममाश्रित्य भङ्गप्रदर्शने कृते प्रत्येकं घटत्वादिधर्मेण घटादौ धर्मिण्यस्तित्वादिप्रतिपादकभङ्गप्रयोगावगमोऽनायासेनैव प्रतिपाद्यानां सम्भवतीत्यभिप्रायेण सर्वं धर्मीकृत्याद्यभङ्गाकारमुल्लिखति ।

पृ. २७ पं. १३ स्यादस्त्येव सर्वमिति–तद्घटकस्यात्पदार्थं दर्शयति। स्यादिति आख्यातप्रतिरूपकमनेकान्तप्रतिपादकमव्ययं तेन तदर्थः ।

पृ. २७ पं. १४ कथञ्चिदिति–एतदपि सामान्योक्तं नाविरोधसम्भकावच्छेदकभेदप्रतिपत्तिमाधातुमलमित्यभिसन्धायाह ।

पृ. २७ पं. १४ स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयेत्यर्थः–सर्वात्मकधर्म्यन्तरगते घटादिधर्मिण्यस्तित्वं स्वद्रव्याद्यपेक्षया सङ्गमयति ।

पृ. २७ पं. १४ अस्ति हि–इत्यादिना–हि यतः घटादिकं द्रव्यतो यदस्ति तत् पार्थिवादिद्रव्यमाश्रित्य घटस्य मृद्विकारतया पार्थिवत्वेनैवास्तित्वं करकादेर्जलविकारतया जलत्वेनैवास्तित्वं एवमन्येषामपि स्वोपादानभूतद्रव्यरूपेणैवास्तित्वं न तु घटस्य जलात्मना करकादेर्मृदात्मना परद्रव्यरूपेणास्तित्वं तथा सति घटस्यापि जलीयत्वं करकादेरपि पार्थिवत्वमिति सर्वस्य सर्वात्मकत्वम्प्रसज्येतेत्याशयः । पाटलिपुत्रकादिग्रामस्थितस्य घटादेस्तत्तत्क्षेत्रेण सहाधाराधेयभावानुरोधात्कथञ्चित्तत्तत्क्षेत्रेण सह तादात्म्यमभ्युपेयं कथञ्चित्तादात्म्यस्य कथञ्चित्सर्वसम्बन्धव्यापकत्वात् , यतो विशिष्टबुद्धिनियामकत्वं सम्बन्धत्वं, येन च विशिष्टबुद्धिर्न भवति स सम्बन्धएवन भवति, विशिष्टबुद्धिश्च विशिष्टात्मकविषये सत्येव भवितुमर्हति, विशिष्टश्चविषयोविशेषणविशेष्याभ्यां कथञ्चिदभिन्न एव, अतिरिक्तत्वे दण्डविशिष्टपुरुषक्षेत्रविशिष्टपुरुषादीनां विशिष्ट रूपाणां विशेषणविशेषाभ्यां भिन्नत्वाविशेषादन्यस्य विशेषकस्याभावात्परस्परवैलक्षण्यं न भवेदिति तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमितिनियमेन विशेषणाभिन्नविशिष्टस्वरूपाभिन्नस्य विशेषस्य विशेषणाभिन्नत्व-

मिति भवति सम्बन्धमात्रव्यापकं कथञ्चित्तादात्म्यं तथा च पाटलिपुत्रग्रामस्थितस्य घटादेराधाराधेयभावलक्षणसम्बन्धबलात्कथञ्चिदभेदे व्यवस्थिते क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकादित्वेन घटादेरस्तित्वमेवं तत्तद्ग्रामदेशादिस्थितस्य तत्तद्ग्रामदेशादित्वेनास्तित्वं स्वानाधारक्षेत्रकान्यकुब्जादित्वेन तु अस्तित्वं न सम्भवति, तेन रूपेणाप्यस्तित्वे घटादीनां सर्वेषां सर्वदेशव्यापित्वं प्रसज्येतेति प्रतिनियतक्षेत्राधारता भज्येतेति। यस्मिन्काले यद्भवति तस्य तत्कालेन सह जन्यजनकभावलक्षणसम्बन्धविशेषबलाद्विशिष्टबुद्ध्याधानक्षमात्कथञ्चित्तादात्म्यमिति शैशिरादिकालसमुद्भवस्य घटादेश्शैशिरादित्वेनास्तित्वं न तु वासन्तिकादित्वेन, तेन रूपेणाप्यस्तित्वे सर्वस्य घटादेस्सर्वकालात्मनाभावात्सदातनत्वम्प्रसज्येतेति प्रतिनियतकालत्वनिबन्धनकादाचित्कत्वं भज्येतेति पदार्थो घटादिश्श्यामादिभावमापन्नस्तदानीं तस्य श्यामादिभावेन सह सम्बन्धविशेषबलात्कथञ्चित्तादात्म्यमिति श्यामादित्वेन घटादेरस्तित्वं न तु रक्तादित्वेन, तद्रूपेणाप्यस्तित्वे सर्वस्य घटादेस्सर्वस्वभावतापत्तिरिति प्रतिनियतस्वभावताभङ्गात्प्रतिनियतस्वभावनिमित्तकविचित्रप्रतिनियतस्वभावव्यवहारभङ्गस्स्यादिति प्रथमभङ्गनिरूपणम् ॥

॥ अथ द्वितीयभङ्गनिरूपणम् ॥

द्वितीयभङ्गन्निरूपयति ।

पृ. २७ पं. १७ एवमिति—प्रथमभङ्गे अस्तित्वादिविधिरूपधर्मस्य, प्राधान्यविवक्षा तेन नास्तित्वरूपनिषेधधर्मस्य गौणतयैव तत्र प्रतिभासनं न तु प्रथमभङ्गजन्यबोधे निषेधस्य सर्वथाऽप्रतिभासनमेव, तथासत्येकधर्मैकान्तावबोधकत्वेन दुर्नयवाक्यत्वं प्रसज्येतेत्येवंसति तत्समुदायस्वभावमहावाक्यलक्षणसप्तभङ्ग्या अपि प्रमाणवाक्यत्वं न स्यादन्धसमूहस्यान्धत्ववत् इयाँस्तु विशेषः प्रत्येकं भङ्गेषु प्रतिनियतैकैकधर्मप्राधान्यावबोधकत्वेन द्वितीयधर्माद्याकाङ्क्षासद्भावान्निराकाङ्क्षार्थावबोधकत्वं सप्तभङ्ग्यास्तु सत्त्वाद्येकधर्ममाश्रित्य सप्तविधधर्माणामेव सम्भवेन सप्तविधधर्माणामपि प्राधान्यतोऽवबोधकत्वेन निराकाङ्क्षार्थविबोधकत्वमित्येतावतामहावाक्यत्वन्तस्या इति परिपूर्णार्थविबोधकत्वं तस्या यथा सकलादेशमहिम्ना, तथा प्रत्येकभङ्गानामपि, अन्यार्थसम्बन्धिपर्यायाणामपि परपर्यायविषया एकैकार्थपर्यायत्वेन स्वगताशेषस्वपर्यायात्मकधर्माणाञ्च स्वपर्यायविषया तथात्वेन

सर्वांशेषधर्मप्रतिभासनमन्तरेण परिपूर्णार्थविबोधासम्भवात् , तदाश्रित्यैवोच्यते य एकं जानाति स सर्वं जानाति यः सर्वं जानाति स एकं जानातीति एवं "एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः । सर्वे भावास्सर्वथा येन दृष्टा एको भावस्तत्त्वतस्तेन दृष्टः" इत्यपि, तथा "स्याद्वादकेवलज्ञाने सकलार्थविभासने इति च एवञ्च द्वितीयभङ्गेऽपि गौणतया अस्तित्वादिप्रतिभासकत्वमस्ति परं प्राधान्येन निषेधविवक्षयैव स्यान्नास्त्येव सर्वमिति द्वितीयभङ्गः अस्य प्राधान्येन घटादिविशेष्यकनास्तित्वाद्यात्मकनिषेधधर्ममात्रप्रकारकबोधजनकवाक्यत्वं लक्षणं, प्रथमस्य तु प्राधान्येन घटादिविशेष्यकास्तित्वाद्यात्मकविधिधर्ममात्रप्रकारकबोधजनकवाक्यत्वं, विधिनिषेधौ च स्यादर्थकथञ्चिदालिङ्गितावेव तत्र प्रविष्टौ । अत्र कथञ्चिदर्थः परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयेति भावना तु पूर्ववदेव, अत्रासत्त्वं काल्पनिकमिति विषयाभावान्न द्वितीयभङ्गसम्भव इति बौद्धमतमाशङ्क्य प्रतिक्षिपति ।

पृ. २७ पं. १९ न चेति–यथासत्त्वं स्वातन्त्र्येणानुयभूते तथाऽसत्त्वमपीति नासत्त्वस्यापि काल्पनिकत्वं, तस्य काल्पनिकत्वे वा विपक्षासत्त्वस्य कल्पनात्पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वैतद्रूपमेव हेतुरूपम्भवेदिति विपक्षासत्त्वरूपमादाय हेतोस्त्रैरूप्याभिधानं बौद्धस्य व्याहतं स्यादिति प्रतिक्षेपहेतुमुपन्यस्यति ।

पृ. २७ पं. १९ सत्त्ववदिति तस्य–असत्त्वस्य ।

पृ. २७ पं. २० अन्यथा–असत्त्वस्य काल्पनिकत्वाभ्युपगमे ॥ इति द्वितीयभङ्गनिरूपणम् ॥

॥ अथ तृतीयभङ्गनिरूपणम् ॥

तृतीयभङ्गन्निरूपयति ।

पृ २७ पं. २१ स्यादस्त्येवेति–क्रमिकप्रधानभावेन विधिनिषेधोभयविवक्षया स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव सर्वमिति तृतीयो भङ्ग इत्यर्थः, अयमस्य निष्कर्षः–यदा घटस्य स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयाऽस्तित्वं परद्रव्यक्षेत्रकालभावा-

क्षया नास्तित्वश्च क्रमिकप्रधानभावकल्पनास्पदम्भवति तदा क्रमिकप्रधानभावापन्नकथञ्चिदस्तित्वकथञ्चिन्नास्तित्वोभयप्रकारकघटाविशेष्यकबोधजनकवाक्यात्मा तृतीयो भङ्गः, तस्य निरुक्तबोधजनकवाक्यत्वं लक्षणम्, प्रथमभङ्गद्वितीयभङ्गाभ्यां केवलकथञ्चिदस्तित्वप्रकारकबोधस्य केवलकथञ्चिन्नास्तित्वप्रकारकबोधस्य जननं, तृतीयेन एकत्रद्वयमिति न्यायेन यथा चैत्रो दण्डो कुण्डली चेत्यत्र दण्डकुण्डलोभयप्रकारकचैत्रविशेष्यकबोध एक उपजायते तथाप्रकृतेऽपि परस्परविशेषणविशेष्यभावापन्नतया तु विधिनिषेधयोरत्र विवक्षैव नास्ति येन प्रथमद्वितीयभङ्गाभ्यामविशिष्टयोर्विधिनिषेधयोर्बोधोऽनेन तु परस्परविशेषणविशेष्यभावापन्नविधिनिषेधबोध इति वैलक्षण्यमभिधातुं शक्येत, तथाविवक्षायां तु विशेषणस्य गौणत्वं विशेष्यस्य प्राधान्यं विशिष्टनियतं भवेन्न तूभयप्राधान्यम् अभिमतन्तु क्रमिकोभयप्राधान्यम्, इदन्तु स्यादेवं कल्पनायां वस्तुनः प्रतिपर्यायं विधिनिषेधौ द्वावेव धर्मौ, बोधस्तु प्रकारताभेदनिबन्धनः सप्तविध इति तज्जनका भङ्गास्सप्तेति, न चैतन्न्याय्यम्, प्रतिपर्यायं धर्माणां सप्तविधत्वेन सप्तविधसंशयजिज्ञासाप्रश्नमूलकसप्तविधोत्तरवाक्यरूपभङ्गानामिष्टेः उक्ताभ्युपगमे तु तद्विरोधः । किन्तु "भागे सिंहो नरो भागे योंऽशो भागद्वयात्मकः । तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते" इतिवचनान्नरसिंहात्मिकाऽखण्डव्यक्तिर्नरसिंहाभ्यां भिन्नाऽपि ताभ्यामेव विभिन्नभागरूपतया कल्पिताभ्यां निरूप्यमाणा नरसिंहबोधो भासते तथाऽस्तित्वनास्तित्वविलक्षणधर्मविशेषोऽस्ति त्वपर्यायमाश्रित्य घटादिधर्मिणि समस्ति स एव धर्मः क्रमिकप्रधानभावविवक्षितकथञ्चिदस्तित्वनास्तिभ्यां निरूप्यमाणस्तात्पर्यवशात्तृतीयभङ्गजबोधे भासते तादृशधर्मलक्षणविषयभेदत एवाद्यद्वितीयभङ्गाभ्यां तज्जन्यबोधाभ्याञ्च भेदस्तृतीयभङ्गस्य तज्जन्यबोधस्य च, इयमेव नीतिश्च तुर्यादिभङ्गेष्वपीति॥ इति तृतीयभङ्गनिरुपणम् ॥

॥ अथ चतुर्थभङ्गनिरूपणम् ॥

चतुर्थभङ्गन्निरूपयति ।

पृ. २७ पं. २२ स्यादवक्तव्यमेवेति–आद्यास्त्रयः सकला अन्त्याश्चत्वारो विकलादेशा इत्युपगच्छद्भिस्सूरिभिरयं भङ्गः तृतीयतया एतत्स्थाने च स्याद-

स्त्येव स्यान्नास्त्येवेति भङ्गः प्रथ्यते, पूर्वत्र विधिनिषेधयोः क्रमिकप्राधान्यकल्पना अत्र तु तयोर्युगपत्प्राधान्यकल्पनाबीजम् । कथञ्चिदवक्तव्यत्वाख्यधर्ममात्रप्रकारकघटादिविशेष्यकबोधोऽनेन भङ्गेन जन्यते, तत एव चोक्तभङ्गत्रयादस्य भेदः, निरुक्तबोधजनकवाक्यत्वं चतुर्थभङ्गस्य लक्षणम्, विधिनिषेधयोर्युगपत्प्राधान्यविवक्षाया युगपत्प्रधानीभूतविधिनिषेधोभयप्रतिपादकस्यैकस्य कस्यचिद्वचनस्यावक्तव्यशब्दभिन्नस्याभावात्कथञ्चिदवक्तव्यत्वमित्युपपादयति ।

पृ. २७ पं. २४ एकेन पदेन-उभयोः-विधिनिषेधयोः, शतृशानच्सङ्केतितसत्पदाद्यथा शतृशानचोः प्रतीतिस्तथैकेन विधिनिषेधोभयसङ्केतितेन तदुभयप्रतीतिर्भविष्यतीति कथञ्चिद्ब्रूयात्तत्राह ।

पृ. २७ पं. २४ शतृशानचाविति-यद्यपि तदुभयसङ्केतितं सत्पदं तथापि तेन तद्द्वयबोधस्तु क्रमेणैव न तु युगपदेव विधिनिषेधोभयसङ्केतितैकपदविशेषादपि क्रमिकतदुभयबोध एव भवेदित्यर्थः । विधिनिषेधान्यतरत्वेन रूपेण तदुभयसङ्केतितपदाद्युगपत्तदुभयबोधस्तु न प्रत्येकासाधारणास्तित्वनास्तित्वादिरूपेण तादृशरूपेणैव तु युगपत्प्रधानतया विवक्षितौ विधिनिषेधावित्याह ।

पृ. २७ पं. २५ अन्यतरत्वादिना-आदिपदादुभयत्वप्रमेयत्वज्ञेयत्ववाच्यत्वधर्मत्वादेरुपग्रहात् । अन्यत्सुगमम् । अत्र समासवचनं तत्प्रतिपादकं न सम्भवति समासेषु बहुव्रीहेरन्यपदार्थत्वादत्रतूभयप्राधान्यविवक्षणात्, अव्ययीभावस्तु नैतादृशेऽर्थे प्रवर्तते, द्वन्द्वस्तु द्रव्यवृत्तिर्नात्रोपयुज्यते, गुणवृत्तिरपि द्रव्याश्रितगुणप्रतिपादको न प्राधान्येन गुणप्रतिपादनप्रगल्भः । उत्तरपदार्थप्रधानतत्पुरुषस्यापि नात्रावकाशः, सङ्ख्यावाचिपूर्वपदकस्य द्विगोस्तु नेदृशोऽर्थो विषयः, कर्मधारयोऽपि गुणाधारद्रव्यविषयो नात्र क्रमते, समासान्तरन्तु नास्त्येव, वृत्त्यसम्भिन्नार्थकस्य वाक्यस्यापि कस्यचिन्न तथाभूतधर्मद्वयप्रतिपादकत्वमित्यादिकमवक्तव्यत्वोपोद्बलकं बोध्यम् ॥ इति चतुर्थभङ्गनिरूपणम् ॥

॥ अथ पञ्चमभङ्गनिरूपणम् ॥

पञ्चमभङ्गन्निरूपयति ।

पृ. २७ पं. २६ स्यादस्त्येवेति-चतुर्थभङ्गप्रतिपाद्यस्यावक्तव्यत्वस्य

प्रथमभङ्गप्रतिपाद्यास्तित्वेन सहैकधर्मिणि बोधनेच्छया स्वद्रव्यादिनाऽस्तित्वलक्षण-विधेः पृथक्कल्पनया स्वद्रव्यादिनाऽस्तित्वलक्षणविधिपरद्रव्यादिना नास्तित्वलक्षण-निषेधयोः प्राधान्यतो युगपत्कल्पनया चायं भङ्गः प्रवर्त्तते । अस्य कथञ्चिदस्तित्वादिप्रकारककथञ्चिदवक्तव्यत्वप्रकारकघटाद्येकधर्मिविशेष्यकबोधजनकवाक्यत्वं लक्षणम्, सप्तमभङ्गेऽतिव्याप्तिवारणाय कथञ्चिदस्तित्वादिप्रकारकेत्यस्य पृथक् कथञ्चिदस्तित्वादिविधिमात्रप्रकारकेत्येवंपरता विवक्षणीया, सप्तमभङ्गजन्यबोधे च पृथक्कथञ्चिन्नास्तित्वादिनिषेधप्रकारको भवतीति तद्वारणम्, एतावतैव सप्तभङ्गात्मकमहावाक्येऽपि नातिव्याप्तिः तज्जन्यमहावाक्यार्थबोधे पृथक्कथञ्चिन्नास्तित्वादिनिषेधस्यापि प्रकारत्वात् सूक्ष्मविचारणायां च कथञ्चिदस्तित्वसम्वलित कथञ्चिदवक्तव्यत्वोक्त्या पञ्चमं धर्मान्तरमेव बोध्यते तच्चेत्थमेवोल्लिखितुं शक्यते नान्यथेति तत्प्रतिपादकं स्यादस्त्येवस्यादवक्तव्यमेवेति भङ्ग इति, तथाच तथाविधविलक्षणधर्ममात्रप्रकारकबोधजनकवाक्यत्वं लक्षणं पर्यवस्यतीति ॥ इति पञ्चमभङ्गनिरूपणम् ॥

॥ अथ षष्ठभङ्गनिरूपणम् ॥

षष्ठं भङ्गन्निरूपयति ॥

पृ. २८ पं. १ स्यान्नास्त्येवेति–चतुर्थद्वितीयधर्मसम्मेलनोपस्थापितषष्ठधर्मप्रतिपादकतयाऽयं भङ्गः प्रवर्त्तते, अस्य पृथक्कथञ्चिन्नास्तित्वादिनिषेधमात्रप्रकारककथञ्चिदवक्तव्यप्रकारकघटादिधर्मिविशेष्यकबोधजनकवाक्यत्वं तथाविधविलक्षणधर्ममात्रप्रकारकघटादिविशेष्यकबोधजनकवाक्यत्वं वा लक्षणं, अन्यत्सर्वं पञ्चमभङ्गवत्केवलं विधिकल्पनास्थाने निषेधकल्पनापृथक्भावे प्रविशतीति ॥

इति षष्ठभङ्गन्निरूपणम् ॥

॥ अथ सप्तमभङ्गनिरूपणम् ॥

सप्तमभङ्गन्निरूपयति ।

पृ. २८ पं. २ स्यादस्त्येवेति–तृतीयचतुर्थभङ्गसंयोजनया प्रथमद्वितीय चतुर्थभङ्गसंयोजनया वाऽयं भङ्गः, सप्तमो धर्मोऽतिरिक्तोऽत्रापि विषयतादृशधर्म-

प्रकारकघटादिविशेष्यकबोधजनकवाक्यमस्य निष्कृष्टलक्षणमन्यत्सर्वं पूर्वदर्शितदिशाऽवसेयम् ॥ इति सप्तमभङ्गनिरूपणम् ॥

॥ अथ सप्तभङ्ग्याःसकलादेशविकलादेशस्वभावनिरूपणम् ॥

ननु स्याद्वादकेवलज्ञानयोस्सर्वार्थावभासकत्वं स्याद्वादिनामनुमतन्तन्न युज्यते स्याद्वादे सर्वत्र सप्तभङ्गीवाक्यमेव महावाक्यतया सम्पूर्णार्थविबोधकमनुमत, परमुक्तदिशा प्रतिपर्यायं सप्तविधधर्मपर्याप्तप्रकारकघटादिविशेष्यकबोधजनकत्वं प्रत्येकं तत्तद्धर्मनिष्ठप्रकारकासप्तकनिरूपितघटादिनिष्ठविशेष्यतानिरूपकबोधजनकत्वमेवास्याः प्रसिद्धिपद्धतिमश्नुति न त्वेतज्जन्यबोधेऽनन्तधर्मावभासनन्तदन्तरेणानन्तधर्मात्मकवस्त्ववभासनमपि नैव तथा च प्रमाणवाक्यत्वमप्यस्य न युज्यते। श्रुतप्रमाणेन यद्यनन्तधर्मात्मकं वस्तु परिच्छिद्येते भवेत्तदा तदेकदेशावबोधकनयात्मकज्ञानजनकत्वेन नयवाक्यत्वमपि प्रमाणापेक्षया नयत्वव्यवस्थितेः। यदा चानन्तधर्मात्मकवस्तुपरिच्छेदः श्रुतप्रमाणन्नभवति तदा परिमितानामेकद्वयादिधर्माणामेकदेशत्वमपि न व्यवस्थापयितं शक्यमिति नयवाक्यत्वमपि कथमस्यायुक्तियुक्तं स्यादिति चेत् एकधर्मबोधनद्वारा तदात्मना सकलधर्मावबोधकत्वलक्षणसकलादेशस्वभावबलात्सप्तभङ्ग्या अनन्तधर्मात्मकवस्त्ववभासिप्रमाणात्मकज्ञानजनकत्वेन प्रमाणवाक्यत्वं तज्जन्यबोधविषयानन्तधर्मात्मकवस्त्वेकदेशएकद्वयादिकतिपयधर्मतदात्मकधर्म्यवगाहिनो ज्ञानस्य नयात्मकस्य विषयीभूतधर्मक्रमपतिपादकत्वलक्षणविकलादेशस्वभावबलादेकद्वयादिधर्मतदात्मकधर्म्यवभासिनयात्मकज्ञानजनकत्वेन नयवाक्यत्वमप्युपपद्यत इत्याशयेन सकलादेशविकलादेशस्वभावाभ्यां सप्तभङ्गीं विभजते ।

पृ. २८ पं. ६ सेयमिति–अनन्तरोपदर्शिता मानसप्रत्यक्षस्थेत्यर्थः । तत्र सकलादेशं लक्षयति ।

पृ. २८ प. ७ तत्रपि–सकलादेशस्वभावविकलादेशस्वभावयोर्मध्यइत्यर्थः ।

पृ. २८ पं ७ प्रमाणप्रतिपन्नेति–श्रुतप्रमाणपरिच्छिन्नेत्यर्थः । वस्तुन इत्यस्य प्रतिपादकमित्येद्धतटकप्रतिपत्त्यावन्वयः तृतीयस्थाने स्यादवक्तव्यएवेति-

भङ्गमुररीकृत्य आद्यात्रयः सकलादेशस्वभावाः अन्त्याश्चत्वारो विकलादेशस्वभावा इति श्री सिद्धसेनादयो मन्यन्ते, देवसूरयस्तु सप्तानामपि भङ्गानां प्रत्येकं सकलादेशस्वभावत्वं विकलादेशस्वभावत्वञ्च प्रतिपन्नास्तन्मतं प्रतिगृह्यैव प्रतिभङ्गमित्युक्तं। तत्रैकैकधर्मेण धर्मिप्रतिपादके एकैकस्मिन्भङ्गे यौगपद्येनानन्तधर्मात्मकवस्तुविषयकप्रतीतिजनकत्वं कथं नु नाम स्यादित्याकाङ्क्षानिवृत्तये ।

पृ. २८ पं. ८ कालादिभिरित्यादि–हेतुवचनम्, क दिभिरित्यस्याभेदोपचारादित्यत्राप्यन्वयः । कालादयोऽष्टावग्रे निरूपयिष्यन्ति एवमभेदवृत्तिप्राधान्याभेदोपचारावपि, अनन्तधर्मात्मकघटरूपवस्तुगतोल्लिख्यमानैकास्तित्वादिधर्मेण सह कालदिभिरष्टभिर्द्रव्यार्थिकनयादेशात्सर्वेषामेव घटगतानां नास्तित्वादिधर्माणामभेदवृत्तिप्राधान्यतः पर्यायार्थिकनयादेशाद्वस्तुतोऽन्योन्यभिन्नानां तेषामभेदवृत्तेरसम्भवेऽभेदोपचारतो वा यौगपद्येनैकास्तित्वादिप्रतिपादनद्वारा तदभिन्नाशेषधर्मप्रातिपादकत्वेनानन्तधर्मात्मकवस्तुनः प्रतिपादकं यद्वचनं तत्सकलादेश इत्यर्थः । विकलादेशं प्ररूपयति ।

पृ. २८ पं. ९ नयेति–नयेन संग्रहादिनयेन विषयीकृतस्य विषयताकुक्षीकृतस्य नयविषयस्येतियावत् वस्तुधर्मस्य अनन्तधर्मादिघटादिगतैकास्तित्वादिधर्मस्य, भेदवृत्तिप्राधान्यात् कालादिभिरष्टभिः पर्यायार्थिकनयादेशाद्घटादिगतानामन्येषां नास्तित्वादिधर्माणां भेदवृत्तिप्राधान्यम् । द्रव्यार्थिकनयादेशाद्भेदोपचारं वाऽऽश्रित्य क्रमेण प्रतिपादकं यस्य धर्मस्योल्लिख्यमानत्वं तस्य धर्मस्य प्रतिपादनमात्रेण तदात्मना घटादिप्रतिपादकं यद्वचनं तद्विचनं तद्विकलादेश इत्यर्थः । क्रमयौगपद्ये स्वरूपतोऽजानन् परः पृच्छति ।

पृ. २८ पं. ११ नन्विति–विविच्य क्रमयौगपद्यस्वरूपोपदर्शनेनोत्तरयति ।

पृ. २८ पं. ११ उच्यते इति–प्रथमं क्रमस्वरूपं निर्वक्ति ।

पृ. २८ पं. ११ यदा–एकशब्दस्य–अस्तीत्यादि अस्तित्वाद्येकधर्मप्रतिपादकशब्दस्य, यौगपद्यं निरूपयति ।

पृ. २८ पं. १४ यदा तु–तदात्मकताम्–उल्लिख्यमानप्रतिनियतास्तित्वाद्येकधर्माभिन्नताम् , आपन्नस्य प्राप्तस्य । अन्यत्स्पष्टम् । कालादीनां स्वरूपमुपदर्शयितुं तत्र परजिज्ञासामुत्थापयति । के पुनःकालादय इति उत्तरयति ।

पृ. २८ पं. १४ उच्यत इति–काल एकः द्वितीयमात्मरूपम् , अर्थस्तृतीयः, सम्बन्धश्चतुर्थः, उपकारः पञ्चमः, गुणिदेशः षष्ठः, संसर्गः सप्तमः, शब्दोऽष्टमः इत्येवंमष्टसंख्यकाः कालादय इत्यर्थः, तदुक्तं–

कालात्मरूपसम्बन्धाः संसर्गोपक्रिये तथा ।
गुणिदेशार्थशब्दाश्चे–त्यष्टौ कालादयः स्मृताः ॥ १ ॥

इति तत्रास्तित्वाद्येकधर्मस्य नास्तित्वादिभिरन्यैर्धर्मैस्समं कालादिनाभेदवृत्तिमुपपादयति ।

पृ. २८ पं. १८ तत्रेति–कालादिषु मध्य इत्यर्थः ।

पृ. २८ पं २० तेषाम्–धर्माणाम् ।

पृ. २८ पं. २० कालेनाभेदवृत्तिरिति–कालावच्छेदेन वस्तुनि घटादावस्तित्वादिधर्मस्य, प्रतीतेः वस्तुनिरूपितास्तित्वनिवृत्तितायां कालस्यावच्छेदकत्वं, तत्सम्बन्धिन एव तन्निष्ठधर्मावच्छेदकत्वमितिनियमेन कालस्यास्तित्वादिधर्मसम्बन्धित्वमावश्यकं, कालेन सह धर्मस्यास्तित्वादेस्सम्बन्धःकालिकः । सोऽपि सर्वसम्बन्धव्यापककथञ्चित्तादात्म्यव्याप्य इति कथञ्चित्तादात्म्यमपि कालेऽस्तित्वादेः सम्बन्धः, एवञ्च तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमितिनियमेन कथञ्चिदस्तित्वाभिन्नकालाभिन्नकथञ्चिन्नास्तित्वादिधर्माणां कथञ्चिदस्तित्वाभिन्नत्वमित्येवं कालेनाभेदवृत्तिः अनयैव दिशाऽऽत्मरूपादिनाऽभेदवृत्तिरपि बोध्येत्याशयः । आत्मरूपेणाभेदवृत्तिं दर्शयति ।

पृ. २८ पं. २० यदेव–तद्गुणत्वम्–घटादिधर्मिगुणत्वम् ।

पृ. २८ पं. २१ तदेव–घटादिगुणत्वमेव, आत्मरूपमिति सम्बध्यते अर्थेनाभेदवृत्तिं दर्शयति ।

पृ. २८ पं. २३ य एव–स एव–द्रव्याख्य एव आधारः । सम्बन्धेनाभेदवृत्तिमुपदर्शयति ।

पृ. २८ पं. २५ य एव चाविष्वग्भावः–कथञ्चित्तादात्म्यम् ।

पृ. २८ पं. २५ स एव–अविष्वग्भाव एव सम्बन्धः उपकारात्मनाऽभेदवृत्तिं निरूपयति ।

पृ. २८ पं. २५ य एव चोपकार इति– स एव–स्वानुरक्तत्वकरणलक्षण एवोपकारः, गुणिदेशरूपेणाभेदवृत्तिं दर्शयति ।

पृ. २८ पं. २६ य एव गुणिनः–स एव–क्षेत्रलक्षण एव गुणिनः सम्बन्धी देशः, संसर्गेणाभेदवृत्तिं निरूपयति ।

पृ. २८ पं. २८ य एव चैकवस्त्वात्मना–स एव–तादृग्रूप एव संसर्गः, सम्बन्धसंसर्गयोः कः प्रतिविशेष इति जिज्ञासायामाह ।

पृ. २९ पं. १ गुणिभूतेति–यद्यप्यविष्वगभाव एव सम्बन्धः स एव च संसर्गः, तथापि तत्र भेदस्य गौणत्वेऽभेदस्य प्राधान्ये आस्थिते सति सम्बन्धत्वं तत्रैवाभेदस्य गौणत्वे भेदस्य प्राधान्ये विवक्षिते सति संसर्गत्वमित्यनयोर्भेद इत्याशयः । शब्देन भेदवृत्तिं भावयति ।

पृ. २९ पं २ य एव चैकवस्त्वात्मना स एव–अस्तीति शब्द एव सर्वे सर्वार्थवाचका इति नियमादेकस्यापि शब्दस्य सर्वैरर्थैःसह वाचकभावसम्बन्धोऽस्ति तस्य व्यापकः कथञ्चित्तादात्म्यलक्षणसम्बन्ध इत्येवं दिशाऽपि शब्देनाभेदवृत्तिरुपपद्यत एवेति बोध्यम्, सम्बन्धसंसर्गयोः प्रतियोग्यनुयोगिभ्यामसम्बन्धयोर्न सम्बन्धत्वसंसर्गत्वे इति तयोः प्रतियोग्यनुयोगिभ्यां कस्यचित्सम्बन्धस्यावश्यकत्वे तद्व्यापकस्यापि कथञ्चित्तादात्म्यसम्बन्धस्य तत्रावश्यकत्वं निरुक्तसम्बन्धसंसर्गौ चाविशेषितौ सकलधर्मधर्मिगताविस्येषा दिगपि तद्द्वारकाभेदवृत्तौ भावनीयौ अस्यां प्रक्रियायां पर्यायनयस्य गुणभावे द्रव्यार्थिकनयस्य सर्वत्राभेदमादिशतःप्राधान्यमिति तदवलम्बनेन कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादित्युपदिश्यत इत्याह ।

पृ. २९ पं. ४ पर्यायार्थिकनयेति–यदा च पर्यायार्थिकनयस्यैव प्राधान्यं द्रव्यार्थिकनयस्य च गुणभावमवलम्ब्य कालादिभिरेकधर्मेण सह तदन्याशेषधर्माणां भेदद्वारा सकलादेशत्वं विवक्ष्यते तदा पर्यायार्थिकनये नास्त्यभेदप्राधान्यमिति तदुपचारत एव यौगपद्येनानन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकत्वतः सकलादेशत्वसम्भव इत्युपवर्णयितुं कथन्न तत्र कालादिभिरभेदसम्भव इत्याकाङ्क्षानिवर्त्तनायाह

पृ. २९ पं. ५ द्रव्यार्थिकगुणभावेनेति–तत्र कालेनाभेदवृत्तेर्न सम्भव इत्याह ।

पृ. २९ पं. ६ समकालमेकत्र–सम्भवे वा–समकालमेकत्र नानागुणानां सम्भवे वा–

पृ. २९ पं. ७ तदाश्रयस्य–नानागुणाधारस्य धर्मिणः पर्यायनये गुणानाम्भिन्नत्वे विभिन्नगुणाश्रयस्य भिन्नत्वमेव विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदकत्वकल्पनापेक्षया विभिन्नधर्माध्यासस्य भेदकत्वमिति कल्पनैव लाघवाद्युक्तेति गुणानां भेदे तदाधारस्य तत्समानकालीनस्य भेदप्रसङ्गादित्यर्थः । पर्यायनये आत्मरूपेणाभेदवृत्त्यसम्भवमुपपादयति ।

पृ. २९ पं. ७ नानागुणानामिति....अन्यथा–नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मरूपस्य तद्गुणत्वलक्षणस्याभिन्नत्वे

पृ. २९ पं. ८ तेषाम्–गुणानां । तद्गुणत्वस्य सर्वत्राविशिष्टत्वाद्भिन्नत्वं न स्यादित्यनन्तधर्माणामभावेऽनन्तधर्मात्मकत्वमपि वस्तुनो वक्तुं न शक्येतेत्यर्थः । गुणानां भिन्नानामाधारोऽपि विभिन्न एवेत्याधारलक्षणार्थेनाभेदवृत्तिरपि नात्र घटत इत्याह ।

पृ. २९ पं. ९ स्वाश्रयस्येति–गुणाश्रयस्येत्यर्थः ।

पृ. २९ पं. ९ अन्यथा–गुणाश्रयस्य भिन्नत्वाभावे, एकस्मिन्नाश्रये एक एव गुण इति तत्र नियमेन नानागुणश्रयत्वं भेदमन्तरेण न स्यादित्यर्थः । सम्बन्धेनाभेदवृत्त्यसम्भवं पर्यायनये दर्शयति ।

पृ. २९ पं १० सम्बन्धस्य च-प्रतियोग्यनुयोगिभेदेन सम्बन्धभेदोऽन्यत्र दृश्यते। नहि भूतलघटयोर्यस्संयोगः स एव पर्वतवह्न्योरपि, तथाभ्युपगमे घट भूतलसंयोगोत्पत्तौ वह्निपर्वतसंयोगोऽप्युत्पद्येत, तद्विनाशे सोऽपि नश्येदिति· प्रसङ्गो दुर्निवारः स्यात् एवं नानाधर्मैस्समं घटादिधर्मिणोऽपि घटादेर्नैकःसम्बन्धः किन्तु तत्तद्धर्मप्रतियोगिको घटाद्यनुयोगिको भिन्न एव सम्बन्ध इति तथादर्शनतः कल्प्यत इत्यर्थः।

पृ. २९ पं. १० नानासम्बन्धिभिः-अस्तित्वनास्तित्वादिनानाधर्मैस्समं।

पृ. २९ पं. १० एकत्र-घटाद्यात्मकैकधर्मिणि। एकसम्बन्धाघटनात् भेदविशिष्टाभेदात्मकाविष्वग्भावरूपसम्बन्धासम्भवात् । प्रर्यायनये उपकारेणाभेदवृत्त्यसम्भवं कथयति ।

पृ. २९ पं. ११ तैरिति-अस्तित्वादिगुणैरित्यर्थः ।

पृ. २९ पं. १२ प्रतिनियतरूपस्य-स्वस्वानुरूपानुरक्तत्वकरणात्मकस्य, अस्तित्वप्रभव उपकारः अस्ति घट इत्येवंरूपेण घटस्यानुरञ्जनं तदात्मतयाऽभिव्यापनमित्येवं प्रतिनियतस्येति यावत् ।

पृ. २९ पं १२ अनेकत्वात-विभिन्नत्वात् ।

पृ. २९ पं. १२ अनेकैरिति-नानारूपैरस्तित्वादिगुणलक्षणोपकारकैर्जायमानस्य स्वानुरक्तत्वकरणोपकारस्याभिन्नस्य विशेषात् नहि भवति दण्डस्य विशेषणत्वे दण्डीतिविशिष्टस्वरूपतानिष्पत्तिरेव कुण्डलादेरपि विशेषणत्वे, तदानीं कुण्डलीत्येवमेव विशिष्टस्वरूपनिष्पत्तेरित्यर्थः। तत्र गुणिदेशेनाभेदवृत्तिसम्भवमुपपादयति ।

पृ. २९ पं. १३ गुणिदेशस्य चेति-प्रतिगुणं अस्तित्वादिप्रत्येकधर्ममाश्रित्य।

पृ. २९ पं. १४ तदभेदे-गुणानांभेदेऽपि गुणिदेशस्यैकस्यैवभावे ।

पृ. २९ पं. १४ भिन्नार्थेति-यथा घटास्तित्वादिगुणानां भिन्नानामपि घटात्मकगुणिनो देशोऽभिन्न एव तथा स एव घटादिगतास्तित्वादिगुणानामपि स्यादित्यर्थः। संसर्गेणाभेदवृत्तिं तत्रापाकरोति ।

पृ. २९ प. १४ संसर्गस्य चेति–अभेदसहिष्णुभेदलक्षणाविष्वग्भावस्य चेत्यर्थः।

पृ. २९ पं. १५ प्रतिसंसर्गिभेदात्–अन्यत्र संसर्गिभेदेन संसर्गभेददर्शनादत्रापि तथैव युक्तत्वात्।

पृ. २९ पं. १५ तदभेदे–संसर्गाभेदे भावना सम्बन्धदर्शिताऽवसेया तत्र शब्देनाभेदवृत्तिन्निराकरोति।

पृ. २९ पं १५ शब्दस्येति–अस्तित्वादिगुणवाचकास्तित्वादिशब्दस्य।

पृ. २९ पं. १६ प्रतिविषयम्–अस्तित्वादिगुणलक्षणवाच्यमाश्रित्य वाच्यभेदेऽपि वाचकशब्दाभेदाभ्युपगमेऽनिष्टमापादयति।

पृ. २९ पं. १६ सर्वगुणानामिति–उक्तदिशा पर्यायार्थनयादेशात्कालादिभिरभेदवृत्त्यसम्भवे एकगुणेन सह तदन्यगुणानामभेदोपचारःक्रियते। उपचारश्च गर्दभादितो भिन्नेऽपि विशिष्टज्ञानविकलमनुष्यादौ गर्दभाद्यभेदस्य दृश्यत एवेत्युपसंहरति।

पृ. २९ पं. १७ कालादिभिरिति–विकलादेशनिर्वचने युक्तं भेदवृत्तिप्राधान्याद्भेदोपचाराद्वेति तत्रापि कालादिभिरष्टगुणानां भेदवृत्तिः, पर्यायनयप्राधान्यात् तैः पुनः द्रव्यार्थनयादेशाद्भेदवृत्त्यसम्भवाद्भेदोपचारःक्रियते, तत्र पर्यायनयादेशे गुणादिभिरभेदवृत्त्यसम्भव उपदर्शिता युक्तय एवभेदवृत्तिप्राधान्ये योजनीयाः। द्रव्यार्थिकनयादेशे गुणादिभिरभेदवृत्त्युपपादिकानीतिरेव भेदवृत्त्यसम्भवतो भेदोपचारे सङ्घटनीयेत्यतिदिशति।

पृ. २९ पं. १८ एवमिति–ये च स्यादस्त्येव १ स्यान्नास्त्येव २ स्यादवक्तव्यमेवेतित्रयाणां सकलादेशत्वं, स्यादस्त्येवस्यान्नास्त्येवचेत्यादिचतुर्णां विकलादेशत्वमामनन्ति तेषां मते निरवयवार्थप्रतिपादकमखण्डार्थप्रतिपादकलक्षणं सकलादेशत्वं, सावयवार्थप्रतिपादकत्वं सखण्डार्थप्रतिपादकत्वलक्षणं विकलादेशत्वम्, प्रतिभङ्गं सप्तभङ्ग्यास्सकलादेशत्वे प्रतिभङ्गं प्रमाणवाक्यरूपा सप्तभङ्गी, तस्याः प्रतिभङ्गं विकलादेशत्वे प्रतिभङ्गं नयवाक्यरूपा, मतान्तरे आद्यास्त्रयो भङ्गास्सकलादेशत्वात्प्रमाणवाक्यानि तदवच्छेन सप्तभङ्ग्या अपि सकलादेशत्वात्प्रमाणवाक्यत्वं, अन्त्याश्चत्वारो भङ्गा विकलादेशत्वान्नयवाक्यानि,

तदवच्छेदेन सप्तभङ्ग्यपि तथा, तत्र प्रथमभङ्गः सङ्ग्रहनयात्प्रवर्तते, द्वितीयभङ्गो व्यवहारात्तृतीयभङ्गस्ताभ्यां, चतुर्थभङ्ग ऋजुसूत्रात् युगपत्सत्त्वासत्त्वयोरादेशे सङ्ग्रहव्यवहारयोस्तदविषयकत्वादसामर्थ्यात्, ऋजुसूत्रस्य तु तदविषयकत्वेऽपि संवृत्यैव तथाप्रतिपत्तिसामर्थ्यसम्भवात्, पञ्चमभङ्गस्यसङ्ग्रहर्जुसूत्राभ्यांप्रवृत्तिः। षष्ठभङ्गस्य व्यवहारर्जुसूत्राभ्यां प्रवृत्तिः, सप्तमभङ्गस्यतु सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रैरित्येवं सप्तभङ्ग्या नययोजना ज्ञेया । इति सप्तभङ्गीनिरूपणे आगमप्रमाणनिरूपणं परिपूर्णम् । परोक्षप्रमाणनिरूपणमुपसंहरति ।

पृ. २९ पं. १८ पर्यवसितम्—सम्पन्नं परिपूर्णमिति यावत् ॥
इतिपरोक्षप्रमाणनिरूपणम् । प्रमाणनिरूपणमुपसंहरति । तत्रश्चेति—प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां द्विविधं प्रमाणमिति प्रतिज्ञातं, प्रत्यक्षपरोक्षयोश्च सप्रभेदयोः क्रमेण निरूपणे वृत्ते प्रमाणपदार्थोऽपि निरूपित एवेति ।

॥ इतिजैनतर्कभाषाप्रमाणपरिच्छेदटीका ॥

॥ अथ नयपरिच्छेदनामा द्वितीयः परिच्छेदः ॥

॥ अथ नयनिरूपणम् ॥

प्रमाणनयनिःक्षेपैरित्यनेन प्रमाणनयनिःक्षेपाणां त्रयाणामुद्दिष्टत्वेऽपि प्रथमं प्रमाणस्योद्देशात्तज्जिज्ञासाया एव प्रथममुत्थितत्वात्ततः प्रथमं प्रमाणे निरूपिते तज्जिज्ञासारूपप्रतिबन्धकोपशान्तेस्तदनन्तरमुद्दिष्टत्वेन निःक्षेपनिरूपणतःप्राक् नयजिज्ञासाया एवोल्लासादिति । ततः प्रमाणनिरूपणानन्तरमवश्यवक्तव्यत्वलक्षणावसरसङ्गत्या नयनिरूपणमित्याशयमाविष्कुर्वन् श्रीमान् यशोविजयोपाध्यायो नयनिरूपणं प्रतिजानीते ।

पृ. ३० पं. ५ प्रमाणान्युक्तानि अथ नया उच्यन्ते—इति प्रमाणान्युक्तानीत्यनेन प्रमाणनिरूपणस्य वृत्तत्वकथनेन स्वविषयसिद्धिनिवर्त्यायाः प्रमाणजिज्ञासाया नयनिरूपणप्रतिबन्धिकाया निवृत्तिरावेदिता । अथ—प्रमाणनिरूपणानन्तरम् अनेन चावसरसङ्गतिप्रतिपादनं नया—इत्यनेन निरूपणविषयस्याविष्कारः, उच्यन्ते इत्यनेन तद्विषयकप्रतिपत्त्यनुकूलव्यापारलक्षणप्रतिज्ञाप्यावेदिता भवतीति नयान् लक्षयति ।

पृ. ३० पं. ५ प्रमाणेति प्रमाणेत्यादिविशेषा इत्यन्तं लक्षणवचनं, नया इति लक्ष्यनिर्देश, नया इति बहुवचनतो यावन्तो वचनवादास्तावन्तो नया इति वचनाद्विशेषतो नयानामानन्त्यमित्यस्य संसूचनम् , ।

पृ. ३० पं. ५ प्रमाणपरिच्छिन्नस्येति–अन्यत्र श्रुतप्रमाणपरिच्छिन्नस्येति निर्दिष्टत्वेऽपि अत्र प्रमाणसामान्याभिधानं स्याद्वादसंस्कारतःपुंसस्तद्बलात्प्रत्यक्षादिप्रमाणेऽपि स्वाद्वादार्थगतिरस्त्येवेति तथाविधप्रत्यक्षादिप्रमाणपरिच्छिन्नत्वमप्यनन्तधर्मात्मकवस्तुन इत्यावेदनाय, अत एव समपञ्चप्रत्यक्षपरोक्षस्वरूपतया प्रमाणनिरूपणमपि सङ्गच्छते, अन्यथा केवलज्ञानसकलादेशात्मकवचनयोरेवप्रमाणतयाऽभिधानमेव न्याय्यं भवेदिति बोध्यम् ।

पृ. ३० पं ६ एकदेशग्राहिणः–प्रधानतयाऽनन्तधर्मात्मकवस्तुनरशरीरसन्निविष्टत्वेनैकदेशस्यावयवरूपस्यास्तित्वादितत्तद्धर्मस्य ग्राहकाः, प्रधानतयेतिपूरणाद्गौणतया तदन्यदेशग्राहिण इत्यपि लभ्यते, अत एव च यावतामेव वस्तुधर्माणां प्रधानतयाऽवगाहकात्प्रमाणादस्य भेदः अन्यथा समग्रग्राहिणः प्रमाणस्य तदन्तस्सन्निविष्टैकदेशग्राहित्वमस्त्येवेति प्रमाणेऽप्येतल्लक्षणमतिव्याप्तं स्यात्, एकदेशमात्रग्राहिण इत्युक्तयाऽपि प्रमाणेऽतिव्याप्तेर्वारणसम्भवेऽपि यथाश्रुतस्य न कुत्रापि सन्नये सत्वं सन्नयस्य गौणतयाऽभिमतग्राह्यैकदेशभिन्नैकदेशग्राहित्वस्यापि भावादित्यसम्भवस्स्यादिति तद्वारणार्थं प्रधानतयेत्यस्यावश्यमुपादेयत्वात् दुर्नया अप्येकदेशग्राहिण इति तेष्वतिव्याप्तिवारणाय

पृ. ३० पं. ६ इतरांशाप्रतिक्षेपण इति–दुर्नयाश्च अन्योन्यप्रतिपक्षाःइतरांशान्प्रतिक्षिपन्त्येवेति न तेष्वतिव्याप्तिः, नयास्तु स्वविषयातिरिक्तविषये गजनिमीलिकामेवावलम्बन्त इतिभवन्ति इतरांशाप्रतिक्षेपिणः ।

पृ. ३० पं. ७ अध्यवसायविशेषाः–प्रमातुरभिप्रायभेदाः, एतेन ये एकदेशं गृह्णन्ति इतरांशश्च न प्रतिक्षिपन्ति ते स्वरूपानुपलम्भा न सन्त्वेवेत्याशङ्का व्युदस्ता, ईदृशानां सङ्ग्रहादिस्वरूपाणामभिप्रायभेदानां स्वसंवेदनसिद्धत्वेनानुपलम्भाभावादित्याशयः । नया एव च मतशब्देनोच्यन्ते, यतः क्वचिन्मत इति वक्तव्ये नय इति व्यपदिश्यते, यथा एवं न्यायनयैरिति प्रामाण्यं, गौतमे मते

इत्यत्र गौतमे नये इत्यपि वक्तुं शक्यते, एकैकस्मिन्नपि दर्शने यानि विभिन्नानि मतानि इदम्प्राचाम्मतमिदं नव्यानाम्मतं स्वतन्त्राणाश्चेदम्मतं जगदीशमतं गदाधरमतमिति दृश्यन्ते तानि सर्वाणि नयस्वरूपाण्येवोपलभ्यन्ते परमितरांशप्रतिक्षेपित्वात्सुनया न भवन्ति, प्राचाम्मतमितिवक्तव्ये प्राचामिष्टमित्येवमभ्युपलम्भत एव अभिप्रायश्चेच्छाविशेष एवेति नयस्याभिप्रायरूपताऽपि नानुपलब्धिबाधिता, इच्छा च जैनमते ज्ञानविशेष एव नतु नैयायिकमत इव ज्ञानभिन्नो गुण इति अभिप्रायविशेषरूपाणां नयानामध्यवसायविशेषत्वं सुसङ्गतमेवेति निरुपद्रवमिदं लक्षणमिति बोध्यम् । ननु यद्येवं नया उक्तदिशा ज्ञानविशेषा एव तदा स्वपरसंवेदनरूपत्वात्प्रमाणत्वमप्येषां सम्भवेदेवेतिप्रमाणभिन्नतयैषाम्मननमसङ्गतमित्याशङ्काशङ्कुसमुद्धरणायाह ।

पृ. ३० पं. ७ प्रमाणैकदेशत्वादिति—यथा प्रत्येकमस्तित्वादयो धर्मा नयविषया अनन्तधर्मात्मकवस्त्वेकदेशा एव, प्रमाणैकदेशत्वाच्च ।

पृ. ३० पं. ७ तेषाम्—नयानाम्

पृ. ३० पं. ७ ततः—प्रमाणात्

पृ. ३० पं. ७ भेदः—पृथग्भावः, समुदितस्वरूपादेकदेशस्य पृथग्भावमनुगुणदृष्टान्तेन दृढयति ।

पृ. ३० पं. ८ यथेति—अनेन दृष्टान्तोपदर्शनेन परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरितिन्यायात्, नयानां प्रमाणत्वे पृथगुपन्यासो व्यर्थः, प्रमाणभिन्नत्वेऽप्रमाणत्वान्न ततो वस्त्वंशसिद्धिरिति न वस्तुसाधनाङ्गत्वमितिशङ्काऽपि व्युदस्ता, समुद्रैकदेशस्य न समुद्रत्वमिति समुद्रभिन्नत्वेऽपि नासमुद्रत्वं किन्तु समुद्रांशत्वमेव तथा नयानां प्रमाणभिन्नत्वेऽपि नाप्रमाणत्वं किन्तु प्रमाणैकदेशत्वमेव,

तदुक्तं—

नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः ।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ॥ १ ॥

नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः ।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि ॥ २ ॥ इति ।

अथ नयान् विभजते ।

पृ ३० पं. ९ ते चेति–नयाश्चेत्यर्थः, द्रव्यार्थिको नयः पर्यायार्थिको नय इत्येवं नया द्विविधा इत्यर्थः । द्रव्यार्थिकनयं लक्षयति ।

पृ. ३० पं. १० तत्रेति–द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्मध्य इत्यर्थः, प्राधान्येन द्रव्यमात्रग्राहीतिलक्षणं द्रव्यार्थिक इति लक्ष्यम्, प्राधान्येनेत्युपादानाग्गौणतया पर्यायग्राहित्वमपि लभ्यते तेन पर्यायाप्रतिक्षेपित्वावगतितो द्रव्यार्थिकाभासातिव्याप्तिव्युदासः, मात्रपदोपादानाच्च प्रमाणातिव्याप्तिनिरासः, गौणतया पर्यायग्राहिणि सामान्यतो द्रव्यमात्रग्राहित्वं न स्यादेवेत्यसम्भवस्स्यात्तद्वारणाय प्राधान्येनेति । पर्यायार्थिकनयं लक्षयति ।

पृ. ३० पं. १० प्राधान्येनेति–प्राधान्येन पर्यायमात्रग्राहीति लक्षणनिर्देशः, पर्यायार्थिक इति लक्ष्यनिर्देशः, अत्राप्यसम्भववारकं प्राधान्येनेति प्रमाणेऽतिव्याप्तिवारकं मात्रेति, प्राधान्येनेतिविशेषणमहिम्ना नयसामान्यलक्षणानुगममहिम्ना वा लब्धादितरांशाप्रतिक्षेपित्वात्पर्यायाभासातिव्याप्तिवारणम् । इति द्रव्यार्थिकसामान्यलक्षणकथनम् । द्रव्यार्थिकनयं विभजते ।

पृ. ३० पं. ११ तत्रेति–द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्मध्य इत्यर्थः ।

पृ. ३० पं. ११ द्रव्यार्थिक इति–नैगमः संग्रहः व्यवहारश्चेत्येवम्भेदात्त्रिप्रकारो द्रव्यार्थिक इत्यर्थः, । पर्यायार्थिकनयं विभजते ।

पृ. ३० पं १२ पर्यायार्थिक इति–ऋजुसूत्रः. शब्दः, समभिरूढः, एवम्भूतः, इत्येवंभेदाच्चतुःप्रकारः पर्यायार्थिक इत्यर्थः उभयसङ्कलने नयास्सप्तेतिफलितम् । ऋजुसूत्रस्य पर्यायार्थविशेषतयाऽभिधानं सिद्धसेनादिमतमाश्रित्य, पूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणमते तस्य द्रव्यार्थिकत्वमेव तन्मते द्रव्यार्थिका नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राश्चत्वारो नयाः, पर्यायार्थिकाः शब्दसमभिरूढैवम्भूतास्त्रयो नयाः । नैगमस्य सिद्धसेनमते सामान्यग्राहिणः सङ्ग्रहे, विशेषग्राहिणः

पर्यायेऽन्तर्भावः । इत्येवं विशेषा बहवस्सन्ति तथापि अन्यान् विशेषान् ग्रन्थगौरवभयादुपेक्ष्य ऋजुसूत्रस्य द्रव्यार्थिकत्वमननं यत्पूज्यपादानां तदेवोपदर्शयति ।

पृ. ३० पं. १३ ऋजुसूत्र इति–द्रव्यार्थिकस्य प्रथमोद्दिष्टत्वात्प्रथमं विभजनाच्च तस्याद्यं प्रकारं नैगमं लक्षयति ।

पृ. ३० पं. १५ तत्रेति–नैगमसङ्ग्रहव्यवहारेषु द्रव्यार्थिकभेदेषु मध्य इत्यर्थः, सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसाय इति लक्षणं नैगम इति लक्ष्यम्, द्रव्यमनुगतत्वात्सामान्यं, सहभावीपर्यायो गुणः क्रमभावीपर्यायश्च तावुभौ व्यावृत्तत्वाद्विशेषः, आदिपदान्नित्यत्वानित्यत्वभेदाभेदादेर्ग्रहणं तथाविधानामनेकधर्माणां धर्मिण्युपनयने परः प्रवणः अध्यवसायोऽभिप्रायः नैगमनय इत्यर्थः । अमुमेवार्थं स्पष्टयति ।

पृ. ३० पं. १६ यथेति–पर्याययोरेकपर्यायस्य मुख्यरूपतयाऽपरपर्यायस्यामुख्यरूपतया (गौणतया) विवक्षणपरः प्रतिपादनसमर्थः, एको नैगमः, द्रव्ययोरेकद्रव्यस्य मुख्यरूपतयाऽपरद्रव्यस्यामुख्यरूपतया प्रतिपादनप्रवणो द्वितीयो नैगमः, पर्यायद्रव्ययोरेकस्य पर्यायस्य द्रव्यस्य वा मुख्यतयाऽपरस्यद्रव्यस्य पर्यायस्य वाऽमुख्यरूपतया ज्ञापनप्रवीणस्तृतीयो नैगम इत्यर्थः । तत्र पर्याययोर्मुख्यतया विवक्षणपरं नैगममुदाहरति ।

पृ. ३० पं. १७ अत्रेति–उपदर्शितप्रकारत्रयमध्य इत्यर्थः ।

पृ. ३० पं. १७ सच्चैतन्यमात्मनीति–अत्र आत्मधर्मिणि द्रव्ये सत्त्वचैतन्ययोस्तद्धर्मत्वात्तत्पर्यायभूतयोस्सच्चैतन्यमित्येवं विवक्षणे सत्त्वस्य विशेषणत्वेन गौणत्वं चैतन्यस्य तद्विशेष्यत्वेन मुख्यत्वमित्येवं पर्याययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणमित्येव स्पष्टयति ।

प. ३० पं. १८ अत्रेति–सच्चैतन्यमात्मनीत्यस्मिन्नित्यर्थः ।

प. ३० पं. १८ व्यञ्जनपर्यायस्य–चैतन्यमुपयोगस्वरूपमात्मनः प्रतिक्षणं विभिन्नसुखदुःखहर्षविस्मयाद्यर्थपर्यायभावेऽप्यनुगामित्वाद्व्यञ्जनपर्यायस्तस्य ।

पृ. ३० पं. १९ विशेषत्वेन–सच्चैतन्यमित्यत्र चैतन्यं विशेष्यं सत्त्वं च विशेषणमित्यतो विशेष्यत्वेन, सत्त्वाख्यस्य त्वित्यत्रापि व्यञ्जनपर्यायस्येति सम्बध्यते, यथा कालत्रयानुगामिचैतन्यं तथा प्रतिविशिष्टसत्त्वमपीति व्यञ्जनपर्यायः क इत्यपेक्षायामाह ।

पृ. ३० पं. २० प्रवृत्तिनिवृत्तीति–यद्धर्मसम्बन्धाच्चेतनादिशब्दस्यार्थविशेषे प्रवृत्तिः, यद्धर्मासम्बन्धाच्च तस्यार्थविशेषे निवृत्तिस्तन्निबन्धना याऽर्थक्रियाऽयं चेतनोऽयमचेतन इत्यादिव्यवहृतिलक्षणा तत्कारित्वोपलक्षितस्तत्स्वरूपयोग्यत्ववान् न हि चैतन्यादिसत्त्वे उक्तार्थक्रिया सर्वदा भवत्येव व्यवहारकर्त्तुरभावे वा व्यवहृतीच्छाद्यभावे वा व्यवहृतेरभावादतो निरुक्तार्थक्रियाकारित्वं चैतन्यादेर्व्यञ्जनपर्यायतासम्पादकं विशेषणन्न भवति तथासति तथाव्यवहृतिजननाभावदशायां चैतन्यादेर्व्यञ्जनपर्यायत्वाभावाप्रसङ्गात्। अर्थक्रियास्वरूपयोग्यता तु सहकार्यन्तरविरहात्कार्याजननेऽपि न व्यावर्त्तत इत्यभिसन्धानेनार्थक्रियाकारित्वविशिष्ट इत्यनुक्त्वाऽर्थक्रियाकारित्वोपलक्षित इत्युक्तम्, एवम्भूतो यः पर्यायः स व्यञ्जनपर्याय इत्यर्थः । तत्किमन्योऽपि पर्यायोऽस्ति येन व्यञ्जनपर्याय इति विशिष्योच्यते इति चेदस्त्येवार्थपर्यायस्तर्हि स कीदृग्रूप इत्यपेक्षयामाह ।

पृ. ३० पं. २१ भूतेति–यः पर्यायोऽतीतकालेऽनागतकाले च धर्मिणि न सत्तामनुभवति किन्तु वर्तमानेकालावच्छेदेनैव तत्र वर्त्तते एवम्भूतो यो वस्तुस्वरूपपर्यायः प्रतिक्षणमन्योन्यस्वरूपभवनलक्षणः सोऽर्थपर्याय इत्यर्थः । द्रव्ययोर्मुख्यामुख्यरूपतया विवक्षणपरं नैगममुदाहरति ।

पृ. ३० पं. २२ वस्तुपर्यायवद्द्रव्यमिति–अत्र विशेषणीभूतं वस्त्वपि द्रव्यं, विशेष्यीभूतं पर्यायवद्द्रव्यमित्यपि द्रव्यम्, तत्र विशेषणत्वादेकस्याप्राधान्यं द्वितीयस्य तु प्राधान्यमिति तथैव विवक्षणमिति स्पष्टयति ।

पृ. ३० पं. २३ पर्यायवद्द्रव्याख्यस्येति–पर्यायद्रव्ययोर्मुख्यरूपतया विवक्षणपरं नैगममुदाहरति ।

पृ. ३१ पं. २ क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति–विषयासक्तजीवलक्षण द्रव्यस्य विशेष्यत्वात्प्राधान्यं सुखस्य तु पर्यायस्य विशेषणत्वादप्रधान्यं तथैव च विवक्षेति सङ्क्रमयति ।

पृ. ३१ पं. ३ अत्रेति–निरुक्तोदाहरणस्थल इत्यर्थः । ननु वस्त्वंशग्राह्येव नयोऽभिमतः उदाहृतनैगमस्तु द्रव्यपर्यायोभयविषयकत्वेन वस्तुविषयकत्वात्प्रमाणं स्यादित्याशङ्क्य प्रतिक्षिपति ।

पृ. ३१ पं. ५ न चैवमिति–एवं उदाहृतनैगमस्य द्रव्यपर्यायोभयविषयकत्वाभ्युपगमे वस्तुनि द्रव्यपर्याययोः प्राधान्येनैव स्वरूपता, तथासत्येव तदात्मकत्वमेकस्य वस्तुनः न ह्येकमेव प्रधानमप्रधानं च सम्भवति, यस्याप्राधान्यं तदुपचरितमेव, न ह्युपचरितं वस्तुरूपं, न हि सिंहत्वेनोपचरितो माणवकः, सिंहो भवति, इत्थं चोदाहृतस्य नैगमस्य प्रधानतया द्रव्यविषयकत्वाद्गौणतया पर्यायविषयकत्वात्प्राधान्येनोभयावगाहित्वाभावादुभयात्मकवस्त्ववगाहित्वाभावेन न प्रामाण्यमित्याह ।

पृ. ३१ पं. ६ प्राधान्येन तदुभयावगाहिन एव–द्रव्यपर्यायोभयविषकस्यैव, इति नैगमनयनिरूपणम् ॥

अथ सङ्ग्रहनयनिरूपणम् ।

सङ्ग्रहं निरूपयति ।

पृ. ३१ पं. ७ सामान्येति–सामान्यमात्रग्राही परामर्श इति लक्षणं, सङ्ग्रह इति लक्ष्यम् ।

पृ. ३१ पं. ७ परामर्श–निश्चयः अध्यवसायविशेष इति यावत् सामान्यात्मनाऽवान्तराशेषविशेषविषयकमेव न तु विशेषात्मनो विशेषविषयकं एतादृशं यज्ज्ञानं तत्सङ्ग्रहनय इत्यर्थः । तं विभजते ।

पृ. ३१ पं. ७ स द्वेधा–परस ग्रहाऽपरसङ्ग्रहश्चेत्येवं द्विप्रकारः सङ्ग्रह इत्यर्थः । परसङ्ग्रहं लक्षयति ।

पृ. ३१ पं. ८ तत्रेति–परापरसङ्ग्रहयोर्मध्य इत्यर्थः । अशेषविशेषौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमऽन्यमान इति लक्षणं परस्सङ्ग्रह इति लक्ष्यम्, अशेषेषु द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यतदाधारव्यक्तिविशेषेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः सत्तालक्षणमहासामान्यस्वरूपं पर्यायामिश्रितद्रव्यमेव यो विषयीकरोति एवम्भूतो बोधविशेषः परसङ्ग्रह इत्यर्थः उदाहरति ।

पृ. ३१ पं. ९ यथेति–सर्वं हि वस्तु सत्सदित्येवं भाति ततो वस्तुमात्रं सदेव भवति, घटः पट इत्यादिकं तु व्यावृत्तत्वान्न वस्तुरूपं "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथेति" सत्त्वमेव वस्तु नः पारमार्थिकं रूपं तच्चैकमिति तदात्मकं विश्वमप्येकं सदविशेषात्सद्रूपस्य सर्वत्र साधारणत्वात्, रूपान्तरस्य तु अननुगामितया कल्पितत्वेन ततो विश्वस्य भेदासम्भवादित्यर्थः । अपरसङ्ग्रहं लक्षयति ।

पृ. ३१ पं. ९ द्रव्यत्वादीन्यवान्तर–अपरसङ्ग्रह इति लक्ष्यनिर्देशः द्रव्यत्वादीनीत्यादिर्लक्षणनिर्देशः । अवान्तरसामान्यानि–महासामान्यसत्ताव्याप्यजातीनि, द्रव्यत्वादीनीत्यादिपदाद् गुणत्वपर्यायत्वादेरुपग्रहः ।

पृ. ३१ पं. १० मन्वानः–स्वीकुर्वाणः, तद्भेदेषु द्रव्यभेदेषु जीवपुद्गलधर्माधर्मास्तिकायादिषु द्रव्यत्वावान्तरसामान्यलिङ्गितेषु गजनिमीलिकत्वात् औदासीन्यम् । अन्यत्स्पष्टम् । अस्योदाहरणं जीवादिकमेकमेव द्रव्यविशेष्यादित्याद्यूहनीयम् । व्यवहारनयं लक्षयति ।

पृ. ३१ पं. ११ सङ्ग्रहेणेति–सङ्ग्रहेणेत्यादि सेत्यन्तं लक्षणं व्यवहार इति लक्ष्यम्, सामान्यग्राहिणा सङ्ग्रहनयेन सामान्यात्मना विषयीकृतानां विशेषात्मनामर्थानां विधिपूर्वकं स्वस्वाधारणरूपाभिधानपूर्वकं महासामान्यस्य यद्व्याप्यन्तद्रूपेण प्रथममभिधाय तस्य यद्व्याप्यं तद्रूपेण तदालिङ्गितस्य धर्मिणोऽभिधानमित्येवं क्रमेण न तु प्रथमत एव यस्यावान्तरविशेषो नास्ति तद्रूपेणैवाभिधानमिति विभजनक्रमनियमलक्षणविधिपुरस्सरमिति यावत् ।

पृ. ३१ पं. १२ अवहरणम्–विभजनम् ।

पृ. ३१ पं. १२ येनाभिसन्धिना—येनाध्यवसायविशेषेण क्रियते।

पृ. ३१ पं. १२ स--अभिप्रायविशेषो व्यवहारनय इत्यर्थः। उदाहरति।

पृ. ३१ पं. १३ यथा...जीवादीति–जीवास्तिकायः पुद्गलास्तिकायः धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायः कालश्चेत्येवं षट्प्रकारकं द्रव्यमित्यर्थः

पृ. ३१ पं. १४ क्रमभावी–द्रव्योत्पत्त्यनन्तरं यो सदा कदाचिद्भवति संयोगादिरुत्क्षेपणादिः रक्ततरत्वादिर्वा स पर्यायः।

पृ. ३१ पं. १४ सहभावी–यो–द्रव्येणाधारेण सहैवोत्पद्यते रूपरसगन्धस्पर्शादिर्गुणः स सहभावी पर्यायो बोध्यः। ऋजुसूत्रनयं लक्षयति।

पृ. ३१ पं. १५ ऋज्विति–अभिप्राय इत्यन्तं लक्षणम् ऋजुसूत्र इति लक्ष्यम् अन्वयार्थोपदर्शनेन लक्षणेऽस्मिन् ऋज्वित्यस्य वर्तमानक्षणस्थायिपर्यायमात्रमित्यर्थकथनम्, एवञ्च भूतकालवृत्तित्वे कौटिल्यमित्यभिसन्धानकुटिलतारूपत्वं च तयोरर्थेऽसम्भवादिति। सूत्रयति सूचयतीति सूत्रमितिव्युत्पत्तिमवलम्ब्य भासताव्यच्छेदप्राधान्यत इत्युपादाय च सूत्रमित्यस्य प्राधान्यतः सूचयन्नित्यर्थकथनम्। नयत्वादेवाभिप्रायत्वं प्राप्तमित्याशयेनाभिप्राय इति। उदाहरति।

पृ. ३१ पं. १६ यथा सुखविवर्तः–सुखाख्यपर्यायः

पृ. ३१ पं. १६ सम्प्रति—वर्त्तमानकाले

पृ. ३१ पं. १६ अस्ति–वर्त्तते, उदाहृतस्य ऋजुसूत्रलक्षणयोगम्भावयति।

पृ. ३१ पं. १६ अत्रेति–सुखविवर्त्तस्सम्प्रत्यस्तीत्यस्मिन्नित्यर्थः।

पृ. ३१ पं. १६ हि-यतः, वर्त्तमानकालः क्षणमात्ररूप एवास्मिन्नये इष्ट इत्यतः क्षणस्थायीत्युक्तं, सुखस्य तदाधारस्यात्मनश्च सत्त्वेऽपि सुखसत्त्वसम्भवात्तदवगाहने न निरुक्तलक्षणसमन्वय इत्यत उक्तं पर्यायमात्रमिति, पर्यायमात्र प्रदर्शने तदाभासेऽपि समस्तीत्यतः प्राधान्येनेति, प्रधानतया पर्यायमात्रस्य प्रदर्शनं तदेव भवेत् तदाधारस्यात्मद्रव्यस्य गौणतयाऽवगाहनलक्षणमनर्पितत्वम्भवेदतस्तदुपदर्शयति।

पृ. ३१ पं. १७ तदधिकरणभूतमिति–पर्यायार्थिकस्य प्रथमभेदमृजुसूत्रं लक्षयित्वा द्वितीयभेदं शब्दनयं लक्षयति।

पृ. ३१ पं. १९ कालादिभेदेनेति–क्षणमात्रस्थायित्वमर्थस्य पर्यायार्थिकनयभेद चतुष्टयेऽपि साधारणं, ऋजुसूत्रात्परं शब्दनये कालादिभेदेन शब्दस्य भिन्नार्थत्वं विशेषः, ऋजुसूत्रनयो हि कालादिभेदेऽपि शब्दस्य वाच्यभेदं नेच्छतीति।

पृ. ३१ पं. १९ ध्वनेः–शब्दस्य

पृ. ३१ पं. १९ अर्थभेदं–वाच्यभेदं, प्रतिपद्यमानः स्वीकुर्वाणः अभिप्राय इति दृश्यम् एतावल्लक्षणम्।

पृ. ३१ पं १९ शब्दः–शब्दनयः इति लक्ष्यम्। कालादिभेदेनेत्युक्तं, तत्र के कालादय इति जिज्ञासायामाह।

पृ. ३१ पं. १९ कालेति–तत्र कालभेदनार्थभेदमुदाहरति।

पृ. ३१ पं. २० तत्रेति–कालादिभेदेषु मध्य इत्यर्थः कारकभेदेनार्थभेदमुदाहरति।

पृ. ३१ पं. २२ करोतीति–कारकभेदेनेत्यन्तरं कुम्भस्य भेदप्रतिपत्तिरिति दृश्यं, लिङ्गभेदेन ध्वनेरर्थभेदमुदाहरति।

पृ. ३१ पं. २२ तट इति–लिङ्गभेदेनेत्यनन्तरं तटस्य भेदप्रतिपत्तिरिति दृश्यम्, सङ्ख्याभेदेन ध्वनेरर्थभेदमुदाहरति।

पृ. ३१ पं. २३ दारा इति–सङ्ख्याभेदेनेत्यन्तरं स्त्रीरूपार्थस्य भेदप्रतिपत्तिरिति दृश्यम्, पुरुषभेदानार्थभेदमुदाहरति।

पृ. ३१ पं. २३ यास्यसीति–यास्यसीति सम्बोध्ये मध्यमपुरुषे प्रयुज्यते, यास्यतीति अन्यपुरुषे स्वसम्बोध्यभिन्ने उत्तममध्यमभिन्ने तृतीयपुरुषे प्रयुज्यत इति पुरुषभेदः, पुरुषभेदेनेत्यन्तरमेकस्यापि भविष्यत्कालीन प्रयाणकर्तुरर्थस्य भेदप्रतिपत्तिरिति दृश्यम्, उपसर्गभेदमुदाहरति।

पृ. ३१ पं. २४ सन्तिष्ठते–उपसर्गभेदेनेत्यनन्तरमेकधात्वर्थस्यापि भेदप्रतिपत्तिरिति दृश्यम्, ऋजुसूत्राभिमतस्य क्षणिकस्यैकस्यार्थस्य कालकारकलिङ्गाद्यवान्तरभेदकशब्दभेदेनाभेदमुररीकुर्वाणं शब्दनयं लक्षयित्वा पर्यायार्थिकस्य तृतीयभेदं समभिरूढनयं लक्षयति ।

पृ. ३१ पं. २६ पर्यायशब्देषु–समभिरोहन्नित्यन्तं लक्षणं समभिरूढ इति लक्ष्यम् एकप्रवृत्तिकाविभिन्नानुपूर्वीसङ्घटितवर्णसमुदायलक्षणाः शब्दाः पर्यायशब्दाः यथा घट–कुट–कुम्भ–कलसादयस्तेषु निरुक्तिभेदेन घटते चेष्टते इति घटः, कुटति कौटिल्यमनुभवतीति कुटः, कुः पृथिवी ताम्भासयतीति कुम्भः, कं जलं लसति यत्र स कलस इत्येवं व्युत्पत्तिभेदेन,

पृ. ३१ पं. २६ भिन्नम्–पृथगेव, अर्थवाच्यं समभिरोहन् प्रतिपादयन् अभिप्रायविशेषः समभिरूढनय इत्यर्थः । शब्दनयात्पूर्वमभिहितात्सम्प्रत्येतत्पराभिधानात्समभिरूढस्य भेदं स्पष्टयति शब्दनयो हीति ।

पृ. ३१ पं. २७ हि–यतः

पृ. ३१ पं. २७ शब्दनयः–साम्प्रतनयः

पृ. ३१ पं. २७ पर्यायभेदेऽपि–एकस्य घटरूपार्थस्य घट–कुट–कुम्भादिनामभेदेऽपि ।

पृ. ३१ पं. २७ अर्थाभेदं–घटरूपार्थस्यैक्यम् ।

पृ. ३१ पं. २७ अभिप्रैति–इच्छति, समभिरूढस्तु समभिरूढाख्यनयः पुनः ।

पृ. ३१ पं. २८ पर्यायभेदेन–नाम्ना भेदे ।

पृ. ३१ पं. २८ अर्थान्–संज्ञिनः ।

पृ. ३१ पं. २८ भिन्नान्–घटवाच्यात्कुटवाच्यो भिन्नः कुटवाच्यात्कुम्भवाच्यो भिन्न इत्येवं नानाभूतान् ।

पृ. ३१ पं. २८ अभिमन्यते–स्वीकुरुते, समभिरूढाभासाद्व्यवच्छित्तये आह ।

पृ. ३१ पं. २८ अभेदं त्वर्थगतम्–पर्यायशब्दानामर्थगतभेदन्तूपेक्षते, न प्रतिक्षिपति किन्तु तत्र गजनिमीलिकामवलम्बत इत्युपेक्षत इत्यस्यार्थः। उदाहरति ।

पृ. ३२ पं. १ इन्दनादिति–देवाधिपत्यादिलक्षणैश्वर्यात् ।

पृ. ३२ पं. १ शकनात्–वृत्रादिशत्रूणां मारणे सामर्थ्यात् ।

पृ. ३२ पं. २ पूर्दारणात्–शत्रुपुरादिविध्वंसनात्, पर्यायनयस्य तुरीयभेदमेवम्भूतनयं लक्षयति ।

पृ. ३२ पं. ३ शब्दानामिति–एतन्मते सर्वेषां शब्दानां क्रियाशब्दत्वाद्व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियैव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यभिसन्धाय स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतेत्युक्तं, अत्र स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थंवाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्निति लक्षणम्, एवम्भूत इति लक्ष्यम्, अभ्युपगच्छन्नित्यनन्तरमभिप्रायविशेष इति दृश्यम्, उदाहरति ।

पृ. ३२ पं. ४ यथेन्दनमिति–ऐश्वर्यम्, समभिरूढनयोऽपि व्युत्पत्तिभेदनिमित्तकसंज्ञाभेदतोऽर्थभेदमभ्युपगच्छति एवम्भूतोऽपि तथेति किं कृतोऽनयोर्भेद इत्यपेक्षायामाह ।

पृ. ३२ पं. ४ समभिरूढनयो हीति–यदैश्वर्याद्यनुभवति वासवादिर्यदा च नानुभवति उभयकालेऽपि तत्रेन्द्रादिशब्दव्यपदेश्यत्वं समभिरूढनयो यतः स्वीकरोतीत्यर्थः। इन्दनादिक्रियाऽभावकाले व्युत्पत्तिनिमित्तभूताया इन्दनादिक्रियाया अभावात्कथं तत्रेन्द्रादिशब्दप्रवृत्तिरित्यपेक्षायामाह ।

पृ. ३२ पं. ६ क्रियोपलक्षितेति–यदा कदाचिदिन्दनादिक्रियाया अधिकरणे वर्त्तमानं यद्वासवत्वादिलक्षणं सामान्यं तस्यैव इन्द्रादिशब्दप्रवृत्तौ निमित्तत्वेन तस्येन्दनादिक्रियाशून्यकालेऽपि वासवादौ सत्त्वेन तद्बलादिन्द्रादिव्यपदेशस्य सम्भवादित्यर्थः । दृश्यते च व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाया अभावदशायामपि तत्समानाधिकरणसामान्यविशेषलक्षणप्रवृत्तिनिमित्तबलाच्छब्दव्यपदेश्यत्वमिति नादृष्टचरीयं कल्पनेत्याह ।

पृ. ३२ पं. ७ पशुविशेषस्येति–गवात्मकपशोरित्यर्थः। कथं तत्रापि गमनक्रियाविरहकाले गोशब्दव्यपदेश इत्याकाङ्क्षायामाह। तथारूढेरिति गोशब्दस्य गोत्वावच्छिन्ने शक्तिरेव रूढिः अवयवशक्तिर्योगः समुदायशक्तिः रूढिः तस्यास्सद्भावादित्यर्थः इत्थं समभिरूढाभिमतमुपदर्श्य तत्त्वार्थे एवम्भूताभिमन्तव्यमुपदर्शयति ।

पृ. ३२ पं. ८ एवम्भूत इति....तत्क्रियाकाले–ऐश्वर्याद्यनुभवकालएव।

पृ. ३२ पं. ९ अभिमन्यते–स्वीकरोति, यदैव यन्नामव्युत्पत्तिनिमित्त क्रिया यत्र वर्त्तते तदैव तत्र तन्नाम्ना व्यपदेशो नान्यदपीत्येवमेवम्भूतनयः स्वीकरोतीत्यर्थः, नन्वेवं व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाया एव प्रवृत्तिनिमित्तत्वाभ्युपगमे जातिशब्द–गुणशब्द–क्रियाशब्द–यादृगिच्छिकशब्द–द्रव्यशब्द इत्येवं पञ्च प्रकारत्वं नाम्नां भज्येत, सर्वेषां क्रियाशब्दत्वस्यैव प्राप्तेरिति चेत्, अत्रेष्टापत्तिरेवास्माकमित्याह।

पृ. ३२ पं. ९ न हि....अक्रियाशब्दः–क्रियाभिन्नशब्दः ।

पृ. ३२ पं. १० अस्य–एवम्भूतनयस्य मते इति शेषः, तत्र गोत्वाश्वत्वादिजातिप्रवृत्तिनिमित्तकत्वेन जातिशब्दतयाऽभिमतानां गवादिशब्दानां क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तकत्वेन क्रियाशब्दत्वं व्यवसाययति ।

पृ. ३२ पं. १० गौरश्व इत्यादि–गुणप्रवृत्तिनिमित्तकतया गुणशब्दत्वेनाभिमतानां शुक्लादिशब्दानां क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तकत्वोपदर्शने क्रियाशब्दत्वमुपदर्शयति ।

पृ. ३२ पं. १२ शुक्लो, नील इति–प्रतिनियततत्तच्छब्दवाच्यतालक्षणोपाधिविशिष्टवाच्यकत्वेन पुरुषविशेषसङ्केतितत्वेन वाच्यताशब्देन देवदत्तादिशब्दविशिष्टे देवदत्तादिशब्दानां शक्तिरिति तत्तच्छब्दलक्षणोपाधिप्रवृत्तिनिमित्तकतया यदृच्छाशब्दतयाऽभिमतानां देवदत्तादिशब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाप्रवृत्तिनिमित्तकत्वोपदर्शनेन क्रियाशब्दत्वं सङ्गमयति ।

पृ. ३२ पं. १३ देवदत्तो यज्ञदत्त इतिः—संयोगसम्बन्धेन द्रव्यविशेषविशिष्टवाचकतयाऽभिमतः संयोगिद्रव्यशब्दः समवायसम्बन्धेन द्रव्यविशेषविशिष्टवाचकतयाऽभिमतः समवायिद्रव्यशब्द इत्येवमुभयविधस्यापि द्रव्यशब्दस्य क्रियाविशेषप्रवृत्तिनिमित्तकत्वेन क्रियाशब्दत्वमुपपादयति ।

पृ. ३२ पं. १५ संयोगिद्रव्यशब्दः—दण्डिन् शब्दः संयोगिद्रव्यशब्दः दण्डपुरुषयोर्द्रव्ययोस्संयोगसम्बन्धस्य भावात्, विषाणिन् शब्दः समवायिद्रव्यशब्दः, विषाणस्यावयवत्वेन गवादेश्चावयवित्वेनावयवावयविनोस्समवायसम्बन्धस्य भावात्, यद्यप्यवयवी अवयवे वर्त्तते न त्ववयवोऽवयविनि, एवञ्च विषाणे समवायेन गवादेः सत्त्वं न तु गवादौ विषाणस्य, तथापि समवायेनाधेयत्वमपि समवाय एवेत्यभिप्रायः। जातिशब्दादिभेदेन शब्दे पञ्चविधत्वमननं च व्यवहारनयमाश्रित्य ततश्च तत्कल्पितमेव न तु वास्तविकमतेनादरणीयमित्याह।

पृ. ३२ पं. १७ पञ्चतयी तु—प्रवृत्तिरिति दृश्यम्, पञ्चतयी पञ्चप्रकारा जात्यादिप्रवृत्तिनिमित्तमाश्रित्य शब्दानां प्रवृत्तिः व्यवहारमात्रमाश्रित्य, यथा पन्था गच्छति कुण्डिका श्रवति अयो दहतीत्यादिरुपचारत एव न तु वस्तुस्थितिमनुरुध्य तथेयमपीति, यदि यथावस्थितवस्तुस्वरूपग्राहिनिश्चयनयादियं स्यात्तदाऽभ्युपगमपथं गच्छेदपि न चैवमित्याह।

पृ. ३२ पं. १८ न तु निश्चयादितीति अयं नयः—एवम्भूतनयः, अर्थनयशब्दनयभेदेन नयविभागमुपदिशति।

पृ. ३२ पं. १९ एतेषु—उपवर्णितेषु नैगमादिसप्तविधनयेष्वित्यर्थः।

पृ. ३२ पं. १९ आद्याश्चत्वारः—नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राः प्राधान्येनेति प्राधान्येन सामान्येन सामान्यं विशेषं वाऽर्थमाश्रित्यैव वस्तुस्वरूपं परिच्छिन्दतो नयविशेषस्वरूपताम्प्रतिपद्यन्ते, सामान्यमात्रविषयकत्वात्सङ्ग्रहः विभिन्नसामान्यविशेषोभयविषयकत्वान्नैगमः उत्तरोत्तरविशेषविषयकत्वाद्व्यवहारः क्षणिकविशेषरूपार्थविषयकत्वादृजुसूत्र इति सामान्यविशेषोभयात्मकस्यार्थस्यैव सामान्यांशं विशेषांशं वाऽर्थम्प्राधान्येन गोचरयन्त्येते नया इति अर्थनया उच्यन्त इत्यर्थः।

पृ. ३२ पं. १९ अन्त्यास्तु त्रयः—शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्यास्त्रयो नयाः। प्राधान्येनेति एते नयाः शब्दस्य वैलक्षण्येनार्थवैलक्षण्यमुशन्ति अर्थान् शब्दवशे स्थापयन्ति यथा कालकारकलिङ्गादिभेदः शब्दगत एव व्युत्पत्तिभेदोऽपि शब्दस्यैव ततोऽर्थभेदमुररीकुर्वन्तः शब्दाद्यास्त्रयो नयाः प्रधानभावेन शब्दविषयकत्वाच्छब्दनया इत्यर्थः । अर्पितनयानर्पितनयाभ्यां नयस्य द्वैविध्यमुपदर्शयति ।

पृ. ३२ पं. २० तथेति—विशेषग्राहिण इति अर्प्यते विशेष्यते इत्यर्पितो विशेषस्तद्ग्राहिणः सामान्यविशेषात्मकवस्तुनि उक्तेषु नयेषु ये विशेषग्राहिणस्ते अर्पितनयाः कथ्यन्ते इत्यर्थः ।

पृ. ३२ पं. २१ सामान्यग्राहिणश्चेति—अनर्पितविशेषितं सामान्यं तद्ग्राहिणः ये पुनः सामान्यमेव प्राधान्येन गृह्णन्ति ते नया अनर्पितनया इति व्यपदिश्यन्ते एतेन सामान्यमात्रग्राही स ग्रहोऽर्पितनयः । नैगमश्च सामान्यांशं गृह्णन्ननर्पितनयः, विशेषमवगाहमानश्चार्पितनयः, व्यवहाराद्यास्तु विशेषमात्रग्राहिणोऽर्पितनया एवेति अथवाऽर्पितानर्पितनयौ समयप्रसिद्धावेवावगन्तव्याविति विवेकः । तद्विभजनफलमुपदर्शयति ।

पृ. ३२ पं. २१ तत्रेति—अर्पितानर्पितनययोर्मध्य इत्यर्थः ।

पृ. ३२ पं. २२ तुल्यमेवेति—विशेषो यतो न गृह्णाति नयोऽर्पितस्ततस्तन्मते सिद्धत्वं साधारणो धर्मस्सर्वेषामविशिष्टमिति तुल्यरूपत्वमित्यर्थः । विशेषग्राह्यर्पितनये तु यावन्त एकसमयसिद्धा भगवन्तस्तेषामेकसमयसिद्धत्वं यद्यपि सामान्ये तथापि तद् द्विसमयसिद्धेषुत्रिसमयादिसिद्धेषु न वर्त्तते इति भवति विशेषस्तेन तुल्यतैकसमयसिद्धानामेव भगवतां तदभावादेव द्विसमयादिसिद्धैस्सह न तुल्यता यावन्तश्च द्विसमयसिद्धा भगवन्तस्तेषां द्विसमयसिद्धत्वलक्षणेनैकसमयादिसिद्धव्यावृत्तेन धर्मेण तुल्यता, न तु स्वासमानसमयसिद्धैस्समं तुल्यत्वम्, एवं त्रिसमयादिसिद्धेष्वपि बोध्यम् । व्यवहारनयनिश्चयनयाभ्यामपि नयस्य द्वैविध्यम्, तत्र व्यवहारनयमुपदर्शयति ।

पृ. ३२ पं. २४ तथा, लोकप्रसिद्धेति—व्यवहारनयमुदाहरति ।

पृ. ३२ पं. २४ यथा–भ्रमरे पञ्चापि वर्णाश्शास्त्रे प्रतिपादिताः तथापि लोकाः भ्रमरं श्याममेव व्यपदिशन्ति तदनुसारेण परेण व्यवहारनयेनापि श्यामो भ्रमर इत्येव व्यपदिश्यत इत्यर्थः। निश्चयनयं प्ररूपयति।

पृ. ३२ पं. २५ तात्त्विकार्थेति–शास्त्रे सिद्धान्तित एवार्थस्तात्त्विको भवति तात्त्विकमर्थमेव यः स्वीकरोति स नयो निश्चयनय इत्यर्थः।

पृ. ३२ पं. २६ स पुनः–निश्चयः पुनः, पुनश्शब्दोऽयं त्वर्थे, तेन व्यवहारनयादस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यते, तदेव वैशिष्ट्यमाह।

पृ. ३२ पं. २६ मन्यते इत्यादिना–पञ्चवर्णो भ्रमर इत्यभ्युपगच्छति निश्चयनय इत्यर्थः, कथमस्य पञ्चवर्णत्वं येन श्रद्दधीमहि तद्व्यपदेशकस्य निश्चयनयस्य तात्विकार्थाभ्युपगमपरत्वमित्याकाङ्क्षायामाह।

पृ. ३२ पं. २७ बादरस्कन्धत्वेन तच्छरीरस्य–भ्रमरशरीरस्य यदि पञ्चवर्णो भ्रमरस्तर्हि शुक्लरूपादिकमपि श्यामरूपवदेतच्छरीरे उपलभ्येत नोपलभ्यते चैतावता श्यामवर्णत्वमेव किमिति न कल्प्यते इत्यत आह।

पृ. ३२ पं. २७ शुक्लादीनां च–सन्त्येव तत्र शुक्लादीनि परं श्यामरूपेणान्तर्भूतानि तिरोभूतानि तान्येतान्यतानुपलक्षणात्प्रत्यक्षेऽभासनात् न त्वनुपलभ्यमात्रेणासत्त्वमेव तेषां बादरस्कन्धत्वेन तत्र तेषां सद्भावस्य प्रमितत्वात्, तिरोभवनप्रभावितानुपलभ्यतोऽप्यसत्त्वे दिवा सूर्यकरावमर्शाभिभूतत्वान्नक्षत्राणामप्यसत्त्वं स्यादित्यर्थः। व्यवहारनिश्चयनययोस्स्वरूपनिरूपणे प्रकारान्तरमाविष्करोति।

पृ. ३२ पं. २८ अथवा–अथवेत्यादिनैव चायं प्रकारः विशेषावश्यके उपदर्शितः, तत्पाठो यथा "अथवा यत्किमप्येकैकस्यैव नयस्य मतं तद्व्यवहारः प्रतिपद्यते नान्यत् कुतः, यस्मात्सर्वैरपि प्रकारैर्विशिष्टं सर्वनयमतसमूहमयं वस्त्वसौ प्रतिपत्तुं न शक्नोति स्थूलदर्शित्वादिति। निश्चयस्तु निश्चयनयो यद् यथाभूतं परमार्थतो वस्तु तत् तथैव प्रतिपद्यते॥ इति निश्चयनयस्य सर्वमतार्थग्राहित्वे प्रमाणत्वं प्रसज्यत इत्याशङ्क्य प्रतिक्षिपति।

पृ. ३३ पं. १ न चैवमिति-य एव स्वाभिमतोऽपि यदि तदा तं प्राधान्येनायमुररीकरोति यश्च स्वार्थो नास्य स सर्वनयमतोऽपि नैतन्नयाभ्युपगमविषय न प्रमाणत्वमस्येत्याह ।

पृ. ३३ पं. २ सर्वनयमतस्यापि स्वार्थस्य-स्वाभिमतार्थस्य ।

पृ. ३३ पं. २ तेन-निश्चयनयेन एवं ज्ञाननयक्रियानयभेदेनापि नयस्य द्वैविध्यमित्याह ।

पृ. ३३ पं. ३ तथा-तत्र ज्ञाननयस्वरूपमाह ।

पृ. ३३ पं. ३ ज्ञानमात्रेति-मुक्तौ प्राधान्येन ज्ञानमेव कारणमित्यभ्युपगमपरा अभिप्रायविशेषा ज्ञाननया इत्यर्थः । ज्ञाननयत्वेनाभिमता नैगमसङ्ग्रहव्यवहारास्त्रय इति तेषां बहुत्वाद्बहुवचननिर्देशः, क्रियानयस्य स्वरूपमाह ।

पृ. ३३ पं. ४ क्रियामात्रेति-मुक्तिं प्रति प्राधान्येन । क्रियाया एव कारणत्वमित्यभ्युपगमपरा अभिप्रायविशेषाः क्रियानया इत्यर्थः, अत्रापि क्रियानयत्वेनाभिमतानामृजुसूत्रशब्दसमभिरूढएवम्भूतानां च चतुर्णां बहुत्वाद्बहुवचननिर्देशः । ये ज्ञाननयत्वेनाभिमतास्तेषाम्मते क्रियाया अपि कारणत्वाभ्युपगमोऽस्त्येव तथापि प्राधान्येन ज्ञानस्यैव ऋते ज्ञानान्न मुक्तिरित्यस्य प्राधान्येनावलम्बनात् न ह्येकचक्रो हि रथः प्रयातीत्यतः सहकारितया विशुद्धक्रियाचरणतो मनसो विशुद्धिभावेन ततः सम्यग्ज्ञानोदयादिति पृथग्भावेन कारणत्वमज्ञानाद्बन्ध इत्यज्ञाननिवृत्तिरूपा मुक्तिः, ये च क्रियाप्राधान्यवादिनस्तेषामपि मुक्तौ ज्ञानं कारणं, परं प्रधानं कारणं क्रियैव, अमुकस्माद्भेषजादमुकव्याधेरुपशान्तिरिति जानतोऽपि रोगिणो विधित औषधस्यासेवने रोगनिवृत्तेरभावादिति क्रियाया एव प्रधानतेति बोध्यम् ।

पृ. ३३ पं. ५ तत्र-ज्ञाननयक्रियानययोर्मध्ये, ऋजुसूत्रादय इत्यत्रादिपदेन शब्दादिनयानां ग्रहणम्, क्रियायाः प्राधान्ये निमित्तमाह ।

पृ. ३३ पं. ६ तस्या एव-क्रियाया एवेत्यर्थः ।

पृ. ३३ पं. ७ चारित्रेति—चारित्रलक्षणक्रियायाः, श्रुतपदेन ज्ञानस्य, सम्यक्त्वपदेन सम्यग्दर्शनस्य प्रतिपादनम्, ननु सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्ग इति तत्त्वार्थसूत्रतस्सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणां त्रयाणां मोक्षकारणत्वं जैनराद्धान्तानुमते तच्च नैगमादयो नया अपि मन्यन्ते इति तेषां प्रमाणत्वमेव भवेत्कुतो ज्ञाननयत्वमित्यपेक्षायामाह ।

पृ. ३३ पं. ८ तथापि—त्रयाणां मोक्षकारणत्वमभ्युपगच्छन्तोऽपि ।

पृ. ३३ पं. ८ व्यस्तानामेव—मोक्षत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकविभिन्नधर्माकलितानामेव, एवं सत्येव ज्ञानस्य प्राधान्येन कारणत्वं तदन्ययोश्च गौणतयेत्युपगमस्तेषां युज्यते समुदितानां कारणत्वे तु सर्वेषां प्राधान्यमेव स्यादित्याह न तु समस्तानाम्, उक्तसूत्रे च मोक्षमार्ग इत्यैकवचनस्यैकत्वमर्थे विवक्षितमन्यथाविशेषणवाचकपदस्य विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसङ्ख्याविरुद्धसङ्ख्याविवक्षाविषयत्वाभाववद्विभक्तिकत्वतस्समानवचनत्वस्यैव नियमेन मोक्षमार्गा इति बहुवचनान्तत्वं प्रसज्येतेति मोक्षमार्गत्वम्मोक्षम्प्रति कारणत्वं तत्र तदेकत्वमन्वेति एवञ्च त्रयाणां मोक्षम्प्रत्येककारणत्वं सूत्रोपदिष्टन्तदा स्याद्यदि समुदितानामेव कारणत्वम्भवेदितिसमुदितकारणत्वाभ्युपगमे सत्येव प्रमाणत्वं तच्च तेषान्नास्तीति, कुतो न नैगमादयस्समस्तानां कारणत्वमिच्छन्तीत्यपेक्षायामाह ।

पृ. ३३ पं. ९ एतन्मते—नैगमादिमत इत्यर्थः, ज्ञानादित्रयादेवेत्येवकारेण ज्ञानादेरेकैकस्य व्यवच्छेदः ।

पृ. ३३ पं. १० अन्यथा—ज्ञानादित्रयादेव मोक्ष इति नियमाभ्युपगमे ।

पृ. ३३ पं. १० समुदायवादस्य—समुदितैर्ज्ञानादिभिस्त्रिभिर्मुक्तिर्न तु व्यस्तैरिति वादस्य स्थितपक्षत्वात् प्रमाणवादत्वात्, सम्यग्ज्ञान—सम्यग्दर्शन—सम्यग्चारित्ररूपरत्नत्रयादेव मोक्ष इति सिद्धान्तपक्षे जैनीये यथा—

> शक्तिर्निपुणतालोक—काव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् ।
> काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ १ ॥

इति वचनात् हेतुरित्यत्रैकवचनविवक्षितहेतुत्वगतैकत्वतश्शक्तिनिपुणताऽभ्यासानां त्रयाणां समुदितानां काव्यम्प्रत्येकमेव कारणत्वं पर्याप्तं, तथोक्तरत्नत्र-

याणां समुदितानामेकमेव मोक्षम्प्रति हेतुत्वम्पर्याप्तं, नैगमादिनयप्रसूतनैयायिकादिमते तु यथा वह्निम्प्रति तृणारणिमणीनां वह्निगतवैजात्यत्रयम्प्रकल्प्य विजातीयवह्निम्प्रति तृणं कारणं, विजातीयवह्निम्प्रति अरणिः कारणं, विजातीयवह्निम्प्रति मणिः कारणमितिकारणतात्रयं तथा मोक्षगतवैजात्याभावेऽपि सम्यग्ज्ञानव्यवहितोत्तरजायमानमोक्षम्प्रति सम्यग्ज्ञानं कारणमित्यादिरीत्या त्रयं कारणं, तत्र योऽभिप्रायविशेषो नैगमाद्यभिप्रायावान्तरवैलक्षण्यवान् ज्ञानस्य मोक्षम्प्रति कारणत्वमङ्गीकरोति तदपेक्षया नैगमादिनयानां ज्ञाननयत्वमित्येवं नयवादस्य स्थितपक्षात्सिद्धान्तवादात्प्रमाणमूर्द्धाभिषिक्ताद्भेद इति । नयानाम्मध्ये यस्य नयस्य यन्नयापेक्षया बहुविषयत्वं यन्नयापेक्षया चाल्पविषयत्वं तदुपदर्शयितुं तत्र प्रतिपाद्यजिज्ञासामाह—

पृ. ३३ पं. १२ कः पुनरत्र–नयानाम्मध्ये

पृ. ३३ पं. १२ सन्मात्रगोचरात्–महासामान्यसन्मात्रविषयकात् ।

पृ. ३३ पं. १३ तावदिति–वाक्यालङ्कारे

पृ. ३३ पं. १३ भावाभावभूमिकत्वात्–भावः सत्तासामान्यसत्तापेक्षया अभावस्तद्भिन्नो विशेषः यदपि द्रव्यत्वादिसामान्यसत्तापेक्षया विशेषो भवत्येवेति सङ्ग्रहस्य सन्मात्रविषयकत्वेनाल्पविषयकत्वं तदपेक्षया नैगमस्य सामान्यविशेषोभयविषयकत्वेन बहुविषयकत्वमित्यर्थः, व्यवहारपेक्षया सङ्ग्रहस्य बहुविषयत्वं, व्यवहारस्य च सङ्ग्रहापेक्षयाल्पविषयकत्वमिति दर्शयति ।

पृ. ३३ पं. १४ सद्विशेषप्रकाशकादिति–यद्यपि सङ्ग्रहः सन्मात्रमेव विषयीकरोति तथापि सन्मात्रे जगदेव प्रविष्टमिति तस्य व्यवहारपेक्षया बहुविषयकत्वमित्यभिसन्धानेनोक्तम् ।

पृ. ३३ पं. १४ समस्तेत्यादि–ऋजुसूत्रापेक्षया व्यवहारस्य बहुविषयत्वं ऋजुसूत्रस्याल्पविषयत्वमिति दर्शयति ।

पृ. ३३ पं. १५ वर्त्तमानेति–साम्प्रतनयापेक्षया ऋजुसूत्रस्य बहुविषयत्वं तदपेक्षया साम्प्रतस्याल्पविषयत्वं दर्शयति ।

पृ. ३३ पं. १७ कालादिभेदेन...तद्विपरितवेदक–कालकारकादिभेदेऽप्यभिन्नार्थप्रदर्शकः, प्रकारान्तरेणापि शब्दर्जुसूत्रयोरल्पबहुविषयत्वे दर्शयति।

पृ. ३३ पं. १८ न केवलं....भावघटस्यापि–एतत्स्वरूपप्ररूपको विशेषावश्यकग्रन्थो यथाः–" अथवा प्रत्युपन्नऋजुसूत्रस्याविशेषित एव सामान्येन कुम्भोऽभिप्रेतः, शब्दनयस्तु स एव सद्भावादिभिः विशेषिततरोऽभिमतः इत्येवमनयोर्भेदः। तथाहि–स्वपर्यायैः परपर्यायैरुभयपर्यायैश्च सद्भावेनासद्भावेनोभयेन चार्पितो विशेषतः कुम्भः कुम्भाकुम्भावक्तव्योभयरूपादिभेदो भवति सप्तभङ्गम्प्रतिपद्यत इत्यर्थः। तदेवं स्याद्वाददृष्टं सप्तभेदं घटादिकमर्थं यथाविवक्षमेकेन केनापि भङ्गेन विशेषिततरमसौ शब्दनयः प्रतिपद्यते नयत्वात् ऋजुसूत्राद्विशेषिततरवस्तुग्राहित्वाच्च स्याद्वादिनस्तु सम्पूर्णसप्तभङ्ग्यात्मकमपि प्रतिपद्यन्त " इति।

पृ. ३३ पं. २० इत्यादि–इत्यादिपदात्स्याद्घटस्यादघटश्च स्यादवक्तव्य इत्यादिभङ्गानाम्परिग्रहः।

पृ. ३३ पं. २० तेन–शब्दनयेन

पृ. ३३ पं. २० तस्य–शब्दनयस्य

पृ. ३३ पं. २१ उपदेशात्–"इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पन्नो नओ सद्दो" इति निर्युक्तिवचनेन" तं चिय रिजुसुत्तमयं पच्चुप्पन्नं विसेसियतरं सो। इच्छइ भावघडं चिय जं न उ नामादिए तिन्नि" इति भाष्यवचनेन " विशेषिततरः शब्दो भावमात्राभिमानतः। सप्तभङ्ग्येषणाल्लिङ्गभेदादेरर्थभेदतः॥ इत्यादि वचनेन च शब्दनयस्य ऋजुसूत्राद्विशेषिततरत्वस्य प्रतिपादनात्, उपदर्शितवचने विशेषिततरः शब्द इति स्थाने ऋजुसूत्राद्विशेषोऽस्य" इत्यपि पाठ उक्तार्थक एव। नन्वेवं सप्तभङ्ग्यभ्युपगमे ऋजुसूत्रस्य स्याद्वादित्वमेव स्यान्न तु नयत्वं। सम्पूर्णार्थोपदर्शकत्वेन तदेकदेशमात्रोपदर्शकत्वाभावादित्यत आह।

पृ. ३३ पं. २१ यद्यपी...एतदभ्युपगमेति–घटाद्यभ्युपगमेत्यर्थः।

पृ. ३३ पं. २३ अत्र–शब्दनये—

पृ. ३३ पं. २४ वदन्ति–विशेषावश्यककारादय इति द्रष्टव्यम्, तद्ग्रन्थपाठ-स्तु दर्शित एवेति। समभिरूढापेक्षया शब्दस्य बहुविषयत्वं तदपेक्षया समभिरूढ स्याल्पविषयत्वं दर्शयति।

पृ. ३३ पं. २४ प्रतिपर्यायशब्द....तद्भिपर्यायानुयायित्वात्–पर्याय-भेदेऽप्यर्थाभेदविषयकाभिप्रायत्वात्, पर्यायशब्दभेदेनार्थभेदमभ्युपगच्छतस्सम-भिरूढनयात्पर्यायशब्दभेदेऽप्यर्थाभेदमेवाभ्युपगच्छन् शब्दनयो बहुविषयक इत्यर्थः एवम्भूतात्समभिरूढस्य बहुविषयत्वं तस्मादेवम्भूतस्याल्पविषयत्वं दर्शयति।

पृ. ३३ पं. २५ प्रतिक्रियामिति–यदा यच्छब्दव्युत्पत्तिनिमित्तक्रिया वर्त्तते तदैव तच्छब्दवाच्यस्सोऽर्थस्तत्क्रियाविरहकाले तच्छब्दार्थस्स न भवतीत्ये-वमुररीकुर्वाणादेवम्भूतनयात् यदा कदापि व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाभावे तादृशक्रि-याविरहकालेऽपि तादृशक्रियोपलक्षितसामान्यविशेषलक्षण प्रवृत्तिनिमित्तबलात्त-च्छब्दवाच्यस्सम्भवत्येवमभ्युपगच्छन्नेवम्भूतनयो बहुविषय इत्यर्थः। एतावता नैगमादिसप्तनयेषु पूर्वपूर्वनयापेक्षयोत्तरोत्तरनयस्याल्पविषयत्वमुत्तरोत्तरनयापेक्षया पूर्वपूर्वनयस्य बहुविषयत्वमित्यावेदितं। प्रमाणविचारावसरे दर्शितायास्सप्तभङ्गयाः प्रतिभङ्गं सकलादेशत्वं विकलादेशत्वं च भावितमेव तत्र सकलादेशस्वभावावास्तस्याः सम्पूर्णार्थप्ररूपकत्वात्प्रमाणवाक्यमिति "तदिदमागमप्रमाणं सर्वत्र विधिप्रतिषेधा-भ्यां स्वार्थमभिधानं सप्तभङ्गीमनुगच्छति, तथैव परिपूर्णार्थप्रापकत्वलक्षणता-त्त्विकप्रामाण्यनिर्वाहात्" इति ग्रन्थेन प्रतिपादितमेव, परं विकलादेशस्वभावा सप्तभङ्गी न परिपूर्णार्थप्रापिकेति न प्रमाणवाक्यं भवितुमर्हति तर्हि किं सेत्यपेक्षायामाह।

पृ. ३३ पं. २८ नयवाक्यमपि–अपिना यथा प्रमाणवाक्यं स्वार्थमभिधानं सप्तभङ्गीमनुगच्छति तथेत्यर्थस्य सूचनम्, तर्हि नयवाक्यमपि सप्तभङ्ग्यनुगमनतः प्रमाणवाक्यमेव भवेदित्यत आह।

पृ. ३४ पं. १ विकलादेशत्वादिति–परम्–किन्तु।

पृ. ३४ पं. १ एतद्वाक्यस्य–नयवाक्यस्य विकलादेशत्वात्सप्तभङ्ग्यनु-

गमनेऽपि विकलादेशत्वस्यैव भावात्, प्रमाणवाक्यात्सप्तभङ्ग्यनुगामिप्रमाणवाक्यात् ।

पृ. ३४ पं. २ विशेष–भेदः ।

॥ इति सन्नयनिरूपणम् ॥

अथ नयाभासनिरूपणम् ।

नयाभासान्निरूपयति—

पृ. ३४ पं. ४ अथेति–नयनिरूपणानन्तरं प्रसङ्गसङ्गत्या नयाभासा निरूपयन्त इत्यर्थः ।

पृ. ३४ पं. ४ तत्र–नयाभासेषु मध्ये, यथा सन्नयस्य सामान्यतो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्यां द्वैविध्यं तथा नयाभासस्यापि द्रव्यार्थिकाभास पर्यायार्थिकाभासाभ्यां द्वैविध्यं तत्र द्रव्यार्थिकाभासं लक्षयति ।

पृ. ३४ पं. ५ द्रव्यमात्रग्राहीति–प्राधान्येन द्रव्यमात्रग्राहित्वं सद्द्रव्यार्थिकनयेऽपीति तत्रातिव्याप्तिवारणाय पर्यायप्रतिक्षेपीति ।

पृ. ३४ पं. ५ पर्यायमात्रग्राहीत्यादि–पर्यायार्थिकाभासलक्षणे सत्पर्यायार्थिकेऽतिव्याप्तिवारणाय ।

पृ. ३४ पं. ५ द्रव्यप्रतिक्षेपीति–तत्र द्रव्यार्थिकभासास्त्रिविधः–नैगमाभास–सङ्ग्रहाभास–व्यवहारभासभदात् तत्र नैगमाभासं प्ररूपयति ।

पृ. ३४ पं. ६ धर्मिधर्मादीनामिति–धर्मिणोरेकान्तेन भेदावगाहनप्रवणोऽभिप्रायविशेषः धर्मयोरेकान्तेन भेदावग्राह्यध्यवसायविशेषः धर्मधर्मिणोरेकान्तेन भेदसमर्थनपरोऽध्यवसायश्च नैगमाभास इत्यर्थः । कुण्डलाङ्गदेऽत्यन्तभिन्ने इति प्रथमः, सामान्यविशेषौ विभिन्नावेव धर्माविति द्वितीयः, अवयवावयविनौ

गुणगुणिनौ क्रियाक्रियावन्तौ जातिव्यक्ती नित्यद्रव्यविशेषात्यन्तभिन्नावेवेत्याद्या अभिद्रव्यविशेषास्तृतीय इत्यर्थः । नैगमाभासमुदाहरति ।

पृ. ३४ पं. ७ यथा नैयायिकवैशेषिकदर्शनम्–तत्र नैयायिकदर्शने प्रमाण–प्रमेय–संशय–प्रयोजन–दृष्टान्त–सिद्धान्ता–वयव–तर्क–निर्णयवाद–जल्प वितण्डा–हेत्वाभास–छल–जाति–निग्रहस्थानानां तत्त्वाधिगमान्निःश्रेयसाधिगम इति गौतमसूत्रदर्शिताः षोडशपदार्थाः । वैशेषिकदर्शने द्रव्य–गुण–कर्म–सामान्य–विशेष–समवायाः षट् भावाः अभावश्चेति सप्तपदार्थाः। तत्र द्रव्याणि पृथिवी–जल तेजो–वायु–आकाश–दिगात्ममनांसि नवैव, गुणा रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–सङ्ख्या परिमाण–पृथक्त्व–संयोग–विभाग–परत्व–अपरत्व–बुद्धि–सुख–दुःख–इच्छा–द्वेष प्रयत्न–धर्माधर्म–गुरुत्व–द्रवत्व–स्नेह–संस्कार–शब्दाश्चतुर्विंशतिरेव, कर्माणि उत्क्षेपणा–पक्षेपणा–कुञ्चन–प्रसारण–गमनानि पञ्चैव, परमपरश्चेति द्विविधं सामान्यं, नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव, समवायस्त्वेक एव, अभावस्तु–प्रागभाव–प्रध्वंसाभाव–अन्योन्याभाव–अत्यन्ताभावभेदेन चतुर्धा इति सर्वेऽप्येते परस्परमत्यन्तभिन्ना एवोपगता इति नैयायिकवैशेषिकदर्शनं नैगमाभास इत्यर्थः। श्रीसिद्धसेनसूरिमते नैगमः संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भूत इति तदाभासोऽपि तदाभासयोरेवान्तर्भूतः । नैके गमा इति नैगमा इति व्युत्पत्त्याश्रयणान्नैगमनयस्य बहुविधत्वमिति तदाभासस्यापि बहुविधत्वमिति तदाभासस्यापि बहुविधत्वं, तद्यथा कश्चिद्वादी पुरुष एवेदं सर्वमित्यभ्युपगच्छति कश्चित्पुरुषस्याप्येकत्वमनेकत्वञ्चाभ्युपगच्छति एवं कर्तृत्वाकर्तृत्वासर्वगतसर्वगतत्व–मूर्त्तत्वादिवादः पुरुषमाश्रित्य विभिन्नो बहवो नैगमाभासाः, तथा जगदाश्रित्य सेश्वरत्वानीश्वरत्व–प्रधान कारणत्व–परमाणुप्रभवत्वं–स्वकृतकर्मसापेक्षत्वतदभाव–स्वभावकृतत्व–कालकृतत्व नियतिप्रभवत्वाः परस्परनिरपेक्षनिरूपणप्रवणा नैगमाभासा इति द्रष्टव्यम् । सङ्ग्रहाभासं निरूपयति ।

पृ. ३४ पं. ७ सत्ताऽद्वैतमिति–सकलं वस्तु सदात्मकमेव विशेषाः केऽपि न सन्त्येव इत्येवमभ्युपगच्छन्नभिप्रायविशेषः सङ्ग्रहाभास इत्यर्थः । सत्ताद्वैतमुपलक्षणं ज्ञानाद्वैत–शब्दाद्वैतादीनामपि, सङ्ग्रहाभासोऽपि परसङ्ग्रहाभासापरसङ्ग्रहाभासभेदेन द्विविधस्तयोः क्रमेणोदाहरणमाह ।

पृ. ३४ पं. ८ यथाऽखिलान्यद्वैतवादिदर्शनानि—परसङ्ग्रहाभासस्योदाहरणम् ।

पृ. ३४ पं. ९ सांख्यदर्शनञ्चेति—अपरसङ्ग्रहाभासस्योदाहरणम् , तत्र सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव परमार्थसत् तद्भिन्नं जगन्मिथ्यैवेत्येकान्तब्रह्माद्वैतवादिवेदान्तदर्शनम् सङ्ग्रहाभासः, तन्मते अद्वितीयं सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव वस्तु आविद्यकं जगत् मिथ्यैव अविद्या च अज्ञानमिति मायेति च गीयते, सत्त्व रजस्तमोगुणात्मिका च सा, ज्ञानविरोधिनी भावात्मिका च सा पुनः ब्रह्माश्रिता ब्रह्मविषयिणी चेत्येकं मतं यदुक्तं संक्षेपशारीरके—

" आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला ।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥ १ ॥

बहुनिगद्य किमत्र वदाम्यहं शृणुत सङ्ग्रहमद्वयशासने ।
सकलवाङ्मनसातिगता चितिः सकलवाङ्मनसां व्यवहारभाग् ॥२॥"

इति जीवाश्रिता ब्रह्मविषयिणी अविद्येत्यपरं मतम् । तस्याश्चावरणशक्तिः विशेषशक्तिश्चेति शक्तिद्वयं । तत्रावरणशक्तिर्द्विधा असत्त्वापादकाभावापादकभेदात् तत्र सदपि ब्रह्मसत्त्वापादिकयाशक्त्याऽविद्ययाऽऽवृत्तं सदस्तीत्येवमपि यन्न ज्ञायते तदाद्यकृतं सा च शक्तिः परोक्षज्ञानेन नश्यति, ब्रह्मणः परोक्षज्ञाने सति अस्ति ब्रह्मेति प्रतिभासात्, परोक्षज्ञानेन ज्ञायमानमपि ब्रह्म यत्स्पष्टं न भाति तदमानापादकशक्तिकृत्यं, यद्वशादनुमानादिना ज्ञातं तु ब्रह्म तत्कीदृगिति स्फुटं न प्रतीभातीति, विक्षेपशक्तिः सर्जनशक्तिः यद्वशादसदपि जगद् ब्रह्मणि कल्पितम्भवति तत्र ब्रह्मविवर्त्ताधिष्ठानमिति ब्रह्मविवर्त्तं जगत्, विवर्त्तो नाम विषमसत्ताककार्यापत्तिः । ब्रह्मणः सत्ता परमार्थिकी त्रिकालाबाध्यत्वाद्ब्रह्मणः जगतस्तु सत्ता व्यावहारिकी ब्रह्मसाक्षात्कारात्पूर्वमेव व्यवहारकाले तन्न बाध्यते, तत एवं ब्रह्मज्ञानातिरिक्तज्ञानाबाध्यत्वाद्व्यावहारिकस्य घटादेः प्रतिभासकालाबाध्यत्वेन प्रतिभासिकसतश्शुक्तिरजतादेर्भेदः । तस्य व्यवहारकाले एव ब्रह्मज्ञानातिरिक्तेन नेदं रजतमिति ज्ञानेन बाधात् एतेन वेदान्तदर्शने त्रिविधा सत्ता व्याख्याता,

पारमार्थिकी व्यावहारिकी प्रातिभासिकी चेति, यद्यथा न भवति तत्तथाऽवभासत इति विवर्त्तः पर्यवसितः तेन ब्रह्मैव जगद्रूपेणावभासते न तु तद्व्यतिरिक्तं किमपि वस्तु समस्तीति । अविद्यायास्तु परिणामरूपं जगत् परिणामो नाम कारणसमसत्ताककार्यापत्तिः, अविद्या जगतोर्द्वयोरपि व्यावहारिकत्वात् अत एव ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरमविद्यालक्षणोपादानेन सहैव जगतो निवृत्तिरित्येव दिशा ब्रह्माद्वैतवादः पल्लवितः । तदेतन्मतं यथा न सम्भवति तथा श्रीहेमचन्द्रसूरिप्रभृतिभिर्दर्शितम् । उक्तञ्च श्रीहेमचन्द्रसूरिभिः——

"माया सती चेद् द्वयसत्त्वसिद्धि–रथाऽसती हन्त कुतः प्रपञ्चः ।
मायैव चेदर्थसहा च तत्किं, माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम् ॥१॥"

इति एवमेकान्तशब्दाद्वैतज्ञानाद्वैतादिवादा अपि परस्य सङ्ग्रहाभासतयाऽवसेयाः। साङ्ख्यदर्शने पुनः महदादिविकृतिव्रातजनकाशेषशक्तिसमन्वितात्प्रधानादेव मूलप्रकृतेः कार्यभेदा जायन्ते सर्वेषां च प्रकृतिलक्षणकारणात्मकत्वमिति प्रकृत्यात्मना सर्वेषां सङ्ग्रहणाद् सङ्ग्रहाभासत्वमस्य, प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, ततो महत्तत्वं बुद्ध्यापरनामकमाविर्भवति, सत्कार्यवादत्वादेतद्दर्शने पूर्वमसत आद्यक्षणसम्बन्धलक्षणोत्पत्तिर्न कस्यापि, किन्तु सत्कार्यवादत्वात्कारणात्मनाऽवस्थितस्य सामग्र्या आविर्भाव एव, ध्वंसोऽप्येतन्मते तिरोभाव एव न तु सर्वथा विनाशः। महत्तत्वाचाहंकारः, अहङ्काराच्च पञ्च–शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्धात्मकानि तन्मात्राणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाणिपायूपस्थानि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि उभयात्मकं मन इत्येवमेकादशेन्द्रियाणि च जायन्ते पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यश्च शब्दादाकाशः स्पर्शाद्वायुः रूपात्तेजः, रसादापः, गन्धात्पृथिवीत्येवं पञ्चभूतानि जायन्ते तदुक्तमीश्वरकृष्णेन "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥१॥ इति पुरुषश्च प्रकृतिविकृतिभिन्नः । तदुक्तम्—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयस्सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नापि विकृतिः पुरुषः ॥ १ ॥

इति उक्तपञ्चविंशतितत्त्वज्ञानाच्च मुक्तिरेतद्दर्शने, तदुक्तम्–

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥ १॥

असत्कार्यवादो नानेनाभ्युपगतः।

असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ १॥

इत्यनया कारिकयोपदर्शिताद्धेतुकदम्बकात्सत्कार्यव्यवस्थानमित्यादिदिशा साङ्ख्यमतस्य प्रक्रियाऽवसेया, प्रकृतिविकृतिभावेन तत्त्वानां विभजनाद्व्यवहारनयाभासेऽपि साङ्ख्यदर्शनस्य प्रवेशमभिमन्यन्ते सूरयः। एतन्मतमपि मिथ्यात्वादेवाभासो ज्ञेयः मिथ्यात्वञ्च विचारासहत्वात्, महदादीनां प्रधानात्मकत्वे प्रधानस्वरूपं यथाप्रधानादव्यतिरिक्तं न प्रधानकार्यं तथाकार्यत्वं न स्यात् कार्यकारणयोर्भिन्नलक्षणत्वात्, अत एव सर्वथा कार्यकारणयोरभेदमभ्युपगच्छन्साङ्ख्योऽन्येनोपहस्यते "यदेव दधि तत्क्षीरं, यत्क्षीरं तद् दधीति चा वदता विन्ध्यवासित्वं ख्यापितं विन्ध्यवासिना॥ १॥

इत्येवंदिशा विचारासहत्वमस्य भावनीयम्। व्यवहाराभासं निरूपयति।

पृ. ३४ पं. ९ अपारमार्थिकेति–उदाहरति।

पृ. ३४ पं. १० यथा चार्वाकदर्शनमिति–तत्र अपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागाभिप्रायत्वमुपपादयति।

पृ. ३४ पं. १० चार्वाको हीत्यादिना हि—यतः चार्वाकः–प्रत्यक्षैकप्रमाणाभ्युपगन्ता भूतचैतन्यवादी लोकायतिकः

पृ. ३४ पं. १० प्रमाणप्रतिपन्नं-प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धम्, अहं सुखी अहं दुःखीत्यादि प्रत्यक्षमेव तावद् देहादिव्यतिरिक्तात्मद्रव्यलक्षविषयमन्तरेण नोपपद्यते, अन्धकारादौ शरीरेण बाह्येन सहालोकादिसापेक्षचक्षुरिन्द्रियस्य स्वविषयग्राहकस्य सन्निकर्षलक्षणव्यापाराभावेऽप्युपजायमानस्याहं सुखीत्यादिप्रत्यक्षस्य

चाक्षुषत्वासम्भवान्मानसस्य तस्य बहिरिन्द्रियसहकारेण जायमानस्य बहिर्देहादिविषयकत्वासम्भवेऽन्तर्व्यवस्थितात्मविषयकत्वमेवाभ्युपगन्तव्यमित्येवंदिशा प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वमस्त्येवात्मनः, अथापि तत्र प्रत्यक्षप्रमाणविषयत्वे विप्रतिपद्येत सः, तथापि इन्द्रियं सकर्तृकं करणत्वाद्वास्यादिवदित्याद्यनुमानप्रमाणसिद्धत्वं भवत्येवात्मनः, चेतनम् कर्त्ता भवति शरीरञ्च न चेतनं, तस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थविरे स्मरणं न स्यात् । —

नान्यदृष्टं स्मरत्यन्योऽनैकं भूतभवक्रमात् ।
वासना सङ्क्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ।

इति वचनतस्तथाव्यवस्थापितत्वात् यतः, उपचयापचयलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेन न बाल-वृद्धाद्यवस्थशरीरयोरैक्यं भेदे चान्यदृष्टस्यान्येन स्मरणं न भवतीतिनियमेन बाल्यशरीरेणान्येन दृष्टस्य स्थविरशरीरेणान्येन स्मरणासम्भवः, बाल्यशरीरगतसंस्कारलक्षणवासनागुणस्य स्थविरशरीरे गमनमपि वक्तुमनर्हं द्रव्यमात्रवृत्तेः कर्मणो गुणेऽभावात्, पूर्वशरीरस्योत्तरशरीरम्प्रति कारणत्वेन कारणगतवासनायाः कार्ये सङ्क्रमाभ्युपगमे वा मातृगतवासनाया अपि पुत्रे सङ्क्रमतो मात्रनुभूतस्यापि पुत्रेण स्मरणं स्यात् क्षणभङ्गपक्षस्तु न सम्भवत्येव येन शरीरसन्ताने पूर्वपूर्वशरीरेणाविरलक्रमेणोत्तरोत्तरविशिष्टशरीरोत्पत्तितो यत्स्मरणकुर्वद्रूपात्मकं शरीरम्भवति तेन स्मरणं जायत इति कल्पनाऽपि स्यात् उक्तदिशेन्द्रियाणामपि चैतन्यं न सम्भवति तत्रापि चक्षुषा दृष्टस्य चक्षुर्विनाशे यत्स्मरणं भवति तन्न भवेदिति बालाद्यवस्थानुगतस्यात्मन एव चैतन्यात्कर्तृत्वम्, एवं प्रवृत्तिम्प्रति सामान्यत इष्टसाधनताज्ञानस्य कारणतया सद्योजातस्य बालस्य स्तनपानप्रवृत्तिरपीष्टसाधनताज्ञानत एव तदानीञ्च न तस्य तदनुभव इति तत्स्मरणं वाच्यम् तच्च पूर्वानुभवजनितवासनाप्रभवमिति पूर्वजन्मनि तेनानुभूतं दुग्धपानेष्टसाधनत्वमिदानीं स्मर्यत इत्येवं जन्मपरम्परानुगतानादिवासनाप्रवाहाकलितैकात्माऽनुगतानादिवासनाप्रवाहाकलितैकात्माऽनुमानप्रमाणसिद्धः, प्रत्यक्षेऽपि प्रमाण्यसिद्धिर्न स्वतः, किन्तु इदं प्रमाणं संवादि प्रवृत्तिजनकत्वादित्याद्यनुमानत एवेति प्रत्यक्षप्रामाण्यमभ्युपगच्छन् चार्वाकः कथमनुमानप्रमाणं नाभ्युपगच्छेदिति। एवं शब्दोऽपि

प्रमाणं तेन कक्षीकरणीयमेव, अन्यथा पृथिव्यादिचतुष्टयमेव तत्त्वं प्रत्यक्षमेव प्रमाणं, स्वर्गजनको धर्मो नरकजनकोऽधर्म इत्यादिप्रवादो मिथ्यैव न कोऽपि परलोकादागतो येन श्रद्दधीमहि तद्वचनादस्ति परलोक इति " यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ १ ॥ एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः । भद्रे ! वृकपदं पश्य यद्वदन्त्य बहुश्रुताः ॥ इत्यादि स्वसिद्धान्तोद्गारोऽपि परप्रतिपत्त्यर्थं तस्य न भवेत् आगमे च आत्मा प्रतिपादित एवेति शब्दप्रमाणसिद्धत्वमपि तस्येत्येव जीवस्य प्रमाणप्रतिपन्नत्वे तद्रूपद्रव्यत्वपर्यायादिविभागोऽपि प्रमाणप्रतिपन्नमित्यर्थः ।

पृ. ३४ पं. ११ जीवद्रव्येति–उपयोगलक्षणो जीवो गुणपर्यायवत्त्वाद् द्रव्यं तस्य तदेव मनुष्यादयः पर्यायाः ज्ञानलक्षणस्य चोपयोगस्य मतिज्ञानादयः पर्यायाः आदिपदाद्धर्मास्तिकायो गतिलक्षणो द्रव्यं तस्य गतिपरिणमतोन्मुखजीवादिगत्युपष्टम्भनरूपतया परिणमनं पर्याय इत्यादेरुपग्रहः इति वास्तविकम् ।

पृ. ३४ पं. ११ प्रविभागम्–विभजनम् ।

पृ. ३४ पं. ११ कल्पनारोपितत्त्वेन–कल्पना असद्विकल्पस्तत्रारोपितस्तत्रैव विषयतया व्यवस्थितः न तु प्रमाणविषयोऽपीति कल्पनारोपितस्तत्त्वेन काल्पनिकत्वाभ्युपगमेनेति यावत् ।

पृ. ३४ पं ११ अपह्नुते–अपलपति ।

पृ. ३४ पं. ११ अविचारितरमणीयमिति–यावद्विचारारूढं न भवति, तावदेव सुन्दरं, सम्यग्विचार्यमाणे तु विशीर्यत एवेतीदृशम् ।

पृ. ३४ पं. १२ भूतचतुष्टयप्रविभागमात्रम्–पृथिवीजलतेजोवायुस्वरूपमेव तत्त्वम् ।

पृ. ३४ पं. १२ स्थूलेति–बाह्यप्रत्यक्षगोचरो यो लोकानां पामरादि

साधारणलोकानां न तु परीक्षकाणां व्यवहारः मम शरीरे सुखं दुःखं अहं गौरः अहं श्यामः काणः कुब्ज इत्यादिस्तदनुयायितया तदनुगामित्वेन ।

पृ. ३४ पं १३ समर्थयते-व्यवस्थापयतीत्यर्थः, पर्यायार्थिकाभासश्च ऋजुसूत्राभास-शब्दाभास-समभिरूढाभास-एवम्भूताभासभेदेन चतुर्धा, तत्र ऋजुसूत्राभासं निरूपयति ।

पृ. ३४ पं १३ वर्त्तमानेति-वर्त्तमानपर्यायाभ्युपगन्तृत्वं सतोऽपि ऋजुसूत्रनयस्येति तत्रातिव्याप्तिवारणाय सर्वथा द्रव्यापलापीति सन्नयस्तु द्रव्यन्नापलपति किन्तु तत्र गजनिमीलिकामवलम्बते एवमपि प्राधान्येन द्रव्यानभ्युपगमात्तद्रूपेण द्रव्यापलापी सोऽपि भवत्येवेत्यत उक्तं ।

पृ. ३४ पं. १४ सर्वथेति-गौणतया द्रव्याभ्युपगन्तरि तत्र सर्वप्रकारेण द्रव्यानभ्युपगन्तृत्वलक्षणं सर्वथा द्रव्यापलापित्वन्न कस्येति उदाहरति ।

पृ. ३४ पं. १४ यथा तथागतम्-बौद्धम्-तन्नये सर्वं हि वस्तु क्षणिकं तत्र वर्त्तमानमात्रग्राहि प्रत्यक्षं प्रमाणं, पूर्वापरक्षणसम्बन्धं स्वाविषयत्वादगृह्णता स्वविषयं मध्यमक्षणसत्त्वं गृह्णता च प्रत्यक्षेण क्षणमात्रस्थायित्वमेव वस्तूनां सिद्धिपद्धतिमेति, यद्यपि सदृशापरापरक्षणोत्पत्तिदोषादन्त्यक्षणादर्शिनामिदं क्षणिकमितिनिश्चयात्मकसविकल्पप्रत्यक्षन्न भवति तथापि क्षणक्षयिस्वलक्षणात्मकवस्तुविषयकत्वं निर्विकल्पप्रत्यक्षं वस्तुबलसमुद्भूतं क्षणिकतायां प्रमाणं स्यादेव तेन च निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण क्षणिकोऽयमिति व्यवहारः । नायं क्षणिक इति विपर्ययनिरासश्च न भवतीत्युक्तव्यवहृतये उक्तविपर्ययनिरासाय च यत्सत्तत्क्षणिकं यथा जलधरः सच्च शब्दादिरित्याद्यनुमानं प्रवर्त्तते, सत्त्वञ्चात्र लिङ्गमर्थक्रियाकारित्वं तच्च नित्यात् स्वव्यापकक्रमयौगपद्यव्यावृत्त्याव्यावृत्तं क्षणिकत्वेन नियतमिति भवति सत्त्वात्क्षणिकत्वानुमानम्, अत एव नित्यस्य द्रव्यरूपस्याभावात्क्षणिकालयविज्ञानसन्तानमवात्मस्थाने सौगतेनाभ्युपगम्यते, अहमितिज्ञानमालयविज्ञानम्, अय घटोऽयं पट इत्यादि ज्ञान प्रवृत्तिविज्ञानं सुषुप्तावप्यालयविज्ञानधाराऽनुवर्त्तते तत एव च सुप्तोत्थितस्य प्रथमं प्रवृत्तिविज्ञानं जायते ततश्चोत्तरप्रवृत्तिविज्ञानमित्येवं क्रमेण प्रवृत्तिविज्ञानधाराप्रवृत्तिः, स्वप्रकाशरूपत्वञ्च ज्ञाने चेतनत्वं, स्थिरा-

त्मदर्शनञ्च तन्मते बन्धकारणं नैरात्म्यदर्शनञ्च मुक्तिकारणम्, रागादिक्लेश-विनिर्मुक्तं चित्तमेव मुक्तिः । तदुक्तम् ।

चित्तमेव हि संसारो, रागादिक्लेशवासितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं, भवान्तमिति कथ्यते ॥ १ ॥

इति एवंदिशापल्लवितं तथागतमतमेकान्तपर्यायमात्रस्य द्रव्यं विना कृतस्य मिथ्यात्वात्तत्प्ररूपकत्वेन भवति ऋजुसूत्राभास इत्यर्थः । यथा च नैगमाभासे नैयायिकादिदर्शने एकान्तनित्यतयाऽभ्युपगम्यते वस्तुनि स्वव्यापकक्रमयौगपद्य-निवृत्त्याऽर्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वस्य निवृत्तिस्तथा ऋजुसूत्राभासे बौद्धदर्शनेऽ-प्येकान्तक्षणिकतयाऽभिमते पदार्थे स्वव्यापकक्रमयौगपद्यनिवृत्त्या निवृत्तैवार्थ-क्रियाकारितेति नैकान्तक्षणिकत्वेन सह सत्त्वस्याविनाभाव इति न ततः एकान्त-क्षणिकनुमानसम्भव इति नानुमानं क्षणिकत्वे प्रमाणं यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणतेति वचनात्स्वानुरूपविकल्पजननद्वारैव निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य प्रामाण्यं बौद्धेनेषितव्यम्, अन्यथा दानादिचित्तगतस्वर्गप्रापणशक्त्यादेरपि स्वसंवेद-ननिर्विकल्पप्रत्यक्षतस्सिद्धिसम्भवात्तत्साधनार्थमनुमानप्रणयनं बौद्धस्य विफलमेव प्रसज्येत, न च क्षणिकत्वे विकल्पात्मकप्रत्यक्षमिति तन्निर्विकल्पकन्न तत्र प्रमाण-मिति प्रत्यक्षादपि न क्षणिकतयैकान्तसिद्धिः, प्रत्यभिज्ञा च सङ्कलनात्मकज्ञान-लक्षणपरोक्षप्रमाणतया पूर्वमुपपादिता पूर्वापरकालीनव्यक्त्यैक्यावगाहित्वेन स्थैर्य-साधनप्रत्यभिज्ञा बाधते चैकान्तक्षणिकत्वं, लूनपुनर्जातकेशनखादिप्रत्यभिज्ञा-नस्य दीपकलिकैक्यावगाहिप्रत्यभिज्ञानस्य बाधितविषयकत्वेनाप्रामाण्येऽपि न तद्दृष्टान्तेन प्रत्यभिज्ञानमात्रस्यैवाप्रामाण्यं, तथा सति कस्यचिद् द्विचन्द्रादिप्रत्यक्ष-स्याप्रामाण्ये तज्जातीयतया प्रमाणत्वेनाभिमतप्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यं प्रसज्येते-त्यतोऽपि क्षणिकत्वम्, बन्धमोक्षसमानाधिकरण्यमपि तन्मते नोपपद्यते, न च सन्तानापेक्षया तदिति युक्तं साम्प्रतम्, सन्तानस्यापि क्षणिकत्वात्, अक्षणिकत्वे क्षणभङ्गैकान्तत्यागस्यावश्यकत्वेनात्मैव बन्धमोक्षाधिकरणमस्तु किं सन्तानकल्प-नया, आत्मन एव सन्तान इति नामकरणे प्रर्यवसितं विवादेन, स्थिरात्मद्रव्यस्य स्वहस्तितत्वात्, आत्मव्यतिरिक्तस्तु सन्तानस्तन्मते न सम्भवत्यपि निरन्वयवि-नष्टस्य पूर्वपूर्वविज्ञानक्षणादेरुत्तरोत्तरविज्ञानक्षणम्प्रत्युपादानत्वासम्भवा द्, एवम-

भ्युपादानत्वे चैत्रविज्ञानक्षणं यथापूर्ववर्त्तितया मैत्रादिसन्तानान्तर्वर्त्तिविज्ञानक्षणमपि पूर्ववर्त्तीति पूर्ववर्त्तित्वाविशेषादन्यस्य कस्यचिद्विशेषस्योपदर्शयितुमशक्यत्वाच्चैत्रविज्ञानसन्तानान्तर्वर्तिपूर्वविज्ञानमिव मैत्रादिविज्ञानसन्तानान्तर्वर्त्तिविज्ञानमप्युत्तरक्षणे जायमानचैत्रविज्ञानम्प्रत्युपादानं स्यादिति चैत्रमैत्रादिविज्ञानसन्तानानां सङ्कीर्णता स्यादित्यादिदिशा विचारपदवीमानीतस्य बौद्धमतस्याप्यनुपपद्यमानत्वाच्छायादिदर्शनमिव तद्दर्शनमपि मिथ्यैवेति । साम्प्रताभासापरपर्यायं शब्दाभासं निरूपयति ।

पृ. ३४ पं. १५ कालादिभेदेनेति—अर्थभेदमेवेत्येवकारेण अर्थाभेदं सर्वथानभ्युपगच्छतीत्यर्थो लभ्यते तेन गौणतयाऽर्थाभेदमभ्युपगच्छति सति शब्दनयेऽतिव्याप्तेर्वारणम् ।

पृ. ३४ पं. १५ यथेति—बभूव सुमेरुः भवति सुमेरुः भविष्यति सुमेरुरित्येवमन्वयो बोध्यः, कालादीत्यत्रादिपदेन लिङ्गादीनां ग्रहणादत्राप्यादिपदेन तटस्तटीनां करोति क्रियते कुम्भं दाराः कलत्रमित्यादेरुपग्रहः, शब्दा इत्यन्तं पक्षनिर्देशः । भिन्नमेवार्थमभिदधतीति साध्यनिर्देशः, भिन्नकालशब्दत्वादिति हेतुनिर्देशः, इदञ्च भिन्नलिङ्गशब्दत्वभिन्नकारकशब्दत्वभिन्नवचनशब्दत्वादेरुपलक्षणम् ।

पृ. ३४ पं. १७ तादृक्सिद्धेति—भिन्नार्थतया भिन्नकालशब्दतयोभयसम्प्रतिपन्नेत्यर्थः । एतच्च दृष्टान्तवचनम् । समभिरूढनयाभासं निरूपयति ।

पृ. ३४ पं. १७ पर्यायध्वनीनाम्—अभिधेयनानात्वमेवेत्येवकारोपादानप्रयोजनं सत् समभिरूढनयेऽतिव्याप्तिवारणम् , उदाहरति ।

पृ. ३४ पं. १८ यथेति—इन्द्र इत्यादिशब्दा इत्यन्तं पक्षनिर्देशः, भिन्नाभिधेया एवेति साध्यम् , भिन्नशब्दत्वादिति हेतुः, करिकुरङ्गशब्दवदिति दृष्टान्तवचनम् , एवम्भूताभासं निरूपयति ।

पृ. ३४ पं. २० क्रियानाविष्टमिति—एतावताक्रियाविष्टमेव वस्तु शब्दावाच्यतयाऽभ्युपेतीत्यायातमेव, क्रियानाविष्टं व्युत्पत्तिनिमित्त क्रियाशून्यम् व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियैव चात्रप्रवृत्तिनिमित्तामिति सन्नयनिरूपणावसरे दर्शितमेव, उदाहरति ।

पृ. ३४ पं. २१ यथेति–विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्त्विति पक्षः न घटशब्दवाच्यमिति साध्यम्, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वादिति हेतुः, पटवदिति निदर्शनम्, यावन्तःसन्तोऽर्थनयादयः पूर्वं निरूपिताः तावन्तोऽर्थनयाभासादयोऽपि भवन्ति तेषां क्रमेण स्वरूपाण्युपदर्शयति ।

पृ. ३४ पं. २३ अर्थाभिधायीत्यादिना अतः परं व्यक्तं सर्वम् इति नयाभासे निरूपणम् सन्नये नयाभासे च निरूपिते भेदान्तराभावान्नयनिरूपणं परिपूर्णम् ॥ इति जैनतर्कभाषाटीकायां नयपरिच्छेदनामा द्वितीयः परिच्छेदः ॥

॥ अथ निक्षेपपरिच्छेदनामा तृतीयः परिच्छेदः ॥

अथ निक्षेपसामान्यनिरूपणम् ॥

नयनिरूपणान्तरमवसरसङ्गत्या निःक्षेपनिरूपणम्प्रतिजानीते ।

पृ. ३५ पं. ९ नया निरूपिता इति–प्रतिबन्धकविनिवृत्तावक्श्यवक्तव्यत्वमवसरसङ्गतिः, प्रमाणानयनिक्षेपैरित्यनेन प्रमाणनयनिक्षेपा उद्दिष्टाः तत्र प्रमाणानन्तरं नय उद्दिष्टो नयानन्तरं निक्षेप उद्दिष्ट इति यथोद्देशं निर्देश इति प्रमाणनिरूपणान्तरं नयस्यैव जिज्ञासा समुल्लसति यावन्नया न निरूपिता भवन्ति तावन्नयजिज्ञासा न शाम्यतीति साऽन्यनिरूपणप्रतिबन्धिका नये च निरूपिते तादृशजिज्ञासाया उपशान्तौ तदनन्तरोपदिष्टे निक्षेपे जिज्ञासोपतिष्ठत इति तदुपशान्तये निक्षेपस्यावश्यवक्तव्यत्वमायातीति प्रतिबन्धजिज्ञासानिवृत्त्यवबोधनायोक्तम् ।

पृ. ३५ पं. ९ नया निरूपिता इति–निर्वचनीयतया निक्षेपनिरूपणाङ्गनिक्षेपजिज्ञासासौलभ्यावेदनायोक्तम् ।

पृ. ३५ पं. ९ अथेति–नयनिरूपणानन्तरमिति तदर्थः, एतावतोत्तरकालीनकर्तव्यत्वप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापारलक्षणप्रतिज्ञाघटकोत्तरकालीनत्वमावेदितं, निरूप्यन्त इत्यत्र कर्माख्यातस्य कृतिविषयत्वलक्षणकर्मत्वमर्थः कृतौ च ज्ञानानुकूलव्यापाररूपस्य निरूपणरूपधात्वर्थस्यानुकूलत्वसम्बन्धेनान्वयः, कृति-

विषयत्वं च निःक्षेपेषु न साक्षात् किन्तु स्वप्रयोज्यव्यापारप्रयोज्यज्ञानविषयत्वद्वारैव तदिदं विषयत्वमुद्देश्यत्वाख्यविषयत्वमुच्यते, तत्रापि मुख्यमुद्देश्यं ज्ञानमेव तद्विषयत्वान्निःक्षेपेषूद्देश्यत्वमिति, व्यापारे तु कृतिसाध्ये विधेयत्वाख्यविषयत्वं तच्च साध्यताशब्देनापि गीयत इति कृतौ व्यापारानुकूलत्वप्रतीतौ तुल्यवित्तिवेद्यतया व्यापारेऽपि कृतिसाध्यत्वम्प्रतीयत एव, अथवा कर्तृप्रत्ययस्थले आख्यातार्थस्य कृतेर्धात्वर्थविशेष्यतया भानं कर्मप्रत्ययस्थले तु आख्यातार्थस्य कृतेः धात्वर्थविशेषणतयाभानं धात्वर्थस्य तु विषयत्वलक्षणकर्मत्वेऽन्वयः तस्य च प्रथमान्तनामार्थेऽन्वय इति भवत्युक्तवाक्यं कृतिसाध्यत्वलक्षणकर्त्तव्यत्वप्रकारकनिरूपणविशेष्यकज्ञानजनिकेतिप्रतिज्ञास्वरूपमित्यर्थः । निक्षेपसामान्यलक्षणमुपदर्शयति ।

पृ. ३५ पं. ९ प्रकरणादिवशेनेति–अत्र शब्दार्थरचनाविशेषा इत्येतावन्मात्रं लक्षणं, निक्षेपा इति लक्ष्यम् निःक्षिप्यन्ते अर्थविशेषस्वरूपबोधकतया स्वरूपबोधकतया स्थाप्यन्ते विरच्यन्ते इति भावव्युत्पत्त्या शब्दार्थरचनाविशेषस्यैव निःक्षेपत्वावगतेः, यथा च प्रमीयते प्रकर्षेण वस्तु निर्णीयते इति भावव्युत्पत्त्या स्वपरव्यवसितिलक्षणप्रमारूपफलं प्रमाणं करणव्युत्पत्त्या तु स्वपरव्यवसितिकरणं प्रमाणं, नीयन्ते प्राप्यन्त इति नयाः प्राप्तिश्च वस्त्वंशावधारणरूपैव फलं करणव्युत्पत्त्या च प्रापका नयाः, तादृशावधारणजनकप्रमातृतात्पर्यविशेषास्तदाकलिताश्शब्दविशेषोपचारा नयाः, अनन्तधर्मात्मकवस्तुनिर्णयस्य प्रमाणेनैव जातत्वेऽपि परस्परविरुद्धानां धर्माणामेकधर्मिणि समावेशासम्भवाद्धर्मधर्मिभावनिबन्धनतादात्म्यमप्येकत्र वस्तुनि दुर्घटमितिशङ्काशङ्कुसमुद्धरणाय विरोधभञ्जकावच्छेदकभेदावमतये भवति तत्र नयापेक्षा अन्यथाऽनन्तधर्मात्मकवस्तुनि निर्णीते तदेकदेशरूपाणां तत्तद्धर्माणां नयविषयाणामपि निर्णीतत्वादफलमेव नयकल्पनं प्रसज्येत, तथाऽनुयोगद्वारतया शब्दार्थरचनाविशेषलक्षणा निक्षेपा अपि साफल्यमश्नन्ति व्याख्येयग्रन्थान्तर्गतमङ्गलादिपदानाममङ्गलादिलक्षणमङ्गलाद्यात्मकविशेष्यवस्तुस्वरूपविशेषनिर्णयस्य निःक्षेपादेव भावात् यथाहि सैन्धवपदस्य लवणेऽश्वे च शक्तिर्व्युत्पादिताऽस्ति तत्र सैन्धवमानयेत्युक्तौ भोजनप्रकरणसहकाराल्लवणरूपार्थगतिः, यात्राप्रकरणसहकारादश्वविशेषरूपार्थगतिर्भवति यदि तत्र कोशेन शक्तिर्व्युत्पादितैव न भवेत्, प्रकरणादयोऽपि किं कुर्युः सन्ति भोजनोपयोगिनो बहवो यात्रोपयोगिनश्चेति अप्रतिपत्तिरेव ततो वाक्याद्भवेत् बहूनां वैमत्ये विप-

त्तिप्रत्तिर्वा साधकबाधक प्रमाणाभावे संशयो वा स्यात्, क्लेशेन विशिष्यार्थद्वये शक्तौ व्युत्पादितायां सत्यां तु तत्र प्रकरणादिनाऽप्रतिपत्त्यादीनि निरस्यार्थविशेषावगतिर्भवति, तथा प्रकृतेऽपि सन्तु नामादिनिःक्षेपेषु प्रकरणादिवशेनाप्रतिपत्त्यादीनि व्युदस्य नाममङ्गलस्योपयोगे मङ्गलपदेन नाममङ्गलस्यैवं स्थापनामङ्गलाद्युपयोगे स्थापना मङ्गलादेः प्रतिपत्तिरिति तद्रूपयथास्थानविनियोगफलवत्त्वेन फलवन्तो निःक्षेपा इत्याशयेन प्रकरणादिवशेनेत्याद्युक्तम्, उक्ताशयस्फोरणायाह ।

पृ. ३५ पं. ११ मङ्गलादीति—उक्तार्थे प्राचां सम्मतिमुपदर्शयति ।

पृ ३५ पं. १२ तदुक्तमिति—अप्रस्तुतार्थनिराकरणे प्रस्तुतार्थप्रकाशने च निःक्षेपस्य प्रकरणादयस्सहकारिणो भवन्तीति बोध्यम्, यद्यपि सत्सङ्ख्यादिकमप्यनुयोगाङ्गं तथापि विशेषणविशेष्यभावेन विशिष्टार्थगतौ तन्निबन्धनं, निःक्षेपास्तु अखण्डस्यैव विशेष्यस्वरूपविशेषस्यावगतौ निबन्धनं यतो न नामघटो नामविशिष्टो घटः किन्तु यस्यकस्यचिद् घट इति नाम क्रियते स वस्तुविशेषोऽखण्ड एव नामघटः एवं स्थापनाघटादयोऽपीति शब्दार्थरचना चात्र कर्मधारयस्य समासलक्षणैव, अन्यत्र कर्मधारयस्य विशेष्यपदार्थे विशेषणपदार्थाभेदबोधकत्वं, प्रकृतस्य तु विशेषणविशेष्यापदाभ्यां सम्भूय विशेष्यस्वरूपविशेषावबोधकत्वं तथाऽत्र विशेषणवाचकपदं केवलान्वयितानवच्छेदकधर्मप्रवृत्तिनिमित्तकमेव, नातो ज्ञेयघट इत्यादेर्निःक्षेपत्वं न वा ततः विशेष्यरूपविशेषस्याखण्डस्य प्रतीतिः ज्ञेयत्वविशिष्टघटादेरेव विशेषणविशेष्यभावेन ततः प्रतीतेः, अत एव मृद्घटसुवर्णघटेत्यादेरपि न निःक्षेपत्वमित्यपि बोध्यम् । निःक्षेपान् विभजते ।

पृ. ३५ पं. १४ ते च—नामनिःक्षेप—स्थापनानिःक्षेप—द्रव्यनिःक्षेप-भावनिःक्षेपभेदेन निक्षेपास्सामान्यतश्चतुःप्रकारा इत्यर्थः । अथ नामनिःक्षेपनिरूपणम् । नामनिःक्षेपं निरूपयति ।

पृ. ३५ पं. १६ तत्रेति—नामनिःक्षेपादिचतुर्विधनयेष्वित्यर्थः, प्रकृतार्थेत्यादिपरिणतिरित्यन्तं लक्षणं, नामनिःक्षेप इति लक्ष्यम् इन्द्र-शब्दस्य प्रकृतोऽर्थस्स्वर्गाधिपत्यादिगुणविशिष्टः सहस्राक्षः शचीपतिर्यो वासवः तन्नापेक्षत इति प्रकृतार्थनिरपेक्षा, तत्सापेक्षत्वे नामेन्द्रो गोपालदारको, वासववत् तत्पर्यायशक्रादि

शब्दवाच्योऽपि भवेत्, स्वर्गाधिपत्यादिकमप्यनुभवेच्च, एवम्भूताया नामार्थान्यतरपरिणतिः यद्यपि यस्य गोपालदारकस्येन्द्र इति नाम क्रियते तन्नामनामवतरभेदोपचाराद् गोपालदारकात्मककार्यपरिणतिरेव नामेन्द्रस्तथापि तद्वाचकत्वान्नाम्नोऽप्युपचारतः परिणतिरित्येवं नामार्थान्यतरपरिणतिस्सा नामनिःक्षेप इत्यर्थः उदाहरति ।

पृ. ३५ पं. १७ यथा सङ्केतितमात्रेण—आधुनिकपित्रादिसङ्केतितत्वमात्रेणेत्यर्थः, मात्रपदेन वृद्धपरम्परागतसङ्केतितत्वस्य व्यवच्छेदः, सर्वे सर्वार्थवाचका इत्यत्र इन्द्रपदस्य गोपालदारकेणापि समं वाच्य-वाचकभावसम्बन्धोऽस्त्येव परम्परवृद्धपरम्परागतसङ्केताभिव्यक्त एव शाब्दबोधजनकतया शब्दार्थसम्बन्धस्सो नान्यथेति तथाभूतविशिष्टवाच्यवाचकभावस्यापि व्यवच्छेदः सम्भवत्येव । सङ्केतितमात्रेणेत्यस्य वाच्यस्येत्यनेनान्वयः ।

पृ. ३५ पं. १७ अन्यार्थस्थितेन—अनादितात्पर्यगृहीतसङ्केतबलाद् गोपालदारकभिन्नवासवरूपार्थस्य तेन, यत एवान्यार्थस्थितत्वमिन्द्रादिशब्दस्य तत एव तेन सङ्केतितमात्रेण वाच्यस्य गोपालदारकस्य या परिणतिः सा ।

पृ. ३५ पं. १८ शक्रादिपर्यायशब्दानभिधेया—तस्यां परिणताविन्द्रशब्दस्य वाधुनिकसङ्केतो न तु तत्समानार्थकस्यापि शक्रादिशब्दस्येति, एवम्भूता परिणतिर्नामनिःक्षेपो नामेन्द्र इत्यर्थः, अथवा यस्य शब्दस्य न पर्यायान्तरं नापि कुत्राप्यर्थेऽनादितात्पर्यमूलकसङ्केतस्तस्यापि डित्थडवित्थादिशब्दस्य गोपालदारके अधुना सङ्केतः क्रियते तत्सङ्केतमात्रेण डित्थडवित्थादिशब्देन वाच्यस्य गोपालदारकस्य परिणतिरपि नामनिःक्षेपो नामडित्थो नामडवित्थ इत्याह ।

पृ. ३५ पं. १८ इयमेवेति—गोपालदारकस्य परिणतिरेवेत्यर्थः ।

पृ. ३५ पं. १८ वा—अथवा यथेत्युपदर्शनार्थः ।

पृ. ३५ पं. १९ अन्यत्रावर्तमानेन—गोपालदारकभिन्नार्थे सङ्केतसम्बन्धेनावर्त्तमानेन ।

पृ. ३५ पं. १९ यदृच्छाप्रवृत्तेन—अभिनवसङ्केतकर्तृपुरुषेच्छासम्भूतेन गोपालदारकस्य या परिणतिस्सा गोपालदारकात्मकपिण्डरूपार्थनिष्ठेन नरिन्द्रा-

दिनामनिष्ठेत्येकमात्रनिष्ठत्वेऽप्यन्यतरनिष्ठत्वसंभवेऽपि शब्दनिष्ठत्वस्याभावत-स्तस्यान्यतरत्वेन सङ्ग्रहो निष्प्रयोजन एवेत्यत आह ।

पृ. ३५ पं. २० तत्त्वत इति–परमार्थत इति यतो विभिन्नावच्छेद्यमर्थ-निष्ठत्वं शब्दनिष्ठत्वमतः शब्दार्थोभयपरिणतिरित्यनुक्त्वा शब्दार्थान्यतरपरणति-रित्येवमुक्तिरपि सुसङ्गतेति, यत एव किञ्चिन्नामापेक्षया यावद्द्रव्यभावित्वं किञ्चिन्नामापेक्षया च यावद्द्रव्यभावित्वमप्यस्या उपपन्नमिति द्वैविध्यमपीत्याह। मेर्वादिनामापेक्षयेति–तृतीयप्रकारोऽपि नामनिःक्षेपस्य भवति । उदाहरण-मात्रोपदर्शनेन तत्स्वरूपमावेदयति ।

पृ. ३५ पं. २२ यथा वा–एतावता नाम्नोऽपि नामनिःक्षेपत्वं, ततश्च प्रधानीभूते इन्द्रशब्दार्थे वासवे इन्द्र इति यन्नाम तदपि नामेन्द्रः, तस्य सहस्रा-क्षाकारावयवसन्निवेशः स्थापनेन्द्रः तत्कारणीभूतपूर्वावस्थाकलितरूपो द्रव्येन्द्रः वर्तमानस्वर्गाधिपत्यादिगुणभाक् पर्यायान्तरप्रतिपाद्यश्च भावेन्द्र इति निःक्षेपचतु-ष्टयसमन्वय इति बोध्यम् । नामनिःक्षेपस्वरूपप्रतिपादनप्रवणो विशेषावश्य-कग्रन्थो यथाः––

पज्जायाणभिधेयं ठिअमण्णत्थे तयत्थनिरवेक्खं ।।
जाइच्छियं च नामं जावदव्वं च पाएण ।।१।।

व्याख्या ।। यत् कस्मिंश्चित् भृतदारकादौ इन्द्राद्यभिधानं क्रियते तन्नाम भण्यते कथम्भूतं तदित्याह–पर्यायाणां शक्रपुरन्दरपाकशासन–शतमख–हरि प्रभृतीनां समानार्थवाचकानां ध्वनीनाम्, अनभिधेयम् अवाच्यम्, नामवतः पिण्डस्य सम्बन्धी धर्मोऽयं नाम्न्युपचरितः, सहि नामवान् भृतकदारकादिपिण्डः किलैकेन सङ्केतितमात्रेणेन्द्रादिशब्देनाभिधीयते, न तु शेषैः शक्र–पुरन्दर–पाक-शासनादिशब्दैः, अतो नामयुक्तपिण्डगतधर्मो नाम्न्युपचरितः, पर्यायानभिधे-यमिति–पुनरपि कथम्भूतं तन्नामेत्याह–ठिअमण्णत्थेति विवक्षितभृतकदारकादि-पिण्डादन्यश्चासावर्थश्चान्यार्थो देवाधिपादिः सद्भावतस्तत्र यत्स्थितं भृतकदारकादौ तु सङ्केतमात्रतयैव वर्त्तते, अथवा सद्भावतः स्थितमन्वर्थे अनुगतः संबद्धः परमै-श्वर्यादिकोऽर्थो यत्र सोऽन्वर्थः, शचीपत्याऽऽदिः, सद्भावतस्तत्र स्थितं, भृतकदार

कादौ तर्हि कथं वर्त्तते इत्याह तदर्थनिरपेक्षं तस्येन्द्रादिनाम्नोऽर्थस्तदर्थः परमैश्वर्यादिस्तस्य निरपेक्षं सङ्केतमात्रेणैव तदर्थशून्ये भृतकदारकादौ वर्त्तते इति पर्यायानभिधेयम्, स्थितमन्यार्थे अन्वर्थे वा तदर्थनिरपेक्षं यत् क्वचिद्भृतकदारकादौ इन्द्राद्यभिधानं क्रियते तन्नाम इतीह तात्पर्यार्थः । प्रकारान्तरेणापि नाम्नः स्वरूपमाह-याहच्छिकं चेति इदमुक्तं भवति, न केवलमन्तरोक्तं, किन्त्वन्यत्रावर्त्तमानमपि यदेवमेव यहच्छया केनचिद् गोपालदारकादेरभिधानं क्रियते तदपि नाम, यथाडित्थो डवित्थ इत्यादि, इदञ्चोभयरूपमपि कथम्भूतमित्याह । यावद्द्रव्यञ्च प्रायेणेति यावदेतद्वाच्यं द्रव्यमवतिष्ठते तावदिदं नामाप्यवतिष्ठत इति भावः । किं सर्वमपि नेत्याह प्रायेणेति मेरु-द्वीप-समुद्रादिकं नामप्रभृतं यावद्द्रव्यमपि दृश्यते, किञ्चितु अन्यथाऽपि समीक्ष्यते । देवदत्तादिनामवाच्यानां द्रव्याणां विद्यमानानामपि अपरापरनामपरावर्त्तस्य लोके दर्शनात्, सिद्धान्तेऽपि यदुक्तम्-" नाम जावकहियंयि " तत् प्रतिनियतजनपदादिसंज्ञामेवाङ्गीकृत्य यथोत्तराः कुरव इत्यादि, तदेवं प्रकारद्वयेन नाम्नः स्वरूपमत्रोक्तं, एतच्च तृतीयप्रकारस्योपलक्षणं पुस्तकपत्रचित्रादिलिखितस्य वस्त्वभिधानभूतेन्द्रादिवर्णावलीमात्रस्याप्यन्यत्र नामत्वेनोक्तत्वादिति" तत्त्वार्थ टीकायामप्युपपादितो नामनिक्षेपस्तद् ग्रन्थावलोकेन सुधीभिः परिशीलनीयः ॥

॥ इति नामनिक्षेपनिरूपणम् ॥

॥ अथ स्थापनानिःक्षेपनिरूपणम् ॥

स्थापनानिःक्षेपं लक्षयति ।

पृ. ३६ पं. २ यत्तु-अत्र यत्तु वस्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण स्थाप्यते स इति लक्षणनिर्देशः, स्थापनानिःक्षेप इति लक्ष्यनिर्देशः, चित्रादौ तादृशाकारमित्यादिकं विभागवचनं, तत्र चित्रादौ तादृशाकारमिति सद्भूतस्थापनानिःक्षेपः, अक्षादौ, निराकारमिति असद्भूतस्थापनानिःक्षेपः, चित्राद्यपेक्षयेत्वरमित्यऽयावत्कथिकस्थापना निःक्षेपः, नन्दीश्वरचैत्यप्रतिमाद्यपेक्षया च यावत्कथिकमिति यावत्कथिकस्थापनानिःक्षेपः, लक्षणवाक्येऽपि विभागवचनं "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् " इति गौतमसूत्रे

दृष्टम्, तत्र हि इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमिति लक्षणं प्रत्यक्षमिति लक्ष्यं, तस्य निर्विकल्पक-सविकल्पकप्रमाप्रत्यक्षभेदेन द्वैविध्योपदर्शकमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकमिति विवेकः यत्तु वस्तु जिनप्रतिमालक्षणं वस्तु।

पृ. ३६ पं. २ तदर्थवियुक्तम्-जिनशब्दवाच्यरागद्वेषादिरहितकेवलज्ञानादिगुणालङ्कृतपुरुषधौरेयरूपार्थात्मकन्न भवति । अथ च-

पृ. ३६ पं. २ तदभिप्रायेण-तथाविधपुरुषविशेषबोधकत्वेच्छया ।

पृ. ३६ पं. २ स्थाप्यते-अयं जिन इति निःक्षेप्यते ।

पृ. ३६ पं. ४ स-जिनप्रतिमादिः ।

पृ. ३६ पं. ४ स्थापनानिक्षेपः-स्थापनाजिन इति तद्वस्तु ।

पृ. ३६ पं. २ चित्रादौ-भित्त्यादिगतरेखोपरेखादिविहचनसञ्जातजिनशरीराद्याकारनिर्मितविशेषादौ ।

पृ. ३६ पं. ३ तादृशाकारम्-वस्तुभूतजिनशरीराकृतिसदृशाकृतिकं तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण स्थाप्यत इत्यस्यात्र सम्बन्धः । एवमक्षादौ च निराकारमित्यादावग्रेऽपि सम्बन्धः, एतत्सद्भूतस्थापनाकथनम्, इत्वरं कश्चित्कालानन्तरमपगमनस्वभावम् ।

पृ. ३६ पं ४ यावत्कथिकमिति-यावत्पूज्यपूजकादिव्यवहारकालानुगामि, अन्यदुव्यक्तम् । उदाहरति-

पृ. ३६ पं. ५ यथेति-उक्तमुदाहरणद्वयं सद्भूतस्थापनायाः, उपलक्षणं चैतदसद्भूत स्थापनोदाहरणस्यापि । इति स्थापनानिःक्षेपनिरूपणम्। द्रव्यनिःक्षेपन्निरूपयति ।

पृ. ३६ पं. ६ भूतस्येति-अत्र स इत्यन्त लक्षणवचनं, द्रव्यनिःक्षेप ऽति लक्ष्यकथनम्, भूतस्य अतीतपर्यायस्य ।

पृ. ३६ पं. ६ भाविनः भविष्यत्पर्यायस्य ।

पृ. ३६ पं. ६ भावस्य-स्वर्गाधिपत्यादिधर्मालिङ्गितेन्द्रादिरूपार्थस्य ।

पृ. ३६ पं. ६ कारणं-यज्जीवद्रव्यं पूर्वमिन्द्रोऽभूत्, भविष्यति वोत्तरकाले इन्द्रः, निःक्षिप्यते अयमिन्द्र इत्येद्रूपेण स्थाप्यते ।

पृ. ३६ पं. ६ स–जीवः ।

पृ. ३६ पं. ७ द्रव्यनिक्षेपः–द्रव्येन्द्र इत्यर्थः । उदाहरति–

पृ. ३६ पं. ७ यथाऽनुभूतेति–यः खलु जीवविशेषो देवेन्द्रो भूत्वा तद्योगजनककर्मपरिसमाप्तौ तच्छरीरं परित्यज्य मनुजादियोनौ समुत्पन्नस्तदानीं मनुष्योऽपि सन् अनुभूतेन्द्रपर्यायः पूर्वमासादितेन्द्रपर्याय इतिकृत्वा इन्द्रोऽयमिति व्यपदिश्यते यो वेदानीं मनुजगतौ वर्तमानो जीव उत्तरकाले मनुजोपभोग्याखिलकर्मपरिशाटे मनुजतनुं विहाय देवेन्द्रत्वपदोपभोग्यकर्मोदयकाले देवगतौ देवेन्द्रो भविष्यत्काले भविष्यति स जीवोऽनुभविष्यमाणेन्द्रपर्यायः इन्द्रोऽयमिति व्यपदिश्यते तावुभौ ।

पृ. ३६ पं. ८ इन्द्रः–द्रव्येन्द्रः, द्रव्यनिःक्षेप इत्यर्थः । कथमनयोरिन्द्रपर्यायाभावकाले इन्द्रपदव्यपदेश्यतेत्यपेक्षायां निदर्शनावष्टम्भतस्तद्व्यवस्थामाह।

पृ. ३६ पं. ८ अनुभुतेति–येन घटेन पूर्वं घृतधारणं कृतं तस्मिन् अनुभूतघृताधारत्वपर्याये यश्च घट उत्तरकालं घृतधारणं करिष्यति तस्मिन् ।

पृ. ३६ पं. ८ अनुभविष्यमाणघृताधारत्वपर्याये–तदुभयस्मिन् घटे ।

पृ. ३६ पं. ९ घृतघटव्यपदेशवत्–लोके अयं घृतघट इति व्यपदेशो यथा भवति तथा ।

पृ. ३६ पं. ९ तत्र–अनुभूतेन्द्रपर्याये, अनुभविष्यमाणेन्द्रपर्याये च जीवे ।

पृ ३६ पं ९ इन्द्रशब्दव्यपदेशोपपत्तेः–अयमिन्द्र इत्येवमिन्द्रशब्दप्रयोगस्य युक्तत्वात्, प्रकारान्तरेण द्रव्यनिक्षेपप्रवृत्तिमुपदर्शयति ।

पृ. ३६ पं. क्वचिदप्राधान्येऽपीति–उदाहरति ।

पृ ३६ पं १० यथाङ्गारमर्दकः–अङ्गारमर्दकसंज्ञक आचार्यविशेषः, तत्र द्रव्याचार्यत्वमुपपादयति ।

पृ ३६ पं ११ आचार्यगुणरहित....क्वचिदनुपयोगेऽपि–इत्यनन्तरं द्रव्यनिःक्षेपः प्रवर्त्तते इत्यनुकर्मणीयम्, उदाहरति ।

पृ ३६ पं १२ यथाऽनाभोगेनेति–अन्यगतचित्तत्वादिना यथावदुपयोग-

शून्येन अथवा अनाभोगस्वरूपोपदर्शकमेव इहलोकपरलोकाद्याशंसालक्षणेनेति, यदि पूजाविधायकागमार्थोपयोगो भवेत् तदा तत्रेहलोकाद्याशंसाप्रतिषिद्धेति तदाशंसया जिनपूजां नैव कुर्यादिति तदाशंसाचिह्नमागमार्थानुपयोगस्य, अप्राधान्या-देवात्रापि द्रव्यत्वमित्याह ।

पृ ३६ पं १२ अनुपयुक्तक्रियायाः–साक्षादित्युपादानात्परम्परया मोक्षाङ्गत्वमनुपयुक्तक्रियाया अप्यस्तीति लब्धमेव, स्पष्टप्रतिपत्तये आह ।

पृ ३६ पं १४ भक्त्याऽविधिनापि...सा जिनपूजादिक्रिया, ननु विध्यभावे सति कथं परम्परया ततः फलमित्यत आह ।

पृ ३६ पं १६ भक्तिगुणेनाविधिदोषस्य–भक्त्यभावविशिष्टाविधिरेव कार्यप्रतिबन्धकत्वं तदभावस्य च कारणत्वमित्यभिसन्धिः ।

पृ ३६ पं १६ निरनुबन्धीकृतत्वात्–अङ्गवैगुण्यप्रयुक्तजिनपूजागतस्व-स्वकार्यानर्जकत्वापादनलक्षणकार्यासाम्मुख्यम्, आचार्याः जैनाचार्याः, अनुपयोगे द्रव्यत्वं विशेषावश्यकेऽपि प्रतिपादितं तथा च तद्ग्रन्थः "योऽनुपयुक्तो जिनप्रणीतां मङ्गलरूपां प्रत्युपेक्षणादिक्रियां करोति स नोआगमतोज्ञशरीर–भव्य-शरीरातिरिक्तं द्रव्यमङ्गलम्, उपयोगरूपोऽत्रागमो नास्तीति नोआगमतो, ज्ञशरीर –भव्यशरीरयोर्ज्ञानापेक्षा द्रव्यमङ्गलता अत्र तु क्रियापेक्षा, अतस्तद्व्यतिरिक्तत्वम् अनुपयुक्तस्य क्रियाकरणात्तु द्रव्यमङ्गलता भावनीया उपयुक्तस्तु क्रियायदि गृह्णेत तदा भावमङ्गलतैव स्यादिति भावः" इति । इति द्रव्यनिक्षेपनिरूपणम् ।

भावनिःक्षेपं निरूपयति ।

पृ. ३६ पं. १७ विवक्षितेति–अत्र सेत्यन्तं लक्षणं भावनिःक्षेप इति लक्ष्यम्, विवक्षिता वक्तुर्विवक्षिता या इन्दनादिलक्षणा क्रिया तस्या अनुभवन-मनुभूतिस्तया विशिष्टं युक्तं विवक्षितक्रियानुभूतिविशिष्टं स्वतत्त्वम् इन्द्रादिस्व-रूपवस्तुतत्त्वं, इन्द्रादिशब्देन स्वर्गाधिपत्यादिलक्षणैश्वर्याद्यभिधानात्तस्य तत्र घटनाद् भवति तदेवेन्द्रादिशब्दस्य वाच्यतत्त्वं पारमार्थिकपदार्थः, एवम्भूतं यन्निः-क्षेप्यते अयमिन्द्र इत्येवं रूपेणेन्द्रादिशब्दवाच्यतया स्थाप्यते स इन्द्रादिर्भावनिः-क्षेपो भावेन्द्र इत्यर्थः । उदाहरति ।

पृ. ३६ पं. १८–यथेति–ननु भवनं विवक्षितक्रियानुभूतिविशिष्टतया परिणमनं भाव इति व्युत्पत्तिः, परमार्थतः शब्दवाच्यं घटत इति तत्र भावनिक्षेपो नाम एको निःक्षेपोऽसद्भिन्नेषु तु नामादिषु त्रिषु निःक्षेपेषु भावावियुतेषु परस्परार्थानुगतिमत्सु विरुद्धधर्माध्यासाभावादैक्यमेव युक्तमिति द्विधैव निःक्षेपविभजनं युक्तं न चतुर्धेति परः प्रत्यवतिष्ठते ।

पृ. ३६ पं. १९ ननु भाववर्जितानाम्–नामादीनामित्यत्रादिपदात् स्थापनाद्रव्ययोः परिग्रहः ।

पृ. ३६ पं. १९ प्रतिविशेषः–भेदः ।

पृ. ३६ पं. १९ त्रिष्वपि–नाम–स्थापना–द्रव्येषु ।

पृ. ३६ पं. २० वृत्त्यविशेषात्–सङ्केतविशेषणवृत्तेः प्रवर्त्तनस्य अविशेषात् साधारण्यात् वृत्त्यविशेषमेवोपपादयति ।

पृ. ३६ पं. २० तथाहि–तत्र प्रथमं नामनिःक्षेपस्य वृत्त्यविशेषं दर्शयति ।

पृ. ३६ पं. २० नामेति–तावदिति वाक्यालङ्कारे ।

पृ. ३६ पं. २१ वर्त्तते–प्रवर्त्तते इन्द्रनाम्ना नामेन्द्र–स्थापनेन्द्र-द्रव्येन्द्राणां त्रयाणामपि व्यपदेशात्, यद्यपि भावेन्द्रस्यापि तेन व्यपदेशः तथापीन्दनादिक्रियानुभूतियुक्तत्वस्यान्यत्रावर्त्तमानस्य तत्रैव भावतो नामादितो वैलक्षण्यस्य योगादस्तु पृथक्त्वमित्यभिसन्धिः स्थापनायास्त्रिषु नामादिष्वविशेषवृत्तिं दर्शयति ।

पृ. ३६ पं. २१ भावार्थशून्यत्व....त्रिष्वपि–नामस्थापनाद्रव्येषु, एवमग्रेऽपि ।

पृ. ३६ पं. २२ भावस्य–भावार्थस्य, द्रव्यनिःक्षेपस्य त्रिष्वविशेषवृत्तिमुपदर्शयति ।

पृ. ३६ पं. २२ द्रव्यमपि–कथं वर्त्तते इत्यपेक्षयामाह ।

पृ. ३६ पं. २३ द्रव्यस्यैव–तथा चैकेन नामनिःक्षेपेण स्थापनानिःक्षेपेण द्रव्यानिःक्षेपेण वा नामस्थापनाद्रव्यनिःक्षेपाणां विरुद्धधर्माध्यासाभावतस्सङ्ग्रहसम्भवान्निक्षेपद्वयमेव वक्तव्यं न निःक्षेपचतुष्टयमिति प्रश्नयिता स्वपक्षमुपसंहरति ।

पृ. ३६ पं. २४ इति विरुद्धधर्माध्यासाभावान्नैषाम्–नामस्थापनाद्रव्याणाम्, अणुरपि विशेषः प्रतिपत्तिकर इति न्यायात् भावार्थशून्यत्वरूपधर्मेण

त्रयाणामविशेषेऽपि रूपान्तरेणान्योन्यव्यावृत्तेनासाधारणेन त्रयाणां भेदसम्भवाच्चतुर्धाविभजनं युक्तमेवेति समाधत्ते ।

पृ. ३६ पं. २५ न अनेन रूपेण–भावार्थशून्यत्वादिना ।

पृ. ३६ पं. २६ रूपान्तरेण–अनन्तरवक्ष्यमाणधर्मेण ।

पृ. ३६ पं. २६ तद्भेदोपपत्तेः–नामादित्रयभेदसम्भवात्, नामादित्रयाणां भेदमेव भावयति ।

पृ. ३६ पं. २६ तथा हि–स्थापनानामेन्द्राभ्यां भिद्यते आकाराभिप्रायबुद्धिक्रियाफलदर्शनादिति योजनयाऽत्रानुमानप्रयोगः स्पष्टं प्रतिभासते, आकारश्चाभिप्रायश्च बुद्धिश्च क्रिया च फलश्चाकाराभिप्रायबुद्धिक्रियाफलानि तेषां दर्शनादिति, अयं च हेतुः स्थापनायां वर्त्तते, नामद्रव्ययोश्च न वर्त्तते इति भवति विरुद्धधर्मस्वरूपत्वाद्भेदलक्षणसाध्याविनाभूत इत्युपपादयितुमाकारादीनां स्थापनायां सत्त्वं । नामद्रव्ययोश्चासत्त्वमुपदर्शयति ।

पृ. ३६ पं. २८ यथा हि...तदाकारदर्शनात्–प्रतिमागतस्य लोचनसहस्रादिविरचनाविशेषलक्षणमुख्येन्द्रशरीरसंस्थानसदृशसंस्थानदर्शनात् ।

पृ. ३७ पं. २ तत्फलं च–नमस्करणक्रियाफलश्च जिनप्रतिबिम्बपूजनफलन्तु–

अभ्यर्चनादर्हतां मनःप्रसादस्ततः समाधिश्च ।
तस्मादपि निःश्रेयसमतो हि तत्पूजनं न्याय्यम् ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकारिकायां परम्परया मुक्तिफलमुपदिष्टम् ।

पृ. ३७ पं. ३ न तथेति–दर्शिताकारादिकं नामेन्द्रे द्रव्येन्द्रे च न संवीक्ष्यत इत्यर्थः ।

पृ. ३७ पं. ३ ताभ्याम्–नामेन्द्रद्रव्येन्द्राभ्याम् ।

पृ. ३७ पं. ३ तस्य–स्थापनेन्द्रस्य ।

पृ. ३७ पं. ४ द्रव्यमपीति–द्रव्यं नामस्थापनाभ्यां भिद्यते भावपरिणामिकारणत्वादित्यनुमानप्रयोगोऽत्र स्पष्टं प्रतिभासते, उक्तहेतोः द्रव्ये सत्त्वं नामस्थापनयोरसत्त्वमिति भवति भेदनियतत्वमित्युपपादयति ।

पृ. ३७ पं. ५ यथा–ह्यनुपयुक्तो–पूर्वमनुपयुक्तो वक्ता स एवोत्तरकाले उपयुक्ततादशाभ्यामुपयोगात्मनापरिणतो भवतीत्युपयोगपरिणामलक्षणभावकारणत्वाद् द्रव्यमिति एवं य इदानीं जीवः साधुपर्यायमनुभवति स प्रेत्य देवेन्द्रो भविष्यति ततः सद्भावदेवेन्द्रपरिणतेरुत्तरकालभावेन्द्रकारणत्वाद् द्रव्येन्द्र इत्यर्थः ।

पृ. ३७ पं. ७ न तथेति–नामेन्द्रः स्थापनेन्द्रश्च न सद्भावेन्द्ररूपपरिणतेः कारणमिति न तयोर्भावपरिणामकारणत्वमिति वैधर्म्याद् द्रव्यं नामस्थापनाभ्यां भिन्नमित्यर्थः । स्थापनाद्रव्यगतौ विभिन्नौ यौ धर्मावनन्तरमुपदर्शितौ तच्छून्यत्वरूपधर्मवत्त्वान्नामापि स्थापनाद्रव्याभ्यां भिद्यत इत्याह ।

पृ. ३७ पं. ८ नामापि–दृष्टान्तावष्टम्भेन नामस्थापनादीनां भेदाभेदावुपदर्शयति ।

पृ. ३७ पं. ८ दुग्धतक्रादीनाम्–तथा च स्याद्वादोऽत्रापि पदमादधातीति हृदयम् । भावेन्द्रस्य स्वर्गपालनादिकं यत्कार्यं तन्नामेन्द्रो गोपालदारकादिः स्थापनेन्द्र इन्द्रप्रतिमादिः द्रव्येन्द्रः साधुजीवादिर्वा न कर्तुं समर्थ इति प्रति नियतार्थक्रियाकारित्वाद् भावेन्द्र एव वस्तु, न तु नामेन्द्रादिरिति तदर्थशून्यैर्नामादिनिःक्षेपैरलमति शङ्कते ।

पृ. ३७ पं. ११ ननु भाव....तदर्थशून्यैः–भावार्थरहितैः । इन्द्रशब्दार्थो हीन्द्रवन्नामतदाकारतत्कारणचतुष्टयात्मको वस्त्वेवेति भावेन्द्रवन्नामादीनामपि वस्तुपर्यायत्वमविशिष्टमेव उक्तचतुष्टयान्यतमस्य यत्कार्यं तदिन्द्रशब्दार्थकार्यम्भवत्येवेति सामान्यत इन्द्रकार्यकारित्वं सर्वेषामविशिष्टमेव यथा अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि प्रत्येकधर्मस्य यत्कार्यं तदपि वस्तुकार्यम्भवत्येव, अन्यथा तदात्मकत्वमेव वस्तुनो न स्यादित्याशयेन समाधत्ते ।

पृ. ३७ १२ न नामादीनामपि–इन्दोऽत्र वर्त्तते, इन्द्रोऽस्तीत्येवं नामादिरहितकेवलेन्द्रशब्दोच्चारणेऽविशेषेण नामेन्द्रादिचतुष्टयस्याप्यवबोधात्, देवानां परिगणनानामवसर इति प्रकरणपरिस्फूर्त्तौ भावेन्द्रस्य गोपालदारकादिसम्मेलनादिप्रकरणे नामेन्द्रस्य देवकुलादौ स्थापनेन्द्रस्य अयमेतत्तपःप्रभावाद्धरणो भविष्यति अयमेतदुपासनयैन्द्रपदमलङ्करिष्यतीत्यादितपोमहात्म्यवर्णनप्रसङ्गे द्रव्ये-

न्द्रस्य च विशेषतोऽवबोधात्, विशेषावगमकप्रकरणाद्यभावे च विशेषतः एकैकमात्रप्रतीतेरभावादित्याह ।

पृ. ३७ पं. १३ अविशिष्टे—परामर्शनादिति निश्चयात्मकग्रहणं परामर्शनं तद्भावादित्यर्थः । परामर्शदर्शनादिति प्रागस्तु समीचीनः, तथासति उक्तपरामर्शस्यानुभूयमानत्वलाभेन तथाविधपरामर्शो न भवतीति वक्तुमशक्यम्, अनुभूयमानस्यापलापासम्भवात्, तथासति ततो भावेन्द्रादिविशेषप्रतिपत्तिर्न भवेदेवेत्यत आह ।

पृ. ३७. पं. १४ प्रकरणादिनैव—प्रकारान्तरेण नामादीनां सफलत्वमुपदर्शयति ।

पृ. ३७ पं. १४ भावाङ्गत्वेनैव—वा अथवा, भावाङ्गत्वमेवैकं कथमित्यापेक्षायामाह ।

पृ. ३७ पं. १५ जिननामजिनस्थापनेति-यत्र कुत्रचित्पुरुषादौ सङ्केतितं जिननाम श्रुत्वाऽपि रागद्वेषाद्यान्तराशेषशत्रुवति भावजिने स्मृतिमारूढे सति भावोल्लासस्य भक्त्युद्रेकस्य श्रोतृगतस्यानुभवादनुभूयमानत्वात् एवं सर्वथा रागद्वेषादिराहित्यानुमापकलिङ्गविशेषालिङ्गितां जिनप्रतिमां साक्षात्पुरतः पश्यतो भव्यस्य अहमप्येवम्भूतः कदा स्यामित्येतमांसलक्षणतद्गुणैकतानतास्वभावात्मकभावोल्लासाविर्भावस्यानुभूयमानत्वात्, परिनिर्वृतस्य निर्वाणम्प्राप्तस्य कालधर्ममुपागतस्य वा मुनेः सम्यग्चारित्रवतः साधोर्द्वित्र्यादिभवैरेव जिनभावमासादयिष्यतो द्रव्यजिनस्य देहदर्शनाद् द्रष्टुर्भव्यस्य भावविशेषोल्लासस्यानुभूयमानत्वान्नामादित्रयाणां भावाङ्गत्वेनोपयोग एव न निरुपयोगत्वमित्यर्थः । नन्वेवं नामादीनां सर्वेषां वस्तुपर्यायत्वेन भावत्वानतिक्रमे भावाङ्गत्वे च किमिति दैवान्नगरसमीपं समुपागतवति भावजिनेन्द्रे महनीयचरितानामपि लोके पूजाद्यतिशयाद्याकलितानां राज्ञां समात्यानां सपरिच्छदानां ससामन्तानामहमहमिकया भक्तिभरनिर्भरेण समहोत्सवं नमनादिक्रियाविधानार्थं झटित्येव तत्समीपमुपसर्पणं न तु जिनादिनाम्नि श्रुते जिनादिप्रतिबिम्बे स्वप्रासादसमीपवर्तिप्रासादव्यवस्थिते

भावजिने वा मुनिमकाण्डे वा नगरान्तः प्रविष्टे इत्यतो वक्तव्यः कश्चित्प्रतिविशेषो नामादित्रयसद्भावे इत्यत आह ।

पृ. ३७ पं. १६ केवलम्–एतावन्मात्रं पदानन्तरमेवाभिधीयते तदित्यर्थः ।

पृ. ३७ पं. १६ अनैकान्तिकम्–एकान्तो नियमः तद्वदैकान्तिकं, न ऐकान्तिकमनैकान्तिकं, नामादित्रयान्यतमसत्त्वे कदाचिद्भवति भावोल्लासः कदाचिन्न भवत्यपीति व्यभिचारीत्यर्थः ।

पृ. ३७ पं. १७ अनात्यन्तिकम्–अत्यन्तमतिशयेनातिप्रकृष्टमन्यातिशायिकार्यं विदधातीत्यात्यन्तिकं तथा यन्न भवति तदनात्यन्तिकं भावजिनाद्यादृशः प्रकृष्टतमो भावोल्लासो भवति, न तादृशो भावोल्लासो जिननामादित इति नामादिकं भावोल्लासेऽनैकान्तिकमनात्यन्तिकं च कारणं भावजिनस्तु भावोल्लासे ऐकान्तिकमात्यन्तिकश्च कारणमतस्तेभ्योऽभ्यर्हितस्स इत्येवं प्रतिविशेष इत्याह ।

पृ. ३७ पं. १७ ऐकान्तिकेति–नैतत्स्वानुभवसंवेद्यमेव विशेषावश्यककारादयः पूज्या अपि एनमर्थमित्थमुशन्तीत्याह ।

पृ. ३७ पं. १८ अनुमन्यते–भावातिरिक्तगतानामपि नामादिनामुक्तदिशाऽस्त्येवोपयोगो वस्तुपर्यायत्वाद्भावाङ्गत्वाच्चेत्येतावताऽभिहितमित्याह ।

पृ. ३७ पं. १८ एतच्च–अनन्तरपूर्वनिर्दिष्टश्चेत्यर्थः । अथैकवस्तुगतानां नामादीनां त्रयाणां भावाविनाभूतत्वाद्वस्तुत्वमुपपादयति ।

पृ. ३७ पं. १८ अभिन्नवस्तुगतानां तु–नामस्थापनाद्रव्याणामनुक्रमेण भावाविनाभूतत्वं भावयति ।

पृ. ३७ पं. २० सर्वस्य वस्तुनः इत्यादिना–नामादिषु स्वसम्बन्धित्वेन स्वाभिन्नत्वं सर्वस्य सम्बन्धस्य कथञ्चित्तादात्म्यलक्षणविष्वग्भावनियतत्वाद्व्याप्यस्य यस्यकस्यचित्सम्बन्धस्य सत्त्वे व्यापकस्य कथञ्चित्तादात्म्यस्यावश्यं सद्भाव इति, भावस्य तु साक्षादेव स्वस्वरूपत्वेन वस्तुत्वमिति नामादिभ्यः प्रतिविशेष इत्यावेदयितुं कार्यापन्नस्य च स्वस्येत्यत्र स्वपदोपादानम् । नामादीनां

वस्तुना सह धर्मधर्मिभावे सिद्धे सत्येव तदाक्षिप्तसम्बन्धविशेषबलाद्वस्तुत्वसिद्धिरितिधर्मधर्मिभावमुपपादयति ।

पृ. ३७ पं. २२ यदि च . . . ततः–घटनामतः ।

पृ. ३७ पं. २३ तत्सम्प्रत्ययो–घटज्ञानम् ।

पृ. ३७ पं. २३ तस्य–घटनामतो घटसम्प्रत्ययस्य ।

पृ. ३७ पं. २३ स्वापृथग्भूतेति–घटनामघटरूपार्थाभिन्नवाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धजन्यत्वादित्यर्थः ।

पृ. ३७ पं. २४ इति–एतस्मात् कारणात् सर्वं वस्तु साकारमित्याकारलक्षणस्थापनया सह धर्मधर्मिभावादभिन्नत्वमित्युपदर्शयति ।

पृ. ३७ पं. २४ साकारं च–मतिर्हि अयं घटोऽयं पट इत्यादिरूपेणैव व्यवहारवीथीमवतरतीति घटाद्याकारवत्त्वं तस्याः घटादिशब्दश्च घकारोत्तरटकारोत्तरात्वलक्षणानुपूर्वीस्वरूपाकारसमन्वित एवाभासत इति साकारः, घटादिरपि पृथुबुध्नाद्याकारवानेवानुभूयत इति साकार इत्येवं सर्वस्य साकारत्वमेवसेयमित्याह ।

पृ. ३७ पं. २५ मति–शब्द–नीलाकारः पीताकार इत्येवं मतावाकारानुभूतिः तत्तद्वर्णाव्यवहितोत्तरतत्तद्वर्णत्वलक्षणानुपूर्वीस्वरूपः शब्दे संस्थानविशेषः घटादौ च कम्बुग्रीवाद्यवयवसन्निवेशलक्षणसंस्थानविशेष इत्येवमाकारस्य सर्वत्रानुभूयमानस्यापलपितुमशक्यत्वादित्याह ।

पृ. ३७ पं. २५ नीलाकरेति–सर्वस्य वस्तुनो द्रव्यात्मकत्वं व्यवस्थापयति ।

पृ. ३७ पं. २६ द्रव्यात्मकं च–अनेकावस्थानुगामिरूपत्वं द्रव्यत्वं तत्रानुगाम्यननुगामिनोर्मध्येऽनुगामिनो वस्तुनो वस्तुतो वस्तुत्वमनुगामिरूपश्चान्ततः सत्स्वरूपं सर्वत्रानुभूयत एवेति तद्रूपस्य द्रव्यस्य नापलापसम्भव इति दृष्टान्तोपदर्शनपुरस्सरमाह ।

पृ. ३७ पं. २७ उत्फणेति–उद्गता प्रसारिता फणा यस्य स उत्फणः, विगता सङ्कुचिता फणा यस्य स विफणः, कुण्डलिताकारः कुण्डलस्वरूपतां गोलकरूपतां प्राप्तः कुण्डलित आकारो यस्य स कुण्डलिताकार इति त्रिभिरपि

पर्यायस्समन्वितो यस्सर्पस्तद्वत्, उत्फणोऽपि सर्पस्सर्प एव एवं विफणः कुण्डलिताकारश्चेत्यवस्थाभेदेऽपि यथैक एव सर्पस्सर्वदानुगतस्तथा द्रव्यमपि यथाहि तत्त्वत उत्फणविफणादयो न सर्पात्तत्त्वान्तरं तथा पर्याया अपि द्रव्यमेव तत्तत्पर्यायात्मनाऽऽविर्भूतस्वभावं तत्तत्परिणात्मकं भवत्तत्तद्रूपेण व्यपदिश्यते तत्तत्पर्यायात्मतिरोभावे स्वस्वरूपव्यवस्थितं द्रव्यमिति गीयते न विकारो नामतस्तत्त्वान्तरमित्याह ।

पृ. ३७ पं. २७ **विकाररहितस्येति**–एतच्च द्रव्यार्थिकनयमवलम्ब्येति बोध्यम्, सर्वस्य वस्तुनो भावात्मकत्वं व्यवस्थापयति ।

पृ. ३८ पं. १ **भावात्मकं च**–सन्तानात्मकस्यैवेत्येवकारोपादानमत्रापि पर्यायार्थिकनयमाश्रित्य ।

पृ. ३८ पं. २ **तस्य**–सर्वस्य, उपसंहरति ।

पृ. ३८ पं. २ **इतीति**–एवंदिशेत्यर्थः ।

पृ. ३८ पं. २ **चतुष्टयात्मकम्**–नामस्थापनाद्रव्यभावात्मकं, निःक्षेपचतुष्टयस्य सर्वव्यापकत्ववादोऽयं प्रमाणवाद एवेत्याह ।

पृ. ३८ पं. २ **इति नामादिनयसमुदयवाद इति**–नामादीत्यन्तरं निःक्षेपस्य वक्तव्यत्वे यत्तत्स्थाने नयेत्यभिधानं तत्तन्निःक्षेपाभ्युपगन्ता नयोऽपि तत्तन्निःक्षेपशब्दाभिलाप्य इति नामाभ्युपगन्ता नयो नामनयः स्थापनाभ्युपगन्ता नयो स्थापनानयः एवं द्रव्यनयो भावनय इतिवेदनीमिति यद्ययं नयसमुदायवादः तदा सिद्धान्तग्रन्थेऽप्ययं वादः सुप्रथितः स्यादिति चेदस्त्येव सर्वस्य वस्तुनो नामादिचतुष्टयात्मकत्वानुमतिर्विशेषावश्यके, तथा च तद्ग्रन्थः "घटपटादिकं यत्किमपि वस्त्वस्ति लोके तत्सर्वं प्रत्येकमेव निश्चितं चतुष्पर्यायम्, न पुनर्यथा नामादि नयाः प्राहुः–यथा केवलनाममयं वा, केवलाकाररूपं वा, केवलद्रव्यताश्लिष्टं वा, केवलभावात्मकं वा प्रयोगः यत्र शब्दार्थबुद्धिपरिणामसद्भावः तत्सर्वं चतुष्पर्यायं चतुष्पर्यायत्वाभावे शब्दादिपरिणामभावोऽपि न दृष्टः यथा शशशृङ्गे, तस्माच्छब्दादिपरिणामसद्भावे सर्वत्र चतुष्पर्यायत्वं निश्चितमितिभावः, इदमुक्तं भवति अन्योन्यसंवलितनामादिचतुष्टयात्मन्येव वस्तुनि घटादिशब्दस्य तदभिधायकत्वेन परिणतिर्दृष्टा, अर्थस्यापि पृथुबुध्नोदराद्याकारस्य नामादिचतुष्टयात्मकतयैव

परिणामः समुपलब्धः बुद्धेरपि तदाकारग्रहणरूपतया परिणतिस्तदात्मकत्वेनानियतत्वेनावलोकिता, न चेदं दर्शनं भ्रान्तं बाधकाभावात्, नाप्यदृष्टाशङ्कयाऽनिष्टकल्पना युक्तिमती, अतिप्रसङ्गात्, न हि दिनकरास्तमयोपलब्धसन्निन्दिवादिवस्तूनां बाधकसम्भावनयाऽन्यथात्वशङ्का सङ्गतिमावहति, न चेहापि दर्शनादर्शने विहायान्यन्निश्चयकप्रमाणमुपलभामहे, तस्मादेकत्वपरिणत्यापन्ननामादिभेदेष्वेव शब्दादिपरिणतिदर्शनात्सर्वं चतुष्पर्यायं वस्त्विति सिद्धम् " इति ।

इति निःक्षेपचतुष्टयस्वरूपनिरूपणम् ।

अथ निःक्षेपनयसंयोजना ।

निरूपितानां निःक्षेपाणाम्मध्ये को निःक्षेपः कस्य नयस्याभ्युपगमविषय इत्याशङ्कानिवृत्तये निःक्षेपाणां नयैस्सह संयोजनमधिकरोति ।

पृ. ३८ पं. ५ अथ नामादिनिःक्षेपा इति–तत्र नामादिनिःक्षेपाणां नयैस्सह संयोजने, नामादित्रयमित्युक्त्या भावस्य व्यवच्छेदः, द्रव्यास्तिकनयस्यैवेत्येवकारेण पर्यायास्तिकस्य व्यवच्छेदः, एतावता पर्यायास्तिकस्यैव भाव एवाभिमत इति लब्धेऽपि स्पष्टप्रतिपत्तये आह ।

पृ. ३८ पं. ६ पर्यायास्तिकनयस्य च भाव एव–लिङ्गविपरिणामेनाभिमत इति सम्बध्यते, नयनिरूपणे तत्र द्रव्यार्थिकास्त्रिधा–नैगम–सङ्ग्रह–व्यवहारभेदादित्युक्तमिदानीं सिद्धसेनसूरिमतानुसरणं तत्सम्मतनयनिःक्षेपसंयोजनप्रतिपादनं विधेयमित्याशयेनाह ।

पृ. ३८ पं. ७ आद्यस्येति–द्रव्यास्तिकनयस्येत्यर्थः, नैगमनयस्य तद्भेदतया पृथगनभिधाने हेतुं दर्शयति ।

पृ. ३८ पं. ७ नैगमस्य . . . अनयोरेव–सङ्ग्रहव्यवहारयोरेव, अत्र यथाक्रममिति सम्बध्यते, तथा च सामान्यग्राहिणो नैगमस्य सङ्ग्रहेऽन्तर्भावात्,

विशेषग्राहिणो नैगमस्य व्यवहारेऽन्तर्भावान्न पृथक्तयामभिधानमतो द्रव्यास्तिकस्य संग्रहव्यवहाराभ्यां द्वैविध्यं सिद्धसेनमतं युक्तमेवेति भावः, तद्द्वैविध्यप्रतिपादनपरा श्रीसिद्धसेनगाथा सम्मतिविषया ।"

> दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवणविसओ ।
> पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो ॥ १ ॥ इति
>
> द्रव्यास्तिकनयप्रकृतिः शुद्धा संग्रहप्ररूपणाविषयः ।
> प्रतिरूपं पुनः वचनार्थनिश्चयस्तस्य व्यवहारः ॥ इति—

एतन्निर्गलितार्थः टीकायां "अत्र च संग्रहनयः शुद्धो द्रव्यास्तिकः व्यवहारनयस्त्वशुद्ध इति" एतेन द्रव्यास्तिकस्य संग्रहव्यवहाराभ्यां द्वैविध्यं तदनुमतं स्पष्टं प्रतीयते, नयनिरूपणावसरे पर्यायार्थिकश्चतुर्धेति यदुक्तं तत्सिद्धसेनमतमेवालम्ब्य, तत्रैव ऋजुसूत्रो द्रव्यार्थिकस्यैव भेद इति तु जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः" इत्यनेन जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणमते पर्यायास्तिकस्य त्रैविध्यमेव ज्ञायते, परं चातुर्विध्याभिधाने आचार्यसिद्धसेनमत इत्युल्लेखाभावान्न स्पष्टप्रतीतिरत आह ।

पृ. ३८ पं. ८ ऋजुसूत्रादयश्च...द्वितीयस्य–पर्यायास्तिकनयस्य तत्प्रतिपादनपरा सम्मतिगाथा चेयम् "मूलणिमेण पज्जवणयस्स उज्जुसुयणविच्छेओ । तस्स उ सद्दाइआ साहापसाहा सुहुमभेआ ॥ इति ॥ मूलमात्रं पर्यवनयस्य ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः तस्य तु शब्दादिकाश्शाखाप्रशाखास्सूक्ष्मभेदाः ॥ इति । एतन्निगलितार्थो यथा टीकायाम् "पर्यायनयस्य प्रवृत्तिराद्या ऋजुसूत्रः सत्वशुद्धा, शब्दः शुद्धा, शुद्धतरा समभिरूढः अत्यन्तशुद्धा त्वेवम्भूत इति"

पृ. ३८ पं. ९ इत्याचार्येणेति–उक्तस्वरूपं यदाचार्यसिद्धसेनमतं तदनुसारेणेत्यर्थः । अभिहितमिति विशेषावश्यकेऽभिहितमिति ।

पृ. ३८ पं. ११ नामाइतियं–"नामादित्रिकं द्रव्यार्थिकस्य भावश्च पर्यवनयस्य । संग्रहव्यवहारौ प्रथमस्य शेषास्त्वितरस्य इति । नामादित्रिकं द्रव्यार्थिकानुमतमिति तु सिद्धसेनमतमनया ।

"नाम ठवणा दविएति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो।
भावो उ पज्जवट्ठियस्स परूवणा एस परमत्थो॥ इति गाथया ज्ञायते

नाम स्थापना द्रव्यमित्येष द्रव्यार्थिकस्य निःक्षेपः।
भावस्तु पर्यायार्थिकस्य प्ररूपणा एष परमार्थः॥ इति॥

ननु पुज्यैर्यदि सिद्धसेनमतानुसारेण नामादिनिःक्षेपत्रयं द्रव्यार्थिकस्य, भावनिःक्षेपः पर्यायार्थिकस्येत्यभिहितं तर्हि पूज्यमते कीदृशी तद्व्यवस्थेत्यपेक्षायामाह।

पृ. ३८ पं. १३ स्वमते तु–जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादमते पुनरित्यर्थः।

पृ. ३८ पं. १४ भावं चिय–भावं चैव शब्दनयाः शेषा इच्छन्ति सर्वनिःक्षेपान्" इति।

पृ. ३८ पं. १५ त्रयोऽपि–शब्द–समभिरूढैवम्भूताख्यास्त्रयोऽपि।

पृ. ३८ पं. ऋजुसूत्रादयस्तु–नैगमादय इति वक्तव्ये यदेवमभिधानं तद् ऋजुसूत्रस्य द्रव्यार्थिकत्वस्पष्टप्रतिपत्तये, चत्वारः ऋजुसूत्र–नैगम–सङ्ग्रह–व्यवहाराः।

पृ. ३८ पं. १६ चतुरोऽपि–नाम–स्थापना–द्रव्य–भावानपि, ननु नैगमसङ्ग्रह–व्यवहाराणां निःक्षेपचतुष्टयाभ्युपगन्तृत्वं भवतु नाम, ऋजुसूत्रस्तु पर्यायाभ्युपगन्ता द्रव्यं नेच्छत्येव नापि स्थापनां किन्तु नामभावनिःक्षेपावेवाभ्युपगच्छतीत्यविशेषेण नैगमादिनयैस्सह ऋजुसूत्रस्य निःक्षेपचतुष्टयाभ्युपगन्तृत्वाभिधानं न युक्तमिति नाशङ्कनीयं, नामभावनिःक्षेपावेव ऋजुसूत्र इति परेषाम्मतं न तु सूत्रानुयायिनां, सूत्रे ऋजुसूत्रस्य द्रव्याभ्युपगन्तृतया भणनादित्याशयेनान्येषाम्मतम्प्रतिक्षेप्तुमुपन्यस्यति।

पृ. ३८ पं. १७ ऋजुसूत्रो... पृथक्त्वाभ्युपगमस्य–अनेन वर्त्तमानमेव वस्तूपेयते नातीतानागते नापि परकीयं किन्तु स्वगतमेवेति अतीतानागतभेदापेक्षया परकीयभेदापेक्षया च पृथक्त्वाभ्युपगमस्य पार्थक्याभिसन्धेः परं केवलं निषेधात् तत्र नास्तीति सूत्रे प्रतिपादनात्, ऋजुसूत्रस्य द्रव्याभ्युपगन्तृत्वमस्ति, पृथक्त्वाभ्युपगमो नास्तीत्युपदर्शकमनुयोगद्वारसूत्रमुपदर्शयति।

पृ. ३८ पं. १९ तथा च सूत्रमिति–तत्सूत्रमुपदर्श्यत इत्यर्थः ।

पृ. ३८ पं. १९ उज्जुसुअस्स त्ति–ऋजुसूत्रस्य कोऽनुपयुक्त आगमत एकं द्रव्यावश्यकं पृथक्त्वं नेच्छत्यसौ ॥ " इति संस्कृतम् । एतद्व्याख्यानं यथा "अतीतानागतपरकीयपरिहारेण प्राञ्जलं वस्तु सूत्रयति अभ्युपगच्छतीति ऋजुसूत्रः अयं हि वर्त्तमानकालभाव्येव वस्त्वुपगच्छति, नातीतं, विनष्टत्वात्, नाप्यनागतमनुत्पन्नत्वात्, वर्त्तमानकालभाव्यपि स्वकीयमेव मन्यते स्वकार्यसाधकत्वात्, स्वधनवत्, परकीयं तु नेच्छति स्वकार्याप्रसाधकत्वात् परधनवत्, तस्मादेको देवदत्तादिरनुपयुक्तोऽस्यमते आगमत एकं द्रव्यावश्यकमस्ति पुहत्तं नेच्छइ त्ति–अतीतानागतभेदतः परकीयभेदतश्च पृथक्त्वं पार्थक्यं नेच्छत्यसौ, किं तर्हि वर्त्तमानकालीनं स्वगतमेव चाभ्युपैति तच्चैकमेव इति भावः " इति एतावता द्रव्यनिःक्षेपाभ्युपगन्तृत्वं ऋजुसूत्रस्य व्यवस्थापितं । अथ स्थापनाभ्युपगन्तृत्वव्यवस्थापनायाह ।

पृ. ३८ पं. २१ कथमिति–अस्य नेच्छेदित्यनेन सम्बन्धः ।

पृ. ३८ पं. २१ अयम्–ऋजुसूत्रः पिण्डावस्थायामनाकारमपि सुवर्णं भविष्यत्कुण्डलादिलक्षणभावकारणत्वाद्यदैतन्मते द्रव्यं तदा विशिष्टेन्द्राद्यभिलापहेतुभूता साकारेन्द्रादिप्रतिमैतन्मते कथन्न भवेदिति समुदितार्थः कथं नेच्छेदित्यस्येच्छेदेव इत्यर्थः । नादृष्टचरीयं कल्पना येन प्रमाणवीथीं नावतरेदपि प्रत्यक्षप्रमाणादेव चेत्थमवधार्यते इति नानुपपन्नत्वसङ्कथाऽपीत्याह ।

पृ. ३८ पं. २४ न हि–प्रकारान्तरेण स्थापनाभ्युपगन्तृत्वम् ऋजुसूत्रस्य व्यवस्थापयति ।

पृ. ३८ पं. २४ किञ्चेति–तदर्थरहितं, इन्द्रार्थरहितम् ।

पृ. ३८ पं. २५ अयम्–ऋजुसूत्रः ।

पृ. ३८ पं. २५ भावकारणत्वाविशेषात्–भावोल्लासकारणत्वस्य नामस्थापनयोस्साधारण्यात्, कुतो नामस्थापने नेच्छेदित्युक्तिभङ्ग्या नामस्थापने इच्छेदेवेत्यर्थतो लब्धमपि स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थमाह ।

पृ. ३८ पं. २६ पत्युत-अपित्वित्यर्थः ।

पृ. ३८ पं. २६ सुतराम्-अवश्यमेव ।

पृ. ३८ पं. २६ तदभ्युपगमः-ऋजुसूत्रनये नामाभ्युपगमवत्स्थापनाभ्युपनाभ्युपगमोऽपि ।

पृ. ३९ पं. १ न्याय्यः-न्यायादनपेतः नामइन्द्रपर्यायस्वरूपभावे वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धेनावस्थितं, द्रव्यस्थापने तु तत्र तादात्म्यसम्बन्धेनावस्थिते इति भावोल्लासे नामापेक्षया सन्निहिततरकारणत्वाद्यदि भावोल्लासे विप्रकृष्टकारणस्यापि नाम्नोऽभ्युपगमः किमिति सन्निहिततरकारणयोर्द्रव्यस्थापनयोरभ्युपगमो न भवेदपि तु भवेदित्येव न्यायादनपेततां न्यायप्राप्तत्वं स्पष्टमाचष्टे ।

पृ. ३९ पं. १ इन्द्रमूर्तिलक्षणेति-पूर्वापरपर्यायानुगामित्वादिन्द्रस्य सहस्राक्षाद्यवयवावगुण्ठितविग्रह इन्द्रमूर्त्तिलक्षणद्रव्यं तस्यैव विशिष्टो विलक्षणो यथावदानुपूर्व्याकलितावस्थानाकलितः तदाकारः इन्द्रशरीरकारोऽवयवसन्निवेशस्तद्रूपा स्थापना तयोरित्यर्थः ।

पृ. ३९ पं. २ तत्र-इन्द्रपर्यायरूपभावे, किञ्चेत्यादिना यदत्र ऋजुसूत्रद्रव्यस्थापनाभ्युपगमप्रत्यलयुक्त्युपदर्शनं तदित्थं विशेषावश्यके "उपपत्त्यन्तरेणापि द्रव्यस्थापनेच्छामस्य साधयन्नाह-ननु ऋजुसूत्रस्तावद् नाम निर्विवादमिच्छति, तच्च नाम इन्द्रादिसञ्ज्ञामात्रं वा भवेत् इन्द्राद्यर्थरहितं गोपालदारकादि वस्तु भवेदिति द्वयी गतिः, इदञ्चोभयरूपमपि नाम भावकारणमिति कृत्वा इच्छन्नसावृजुसूत्रो द्रव्यस्थापने कथं नाम नेच्छेत्, भावकारणत्वाविशेषादिति भावः । अर्थेन्द्रादिकनाम भावेऽपि भावेन्द्रेऽपि सन्निहितमस्ति तस्मादिच्छति तद् ऋजुसूत्रः, तर्हि जितमस्माभिः, तस्य न्यायस्य द्रव्यस्थापनापक्षे सुलभतरत्वात्, तथाहि द्रव्यस्थापने अपि भावस्येन्द्रपर्यायस्यासन्नतरौ हेतू, शब्दस्तु तन्नामलक्षणो बाह्यतर इति एतदुक्तं भवति इन्द्रमूर्तिलक्षणं द्रव्य, विशिष्टतदाकाररूपा तु स्थापना एत द्वे अपि इन्द्रपर्यायस्य तादात्म्येनावस्थितत्वात्सन्निहिततरे

शब्दस्तु नामलक्षणो वाच्यवाचकभावसम्बन्धमात्रेणैव स्थितत्वात्बाह्यतर इति अतो भावे सन्निहितत्वान्नामेवर्जुसूत्रो द्रव्यस्थापने सन्निहिततरत्वात्सुतरामिच्छेदिति" एतावता ऋजुसूत्रस्य निःक्षेपचतुष्टयाभ्युपगन्तृत्वं निष्टङ्कितम्, अथ सङ्ग्रह-व्यवहारयोस्तत्प्रसाधनायायोपक्रमः, तत्र सङ्ग्रहव्यवहारौ स्थापनान्नाभ्युपगच्छत इति केषाञ्चित्मतं प्रतिक्षेप्तुमुपन्यस्यति ।

पृ. ३९ पं. ४ सङ्ग्रहव्यवहारौ . . . त्रीन्–नामद्रव्यभावान् ।

पृ. ३९ पं. ५ तन्नानवद्यम्–उक्तमतं न निर्दुष्टम्, तत्र हेतुमाह ।

पृ. ३९ पं. ५ यतः–नैगमो नयस्त्रिविधः सङ्ग्रहिकासङ्ग्रहिकसर्वभेदात् तत्र सङ्ग्रहिकः सङ्ग्रहमतावलम्बी, सामान्यमात्रग्राहीति यावत्, असङ्ग्रहिको व्यवहारमतावलम्बी विशेषमात्रग्राहीति यावत् सर्वः अनर्पितभेदः परिपूर्णः सामान्यविशेषोभयग्राहीति यावत् स च नैगमः स्थापनामभ्युपगच्छतीति भवतोऽपि सम्मतं, संग्रहव्यवहारयोरेव स्थापनावर्जनस्य भवताऽभिधानात्, एवं च यदि सामान्यमात्रग्राही नैगमः स्थापनामिच्छति कथं तर्हि सामान्यमात्रग्राहित्वेन तदविशिष्टः सङ्ग्रहः स्थापनां नाभ्युपेयात्, एवं विशेषमात्रग्राही नैगमो यदि स्थापनां स्वीकरोति कथं विशेषमात्रग्राहित्वेन तदविशिष्टो व्यवहारो न स्थापनां स्वीकुर्यात्, तथा सामान्यविशेषोभयग्राही नैगमो यदा स्थापनाभ्युपगन्ता तदा निरपेक्षयोस्सङ्ग्रहव्यवहारयोः सामान्यविशेषोभयग्राहित्वाभावात्तदविशिष्टत्वाभावात्तद् दृष्टान्तावष्टम्भेन स्थापनाभ्युपगन्तृत्वस्य साधयितुमशक्यत्वेऽपि परस्पर सापेक्षत्वेन समुदितरूपयोः सङ्ग्रहव्यवहारयोः परिपूर्णनैगमरूपत्वसम्भवतः स्थापनाभ्युपगन्तृत्वं स्यादेवेत्याह ।

पृ. ३९ पं. ५ संग्रहिक इति–नैगमः स्थापनामुपगच्छतीति कथमभ्युपेयमित्यपेक्षायामाह ।

पृ. ३९ पं. ७ सङ्ग्रहव्यवहारयोन्यत्र–सङ्ग्रहव्यवहारभिन्ने द्रव्यार्थिकनये स्थापनाभ्युपगमवर्जनस्याभावात् सङ्ग्रहव्यवहारौ स्थापनावर्जानित्युक्त्या सङ्ग्रहव्यवहारयोरेव स्थापनावर्जनस्य भवता कृतत्वादित्यर्थः ननु नैगमस्य

स्थापनाभ्युपगन्तृत्वेऽपि प्रकृते किमायातमित्यत आह ।

पृ. ३९ पं. ८ तत्रेति–नैगमस्य स्थापनाऽभ्युपगमे सतीत्यर्थः ।

पृ. ३९ पं. ८ आद्यपक्षे–सङ्ग्रहिको नैगमः, स्थापनामभ्युपगच्छतीति पक्षे।

पृ. ३९ पं. ९ द्वितीये–असङ्ग्रहिको नैगमः स्थापनामभ्युपगच्छतीति पक्षे ।

पृ. ३९ पं. ९ तदभ्युपगमप्रसङ्गः–स्थापनाभ्युपगमप्रसङ्गः ।

पृ. ३९ पं. १० तन्मतस्य–असङ्ग्रहिकनैगममतस्य ।

पृ. ३९ पं. १० तृतीये च–सामान्यविशेषोभयग्राही यः परिपूर्णो नैगमः स स्थापनामभ्युपगच्छतीति पक्षे च ।

पृ. ३९ पं. ११ स्थापनानभ्युपगमोपपत्तावपि–स्थापनानभ्युपगमोपपत्तावपीत्येव पाठो युक्तः, समुदितयोरित्यनन्तरं सङ्ग्रहव्यवहारयोरिति सम्बद्ध्यते ।

पृ. ३९ पं. १२ तदभ्युपगमस्य–स्थापनाभ्युपगमस्य ।

पृ. ३९ पं. १२ अविभागस्थान्–संपूर्णान् ।

पृ. ३९ पं. १३ प्रत्येकम्–समुदितयोः सङ्ग्रहयोरेकैकेन पृथक् सङ्ग्रहेण पृथक् व्यवहारेण ।

पृ. ३९ पं. १३ तदेकैकभागग्रहणात्–नैगमैकभागस्य सामान्यग्राहित्वस्य सङ्ग्रहेण नैगमैकभागस्य विशेषग्राहित्वस्य व्यवहारेण ग्रहणात् स्वधर्मतयाऽऽश्रयणादित्यर्थः । अपि च नैगमस्य यः सामान्यावगाहनलक्षणो भागस्स एव व्यवहार इत्येवं सङ्ग्रहव्यवहारौ नैगमान्तर्भूतावेव एवञ्च नैगमस्य यन्मतं तन्मतान्तर्गतमेव सङ्ग्रहव्यवहारयोरपि मते स्थापनाभ्युपगमोऽस्तीत्यायातमेवेति तत्र तद्वर्जनं न युक्तमित्याह ।

पृ. ३९ पं. १५ किञ्च–अत्र यद्यपि सङ्ग्रहव्यवहारयोर्मध्ये सामान्यमात्रावगाहिनो नैगमस्य सङ्ग्रहे विशेषमात्रावगाहिनो नैगमस्य व्यवहारेऽन्तर्भावान्नैगममतमपि सङ्ग्रहव्यवहारमतयोरन्तर्भूतमेवेतिव्याख्या न सम्भवति तथापि तथा व्याख्याने सङ्ग्रहव्यवहारयोः स्थापनावर्जने नैगमेऽपि स्थापनावर्जनस्य प्राप्तत्वात्, सङ्ग्रहव्यवहारयोरन्यत्र द्रव्यार्थिके स्थापनाभ्युपगमावर्जनादिति पूर्वग्रन्थो न सङ्गतो भवेदिति न तथाव्याख्यातम् ।

पृ. ३९ पं. १४ तन्मतमपि–सङ्ग्रहव्यवहारमतमपि ।

पृ. ३९ पं. १५ तत्र–स्थापनाभ्युपगमलक्षणनैगममते ।

पृ. ३९ पं. १५ उभयधर्मलक्षणस्य विषयस्य–नैगमे विषयीभूतस्य सामान्यविशेषोभयात्मकस्थापनाभ्युपगमस्य ।

पृ. ३९ पं. १५ प्रत्येकम्–व्यवहारविषयीभूते विशेषात्मकस्थापनाऽभ्युपगमे सङ्ग्रहविषयीभूते सामान्यात्मकस्थापनाभ्युपगमे ।

पृ. ३९ पं. १५ अप्रवेशेऽपि–तयोरेकैकमात्राभ्युपगमत्त्वतः सामान्यविशेषोभयाभ्युपगन्तृत्वाभावात्सामान्यविशेषोभयात्मकस्थापनाभ्युपगमत्वेन रूपेण नैगममतमात्रवृत्तिना तदभिन्नतालक्षणप्रवेशाऽसम्भवेऽपि ।

पृ. ३९ पं. १६ स्थापनालक्षणस्यैकधर्मस्य–सामान्यात्मकस्थापनाऽपि स्थापना भवति, विशेषात्मकस्थापनाऽपि स्थापनाभवत्येति कृत्वा स्थापनाभ्युपगमत्वं नैगममते सङ्ग्रहमते व्यवहारमते चाविशिष्टमिति तद्रूपस्य प्रवेशस्य ।

पृ. ३९ पं. १६ सूपपादत्वात्–स्थापनाभ्युपगमलक्षणे सङ्ग्रहव्यवहारमते नैगममतात्मके स्थापनाभ्युपगमत्वात् तथाविधनैगममतवदित्येवमुपपादयितुं शक्यत्वात् । स्थापनाभ्युपगमत्वलक्षणसाधारणधर्मेण स्थापनासामान्याभ्युपगमत्वस्थापनाविशेषाभ्युपगमत्वलक्षणस्वस्वासाधारणधर्मेण भेदोऽप्यन्योन्यमुपपद्यत इत्याह ।

पृ. ३९ पं. १६ स्थापना सामान्येति–तद्विशेषेति ।

पृ. ३९ पं. १७ स्थापनाविशेषेति–न चैषा स्वमनीषा, किन्त्वागमप्ररूपणैवेत्याह ।

पृ. ३९ पं. १८ यथागममिति–आगममनतिक्रम्येत्यर्थः । न चेयमुक्तिस्समनानुपूर्व्या आगमे न दृश्यत इत्यत आह ।

पृ. ३९. पं. १८ भावनीयम्–आगमनिष्णातैस्सुधीभिरिति शेषः तथा चागमार्थविचारणया भङ्ग्यन्तरेणागमोक्तमेवैतदिति सुधियां बुद्धिमधिरोहतीति । तच्चानवद्यमित्यादिनाऽत्र दर्शिता सङ्ग्रहव्यवहारयोः स्थापनाभ्युपगमसमर्थनप्रक्रिया विशेषावश्यके इत्थं दृश्यते तत् परिहरन्नाह इह सङ्ग्रहिकोऽसङ्ग्रहिकः सर्वो वा नैगमस्तावत् निर्विवादं स्थापनामिच्छत्येव, तत्र सङ्ग्रहिकः सङ्ग्रहमतावलम्बी सामान्यवादीत्यर्थः, असङ्ग्रहिकस्तु व्यवहारमतानुसारी विशेषवादीत्यर्थः, सर्वस्तु समुदितः । ततश्च यदि सङ्ग्रहमतावलम्बी नैगमः स्थापनामिच्छति तर्हि सङ्ग्रहस्तत्समानमतोऽपि तां किं नेच्छति? इच्छेदेवेत्यर्थः । अथ यद्यपि सामान्येन सर्वो नैगमः स्थापनामिच्छति, तथापि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरसङ्ग्रहिकोऽसौ तामिच्छतीति प्रतिपत्तव्यं, न सङ्ग्रहिकः, न ततः सङ्ग्रहस्य स्थापनेच्छा निषिध्यते (विधीयते) तर्हि एकत्र संधित्सतोऽन्यत्र प्रच्यवते एवं हि सति व्यवहारोऽपि स्थापनां किं नेच्छति ! कुतः ! असङ्ग्रहिकनैगमसमानधर्मा व्यवहारनयोऽपि वर्त्तते ततश्चैषोऽपि स्थापनामिच्छेदेवेति निषिद्धा चास्यापि त्वया, अथ परिपूर्णो नैगमः स्थापनामिच्छति न तु सङ्ग्रहिकोऽसङ्ग्रहिको वेति भेदवान् अतस्तद्दृष्टान्तात्सङ्ग्रहव्यवहारनयोर्न स्थापनेच्छा साधयितुम् अत्रोच्यते–तर्हि नैगमसमानधर्माणौ द्वावपि समुदितौ सङ्ग्रहव्यवहारौ युक्तावेव । इदमत्र हृदयम्–तर्हि प्रत्येकं तयोरेकतरनिरपेक्षयोः स्थापनाऽभ्युपगमो माभूदिति समुदितयोस्तयोस्सम्पूर्णनैगमः केन वार्यते ! अविभागस्थान्नैगमात्प्रत्येकं तदेकैकताग्रहणादिति" किञ्च सङ्ग्रहव्यवहारयोरित्यादिना दर्शितायाः युक्तेस्तत्रैवं प्ररूपणा" इदमुक्तं भवति–यथा विभिन्नयोः सङ्ग्रह–व्यवहारयो नैगमोऽन्तर्भूतः तथा स्थापनाभ्युपगमलक्षणं तन्मतमपि तयोरन्तर्भूतमेव, ततो भिन्नं भेदेन तौ तदिच्छत एव,

स्थापना सामान्यं सङ्ग्रह इच्छति स्थापनाविशेषस्तु व्यवहार इत्येतदेव युक्तम् तदनिच्छा तु सर्वथाऽनयोर्न युक्तेति ॥

॥ इति नयनिःक्षेपसंयोजना ॥

॥ अथ जीवविषये निःक्षेपानुगमनम् ॥

नामस्थापनाद्रव्यभावनिःक्षेपानां वस्तुमात्रगतत्वं समर्थयिष्यन् ग्रन्थकारो द्रव्यनिःक्षेपभिन्नानां त्रयाणां निःक्षेपानां जीवे सम्भवेऽपि द्रव्यनिःक्षेपस्य न तत्र सम्भव इति कथं निःक्षेपचतुष्टयस्य वस्तुत्वव्यापकत्वमिति तावदादावाह ।

पृ. ३९ पं. २१ तत्र यद्यपि यस्य...इत्यादिना–तत्र निःक्षेपचतुष्टये जीवस्य चेतनावतः अजीवस्य चेतनारहितस्य स चेतनावान् अचेतनो वा, देवतादीत्यादिपदान्मनुष्यादेरुपग्रहः अत्र देवतादिपदेन देवतादिशरीरगतजीवस्य ग्रहणं अन्यथा देवतादिशरीरस्य जीवसम्भिन्नत्वमाश्रित्य तत्प्रतिमायां स्थापनाजीवत्वे तच्छरीरकारणस्य द्रव्यजीवत्वमपि स्यादिति द्रव्यजीवासम्भवप्रतिपादनमसङ्गतं स्यात्, अत एव तत्त्वार्थे यः काष्ठ–पुस्तक–चित्रकर्मा–क्षनिःक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापनाजीव देवतादिप्रतिकृतिवत्, इन्द्रो रुद्रः स्कन्दो विष्णुरिति असद्भूतस्थापनैव जीवस्य दर्शिता देवतादिप्रतिकृतिवदिति तु यथादेवतादिप्रतिकृतिर्देवतादिस्थापना तथेत्यर्थकं देवतादिप्रतिमाया एव स्थापनाजीवत्वे तस्य दार्ष्टान्तिकत्वतो दृष्टान्तता न स्यादिति बोध्यम् । औपशमिकादीत्यादिपदात् क्षायिक–क्षायोपशमिकोदयिक–पारिणामिकानां ग्रहणम् द्रव्यनिःक्षेपस्य जीवविषये कथं न सम्भव इत्यापेक्षायामाह ।

पृ. ३९ पं. २१ अयं हि–द्रव्यजीव इत्याकारकः प्रकृते द्रव्यनिःक्षेप इत्यर्थः । हि यतः ।

पृ. ३९ पं. २१ अजीवः सन्–पूर्वकाले उपयोगलक्षणचेतनारहितः सन् ।

पृ. ३९ पं. २५ आयत्यां—आगामिकाले ।

पृ. ३८ पं. २५ जीवोऽभविष्यत्–भाविचेतनावान् स्यात्, तदा उत्तरकालभाविजीवभावकारणत्वेन पूर्वमचेतनतया व्यवस्थितस्य द्रव्यत्वमिति कृत्वा द्रव्यजीव इति द्रव्यनिःक्षेपः सम्भवेत् भवतु एवमेवाभ्युपगमे का हानिरित्यत आह।

पृ. ३९ पं. २७ न चैतदिष्टं सिद्धान्ते–पूर्वमजीवस्य सत उत्तरकाले जीवत्वमुपजायते इत्येतज्जैन राद्धान्ते नाभ्युपगतम् एतदेवकुतो ज्ञातं भवतेत्यत आह।

पृ. ३९ पं. २६ यतो–इति।

पृ. ३९ पं २७ अनादिनिधनः–स्वत उत्पत्तिविनाशरहितः, सदातन इति यावत्, पारिणामिकस्यापि भव्यत्वस्यानादित्वेऽपि मुक्तौ विनाशो भवति नैवं जीत्वस्येत्यावेदयितुं जीवत्वमित्युक्तं, इष्यते इत्यत्र सिद्धान्ते इत्यनुवर्त्तते, एतावता द्रव्यनिःक्षेपस्य जीवेऽभावान्निःक्षेपचतुष्टस्य वस्तुत्वाव्यापकत्वं प्रतिपाद्येदानीं तद्व्यापकत्वपक्षपातादाह।

पृ. ३९ पं. २७ तथापि–उक्तदिशा द्रव्यनिःक्षेपस्य जीवऽसम्भवेऽपीत्यर्थः।

पृ. ३९ पं. २८ गुणपर्यायवियुक्तत्वेन–सहभाविनो गुणाः जीवस्योपयोगादयः क्रमभाविनः पर्यायाः जीवस्य हर्षशोकविषादादयस्ताभ्यां वियुक्तत्वेन रहितत्वेनेत्यर्थः, यद्यपि यस्य यो गुणस्तस्य तत्र यदा कदाऽप्यभावेऽपि यस्मिन्कस्मिन्नपि विवक्षितक्षणे पर्यायसामान्याभावाभ्युपगतौ द्रवति तांस्तान्पर्यायान् गच्छतीति द्रव्यमिति व्युत्पत्तिलभ्यस्य पर्यायानुगामित्वस्य यस्मिन्क्षणे न कोऽपि पर्यायस्तदानीमभावेन द्रव्यत्वमेव न स्यात्, एवमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वं वस्तुनः सर्वकालनियतं सत्त्वं तत्र द्रव्यस्य स्वस्वरूपेण ध्रौव्ये प्रतिक्षणं कस्यचित्पर्यायस्योत्पादः कस्यचित्पर्यायस्य विनाश इत्यत एवोत्पादव्ययौ तत्र पर्यायवियुक्ते च तदुत्पादव्ययाधीनोत्पादव्यययोरभावान्निरुक्तलक्षणं सत्त्वमेव न स्याद्व्यापकस्य सत्त्वस्याभावे तद्व्याप्यं द्रव्यत्वमपि न भवेदेव तथा गुणपर्याय-

वद्द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणस्य तदानीममावादपि द्रव्यत्वं तदानीं न स्यादतो गुणपर्यायवियुक्तत्वं नास्त्येव द्रव्यस्येत्यत आह ।

पृ. ३९ पं. २८ बुद्ध्या कल्पित इति–शास्त्रे गुणपर्यायवद् द्रव्यमित्यनेन गुणपर्याययोर्धर्मतया द्रव्यस्य धर्मितयोपादानादत्र धर्मधर्मिभावस्य दण्डी–पुरुष इत्यादौ दण्डमन्तरेणापि पुरुषस्य पुरुषमन्तरेणापि दण्डस्य सद्भावेऽपि दर्शनेन प्रथग्भावो यथा तत्र तथाऽत्राप्येवम् स्यात् बुद्ध्या कल्पितः । ननु तत्र पुरुषस्य तत्रासाधारणस्वभावपुरुषत्वमस्तीति दण्डवियुक्तेऽपि पुरुषस्संभवति जीवस्य तु ज्ञानादिवियुक्तत्वे ईदृशस्वभाव एव नोपलभ्यते इति कथं बुद्ध्याऽपि गुणपर्याय-वियुक्तत्वेन स्थापितः स स्यादित्यत आह ।

पृ. ३९ पं. २८ अनादिपारिणामिकभावयुक्तो–अनादिपारिणामिको यो जीवत्वादिलक्षणो भावस्तेन युक्त इत्यर्थः, सादेर्भावस्य पर्यायत्वेन तद्युक्तस्य बुद्ध्या पर्यायवियुक्तत्वकल्पना न सम्भवतीत्यतोऽनादीति ।

पृ. ३९ पं. २९ शून्योऽयंमिति–तत्त्वार्थाधिगमे अथवा शून्योऽयं भङ्गः इत्येवमुल्लेखादेकस्मिन्पक्षे उक्तदिशा द्रव्यजीवः सम्भवति, पक्षान्तरे न सम्भवतीत्यर्थो लभ्यते, ग्रन्थकारेण तु अथवेति पक्षान्तरसूचकं वचनमनुपादायैव इति यावदित-न्ते वचनमुपादाय यत्तदेवोक्तं, तेनेदं ज्ञापितं विभिन्नपक्षतयाऽवबोधनस्थले आदा-वन्ते वा इति केचदित्यन्ये आचार्या इत्याद्यन्यतमवचनमवश्यमेव भवति, तादृश-वचनाभावान्न कल्पान्तरमिति प्रथमस्य प्रपञ्चनम् । अथवेत्युक्तिश्च पतिपाद्य बुद्धीवैशद्यायेत्थं प्रथममभिहितं न तु तथा सम्भवतीति बोध्यम् । कथं द्रव्यजीव उक्तदिशा प्रतिपादितोऽपि शून्यः । शून्यत्वं ह्यसम्भवदर्थकत्वे सत्त्वेन वचनात्स-कभङ्गस्य घटते नान्यथेत्यतोऽसम्भवदर्थकत्वं दर्शयति ।

पृ. ३९ पं. २९ सतामिति–जीवद्रव्ये सर्वदैव विद्यमानानामित्यर्थः । यदि यथाज्ञानम्भवति तथैव वस्तुसन्नर्थो भवेत् तदा सम्भाव्येताऽपि गुणपर्यायवियुक्तत्वेन जीवस्य बुद्धिस्तथाविधो जीवः, न चैवं किन्तु येन रूपेणार्था भवन्ति तेन तेन

रूपेणैव तज्ज्ञानम्भवति, तथा च गुणपर्यायवियुक्तस्य जीवस्याभावात्तथाबुद्धिस्सम्भवत्येव नेति न तयाऽसम्भवन्त्या बुद्धया द्रव्यस्थापना युक्तेत्याह ।

पृ. ४० पं. २ न खलु इति—नन्वेवं यद्यपीत्यादिना संकुचिता निःक्षेपचतुष्टयस्य न सर्वव्यापकता स्यादित्याशङ्कानिवारितप्रसरैवेत्याशङ्काम्प्रतिक्षिपति ।

पृ. ४० पं. ४ नचैवमिति—एवं द्रव्यजीव इति भङ्गस्य शून्यत्वे सति निषेधहेतुमाह ।

पृ. ४० पं. ४ यतः....अन्येषु—जीवभिन्नेषु द्रव्यधर्मो द्रव्याधर्मो द्रव्याकाश इत्यादिरपि धर्मास्तिकायादिषु जीवभिन्नेष्वपि भङ्गो न सम्भवत्येवेत्यत उक्तं प्राय इति । तथा च जीवपदं तादृशानामुपलक्षणम् । एतादृशाश्च कतिपये एवेति तदव्यापकत्वेऽपि नाव्यापित्वमित्यभिसन्धिः ।

पृ. ४० पं. ५ तत्—निःक्षेपचतुष्टयम् ।

पृ. ४० पं. ५ अत्रैकस्मिन्—जीवपदार्थ एव केवले ।

पृ. ४० पं. ५ न सम्भवति—द्रव्यजीवाभावान्निःक्षेपचतुष्टयं न सम्भवति, नभो भवतीत्यनेनान्वयः ।

पृ. ४० पं. ६ एतावता—जीवेऽसम्भवमात्रेण ।

पृ. ४० पं. ६ अव्यापिता—वृद्धाः प्रवचनवृद्धाः विशेषावश्यककारादयः वदन्तीति शक्यः। जीवेऽपि द्रव्यनिःक्षेपस्सम्भवत्येवेति वस्तुत एव वस्तुव्यापित्वं निःक्षेपचतुष्टयस्य, यः खलु जीव प्राणधारणे इति धातुनिष्पन्नजीवपदस्य प्राणधारणादिरूपव्युत्पत्तिलभ्यमर्थमुपयोगलक्षणं रूढार्थं वा जानाति स यदा तदुपयोगो न वर्त्तते तदानीं द्रव्यजीव इतिमतमुपदर्शयति ॥

पृ. ४० पं. ६ जीवशब्दार्थज्ञस्तत्र-जीवशब्दार्थे एतज्ञानुपयोगो द्रव्यमित्याश्रित्य, कारणं द्रव्यमित्यवलम्बनेन द्रव्यजीवमुपपादयतां मतमाह ।

पृ. ४० पं. ७ अपरे तु ... देवजीवमप्रादुर्भूतम्—वर्त्तमानकालेऽप्रकटीभूतमर्थाद्भविषयत्काले भावितं, उत्तरकालभाविनो देवजीवस्य मनुष्यजीवः कारणमिति कृत्वा मनुष्यजीवो द्रव्यजीवः इत्येतदेव तयोः कार्यकारणसमर्थनेनोपपादयति ।

पृ. ४० पं. ९ अहं हि इत्यादिना—अहमित्यनेनैतत्स्वरूपसमर्थनपरा आचार्याः स्वस्याविशिष्टसाध्याचारसेवनपरायणत्वतोऽवश्यमुत्तरकालभाविदेवभवं निर्विचिकित्समवधारयन्त आत्मानमेव परामृशन्ति । आस्तां दृष्टान्तान्तरगवेषणा मामेव तावद्‌द्रव्यजीवं जानन्तु भवन्त इति नाव्यापिता निःक्षेपचतुष्टयस्य अन्यद्वयक्तम् ।

पृ. ४० पं. ११ एतदिति—पूर्वः पूर्व इत्यादिनाऽन्तरमेवोपवर्ण्यमानम् ।

पृ. ४० पं. ११ तैः—मनुष्यजीवस्य द्रव्यजीवत्वमुपगच्छद्भिराचार्यैः परस्य परस्योत्पित्सोरित्यन्तरं जीवस्येति दृश्यम् ।

पृ. ४० पं. १२ अस्मिंश्च पक्षे—अनन्तराभिहिताचार्यमते च, सिद्धजीव एवेति सिद्धजीवभवनान्तरं पुनरपरजीवभावेन भवनाभावात्कस्यचिदपि विशिष्टजीवस्य कारणत्वाभावात्सिद्धजीवस्य द्रव्यजीवत्वं न सम्भवतीति स एव भावजीवः मनुष्यादिजीवस्य तु यावन्न सिद्धिस्तावदवश्यमुत्तरकाले विशिष्टजीवभावेन भवनमिति कारणत्वाद् द्रव्यजीवत्वमित्येवकारलभ्यमेव स्पष्टयति ।

पृ. ४० पं. १३ नान्य इति—सिद्धभिन्नजीवो न भावजीव इत्यर्थः ।

पृ. ४० पं. १३ इति—एतस्मात्कारणात्, एतदपि अनन्तरोपदर्शिताचार्यमतमपि ।

पृ. ४० पं. १४ नानवद्यमिति—न निर्दुष्टमित्यर्थः सिद्धान्यजीवे भावजीव इति निःक्षेपस्याघटनात् सिद्धे द्रव्यजीव इति निःक्षेपस्याघटनात्तन्निबंधनाव्यापितादोषसद्भावात् स्वयमुक्ताचार्यमते मनुष्यजीवादौ विशिष्टजीवे द्रव्यजीव इति द्रव्यनिःक्षेपस्य सम्भवेऽपि विशेषणानुरक्ते जीवे द्रव्यजीव इत्येवं द्रव्यनिःक्षेपो

नैवमुपपादितः स्वाभिर्विशेषं जीवम्प्रति मनुष्यजीवादेरकारणत्वात् देवजीवम्प्रति मनुष्यजीवस्य कारणत्वेन मनुष्यजीवो द्रव्यजीव इत्येवं द्रव्यनिक्षेपाकारो भवेन्न तु द्रव्यजीव इति । नहि पार्थिवविशेषघटम्प्रति कारणस्य मृत्पिण्डस्य द्रव्यघट इति व्यपदेशवत् द्रव्यपार्थिव इति व्यपदेश इति दोषदुष्टत्वं सङ्क्रमयिष्यन् तत्त्वार्थटीकाकृदुक्तदोषं तावदादौ परिहरति ।

पृ. ४० पं. १५ इदं पुनरिहावधेयमिति–इह अनन्तराभिहताचार्यमतगततत्त्वार्थटीकाकृदुक्तसिद्धमात्रवृत्तिभावजीवत्वप्रसङ्गदोषे । इदम् इत्थमित्यादिनाऽनन्तरमेव वक्ष्यमाणम् पुनः अवधेयम् सुधिया परिशीलनीयम् ।

पृ. ४० पं. १५ इत्थम्–उत्तरोत्तरजीवम्प्रति कारणत्वतः ।

पृ. ४० पं. १५ भावत्वाविरोधः–भावत्वविरोधाभावोऽर्थात् कारणत्वाद् द्रव्यमप्यस्तु कार्यापन्नत्वादनादिपरिणामिकजीवत्वादिभावयोगात्प्राणधारणादिमत्त्वाच्च भावत्वमप्यस्तु नास्त्यत्र कश्चित्प्रतिकूलस्तर्कः । एवञ्च सिद्ध एव भावजीवो नान्य इति दोषस्य नावकाशः । प्रत्युतशास्त्रे नामादिनामेकवस्तुगतानां भावाविनाभूतत्वप्रतिपादनतो भावत्वाविरोधमेव प्रतिपादितमस्तीत्याह एकवस्तुगतानामिति कुत्र प्रतिपादनमित्यपेक्षायामाह ।

पृ. ४० पं. १७ तदाह भाष्यकार....अहवेति–अथवा वस्त्वभिधानं नाम स्थापना च यस्तदाकारः । कारणत्वमस्य द्रव्यं कार्यापन्नं तकं भावः ॥१॥
इति संस्कृतम् । तत्र स्वाभिमतं दोषमुद्भावयति ।

पृ. ४० पं. २० केवलमिति–स्पष्टम् एतत्स्वरूपविशेषजिज्ञासुभिरस्मन्निर्मितनयरहस्यादिकमवलोकनीयं ग्रन्थगौरवभयान्नेह तद्विशेषविचारः प्रतन्यत इत्याशयेनाह । अधिकमिति ॥ इति जीवविषये निक्षेपानुगमनम् ।

॥ इति जैनतर्कभाषाटीकायां तृतीयो निक्षेपपरिच्छेदः ॥

॥ अथ विषयानुक्रमणिका पद्यकदम्बात्मिका ॥

ग्रन्थेऽस्मिन्मानचर्चा प्रथममनु ततो नीतिचर्चा ततोऽन्ते
निक्षेपाणां विचारो जिनसमयसमालोचना तत्र कान्ता ।
सिद्धान्तेऽस्मिन्प्रमाणं स्वपरविषयकं ज्ञानमारोपभिन्नं
नाबोधो दर्शनं नो न च निजपरयोरेकभास्येव चासौ ॥ १ ॥

स्वांशे निर्णीतिरूपं भवति ननु फलं तत्प्रमाणं परत्र
एकस्मिन्नो विरुद्धमिति फलकरणे योजिते ते कथञ्चित् ।
तन्मानं स्याद् द्विभेदं जिनमतप्रथितं स्पष्टमध्यक्षमाद्यं
स्यादस्पष्टं परोक्षं न परविभजना युज्यते काऽपि तस्य ॥ २ ॥

तत्र स्पष्टं द्विभेदं व्यवहृतिफलकं वस्तुगत्या परोक्षं
मुख्यं स्पष्टं द्वितीयं प्रथममिहभवेदिन्द्रियानिन्द्रियाभ्याम् ।
द्वेधा तस्यापि भेदः श्रुतमतिविधया तत्प्रभेदोऽप्यनेको
विस्तीर्णोऽवग्रहादेरपि मननभिदा स्याच्चतुर्द्धा तु तत्र ॥ ३ ॥

सम्बन्धश्चेन्द्रियार्थोभयनियत इह व्यञ्जनावग्रहोऽयं
मुक्त्वा चक्षुर्मनोऽपि प्रभवति च ततस्स्याच्चतुस्सङ्ख्यकोऽसौ ।
ज्ञानोपादानभावाद्भवति पुनरयं ज्ञानमव्यक्तरूपं
नो पूर्वं नापि पश्चात्कथमपि च भवेद् दर्शनं तत्र मान्यम् ॥ ४ ॥

तत्पश्चादर्थबोधो भवति समतया नो विशेषणे योऽसौ
सर्वैरप्यक्षवर्गैर्भवति च मनसा षड्विधोऽवग्रहोऽयम् ।
स द्वेधा निश्चयोत्थो व्यवहृतिनिपुणश्चेति भेदेन भाव्ये
सत्सामान्यैकबोधः प्रथम इह परस्तद्विशेषावगाही ॥ ५ ॥

ईहा सम्भावनाख्या तदनु भवति सा तद्विशेषोन्मुखाऽस्याः
प्रायश्शब्देन भाव्यं तदनु गतिवशादेवमुल्लेखरीतिः ।
एषा स्यान्निश्चयोत्था व्यवहृतिप्रभवा या तु तस्याः स्वरूपं
प्रायः शाङ्खेन भाव्यं मधुरगुणबलादेवमग्रेऽपि भेदः ॥ ६ ॥

शब्दोऽयं शाङ्ख एवायमिति च तदनु स्यादवायस्स एव
किञ्चित्कालस्थितत्वाद् दृढतम उदितो धारणाख्यश्चतुर्थः ।
त्रेधाद्याऽविच्युतिः सा स्मृतिरपि च परा मध्यमा वासनाऽन्या
एवं सिद्धान्तगत्या मतिरिह विबुधैर्भाविनीया चतुर्धा ॥ ७ ॥

एवं सिद्धान्तमान्यं श्रुतमपि गदितं त्वक्षरानक्षराद्यै-
र्भेदैर्भिन्नं कथञ्चिन्मतुप्रमितमिदं द्रव्यतो भावतश्च ।
एवं प्रत्यक्षतायां श्रुतमतिभजना स्यात्परोक्षेऽपि तेन
ज्ञाने नाधिक्यशङ्का प्रभवति बुधगा पञ्चभेदात्परोक्षे ॥ ८ ॥

आत्मव्यापारमात्रप्रभवमनुमतं मुख्यमस्पष्टभिन्नं
स्पष्टं तच्च द्विभेदं विकलसकलनायोगतस्तत्र चाद्यम् ।
द्वेधा स्यादादिमो योऽवधिरिति प्रथितोऽशेषरूप्येकबोधः
षोढा ज्ञेयोऽनुगामिप्रभृतिनिजभिदाभाजनो मानविद्भिः ॥ ९ ॥

अन्त्यो बोधो मनःपर्यव इति प्रथितः स्वान्तपर्यायमात्र-
ग्राही साक्षात्सचिन्ताविषयमनुमया वेत्ति नो तं तु साक्षात् ।
द्वौ भेदौ तस्य चोक्तौ ऋजुविपुलमती यस्य मेयो विशेषः
स्वल्पः पूर्वस्स मान्यस्तदधिकविषयो भावनीयो द्वितीयः ॥ १० ॥

यो द्रव्यं पर्यवश्चाखिलमपि विषयं वेत्ति साक्षात्स पूर्णो
बोधो ज्ञेयो जिनानां भवति च सकलो नास्य भेदप्रभेदौ ।
तद्वान् स्यात्केवली यो भवति कवलभुग् नान्यथौदारिकस्य
देहस्य स्यात्स्थितिर्यद्विवसनमननं युक्त्यपेतं न मान्यम् ॥ ११ ॥

स्वाभाव्यात्केवलं तत्सकलविषयकं स्वावृत्तेरेव नाशात्
नेदं योगोत्थधर्मात्प्रभवति मनसाऽगोचरे भावसार्थे ।
किन्तु स्वाशेषकर्मावरणविगमतो जायमानस्य चास्य
स्वग्राह्येऽशेषभावे किमपि विषयतारोधकं यन्न चास्ति ॥ १२ ॥

अस्पष्टं यत्परोक्षं भवति ननु भिदा पञ्चधा तस्य तत्र
याऽसौ पूर्वानुभूतार्थविषयनियता साऽनुभूत्येकजन्या ।
मानं स्मृत्याख्यमिष्टं न च निजविषये साऽन्यतन्त्रानुभावात्
न प्रामाण्ये तथा साऽनुभवनियतता जन्ममात्रे तु तस्याः ॥ १३ ॥

मानं स्यात्प्रत्यभिज्ञा स्मृतिसहकृतया जायते साऽनुभूत्या
तिर्यक्सामान्यमुख्यान् बहुविधविषयान् भासयत्यत्र यस्मात् ।
सादृश्याद्यूर्ध्वताद्यान् घटयति परतो दूरतादींस्तथैव
यस्मात्तस्मात्परा सा समनुगमपरा यत्र तत्रैकरूपा ॥ १४ ॥

पूर्वस्मादुत्तरस्मिन्घटयति च यतश्चैकतां तद्विशिष्टा-
र्थे द्रव्ये मेयमस्यास्सुगतसुत ततो नापनेयान्वयेयम् ।
न स्पष्टैकस्वरूपा भवतु कथमियं न्यायमान्यस्वरूपा
भट्टाद्युक्तोपमानं त्विह विशति यतो नाधिकं तत्प्रमाणम् ॥१५॥

साकं साध्येन हेतोः समसमयदेशादेशधर्मिस्वभावे-
व्याप्तिं गृह्णाति बोधोऽव्यभिचरितमयीं भाविकां तर्क एषः ।
वाच्यैस्साकं गिरां वाऽवगमननिपुणो वाच्यतादिरशेषा
वच्छेदेनैव सोऽयं नियममतितयोहापराख्यः प्रमाणम् ॥ १६ ॥

साध्ये सत्येव हेतुस्सकल इह भवेन्नो विना तं च कोऽपि
एवं स्यात्कुम्भशब्दः सकल इह भवेद्वाचकः कुम्भमात्रे ।
इत्याद्याकारकस्सः प्रभवति च दृशेः प्रत्यभिज्ञास्मृतिभ्यां
साध्यादिस्तेन साध्यानुमितिरधिगतिश्चाभिधेयस्य शब्दात् ॥ १७ ॥

प्रामाण्यं तस्य बौद्धैरपहृतमुचितं तन्न प्रत्यक्षपश्चा-
द्भावेऽपि स्यात्प्रमाणं भवति ननु यतोऽत्रापि वस्तुप्रबन्धः ।
प्रामाण्यं मान्यमेतद्व्यवहृतिबलतो नाविनाभावबोधः
प्रत्यक्षात्पञ्चकाद्यत् सुगतसुतमता प्रक्रिया यत्र मिथ्या ॥ १८ ॥

आहार्यारोपरूपोऽखिलपरमतनयैः कल्पितो यस्तु तर्कः
शङ्कामात्रव्यवच्छेदनफलकतया न प्रमाणं स्वतः सः ।
युक्तं नैतन्मतं यत् नियममतितथैवाहत्तोऽयं प्रमाणं
तर्को न्यायाद्यभीष्टोऽपि भवति फलवान्संशयोच्छेदकत्वात् ॥ १९ ॥

हेतोस्साध्यस्य बोधो न्नियममतिभवत्सोऽनुमानं प्रमाणं
द्वेधा स्वार्थं परार्थं प्रथममिह मतं लिङ्गबोधात्समुत्थं ।
व्याप्तिस्मृत्याऽपि जन्यं न तु भवति परामर्शबोधोऽत्र हेतु-
र्यस्मात्को पक्षधर्मत्वमपि गमकताङ्गं मतं साधनस्य ॥ २० ॥

पित्रोर्ब्राह्मण्यतोऽत्रानुमिति समुदयोऽपक्षधर्मात्सुतस्य
ब्राह्मण्येव दृष्ट इत्थं नभसि शशिमतिर्जायते नीरचन्द्रात् ।
हेतुज्ञानाश्रयत्वात्कचिदथ नियमोपस्करत्वात्कचिच्च
मानं पक्षस्य साध्यानुमितिगतमतो युज्यते व्याप्तितोऽपि ॥ २१ ॥

अन्तर्व्याप्त्या च पक्षे नियममतिबलात्पक्षभानप्रवृत्ति-
र्नो युक्ता व्याप्तिभेदो न विषयनियतः किन्त्वभीष्टः स्वतः सतः ।
त्रैलक्षण्यादिर्नैव परमतप्रथितलक्षणं साधनस्य
किन्त्वेकं साध्यभावे भवनमपरथाऽभाव इत्येव जैनम् ॥ २२ ॥

पूर्वं यन्न प्रतीतं न च परमितितो बाधितं वाद्यभीष्ट
साध्यं ज्ञेयं तथा तन्नियममतिफलापेक्षया धर्मरूपम् ।
तद्वान्धर्मी च साध्यं त्वनुमितिसमयापेक्षया धर्मिसिद्धिः
स्यान्मानाद्वा विकल्पादथ तदुभयतो दर्शिता चात्र युक्तिः ॥ २३ ॥

हेतोः पक्षस्य यत्स्याद्वचनमिह भवेत्तत्परार्थानुमानं
नोदाहृत्यादिवाचां परमतगदितो युज्यतेऽत्र प्रयोगः ।
वादीन्मन्दादिबुद्धीन्परमिह तु समाश्रित्य न्यायप्रयोगे
पक्षादेः शुद्धिवाक्यान्यपि जिनसमये सम्मतान्येव तत्र ॥ २४ ॥

सोऽयं हेतुर्द्विभेदः प्रथम इह विधिस्स्यादभावो द्वितीयः
तत्राद्यस्स्याद्द्विभेदो विधिमितिनिपुणोऽन्यो निषेधे समर्थः ।
षोढाऽऽद्य व्याप्यकार्या प्रतितिजनकपूर्वोत्तरात्मक्षणैक-
सम्यक्चारिस्वरूपैरपर इह विरुद्धोपलब्ध्याख्य इष्टः ॥ २५ ॥

सोऽयं सप्तप्रकारो भवति स च निषिध्यस्वभावो द्विधा
भिन्नार्थव्याप्यकार्यविकलजनकपूर्वोत्तरात्मप्रचारैः ।
अन्त्योऽपि स्याद्द्विभेदो विधिरिव गदितं पञ्चधाऽऽद्यो विरुद्ध-
स्यैव स्यात्कार्यहेत्वात्मरतसहचरव्यापकाभावभेदे ॥ २६ ॥

अन्त्यस्सप्तकरो भवति स च निषेध्याविरुद्धस्वभावा-
भावाद्यैरेव भेदैस्तदनुगमचयदर्शितोदाहृता च ।
हेत्वाभासस्ततोऽन्यस्त्रिविध इहमतोऽसिद्ध एवं विरोद्धोऽ-
नैकान्तश्चेति भेदादपरमतमिदा खण्डिता युक्तिभिस्तु ॥ २७ ॥

आविर्भूतं यदाप्तोक्तवचनत इदं त्वागमाख्यं प्रमाणं
व्याप्तिज्ञानं विनापि प्रभवति हि ततो नानुमाने निविष्टम् ।
सत्यार्थज्ञानपूर्वं ह्युपदशति हितं यः स आप्तस्तदीयं
वाक्यं वर्णादिरूपं वचनमनुमतं पुद्गलेनैव जातम् ॥ २८ ॥

वर्णोऽकारादिरिष्टो भवति ननु पदं यच्च सङ्केतवत्तत्
अन्योन्यापेक्षितानां समुदितमुदितं वाक्यमेतत्पदानाम् ।
तत्सर्वत्र स्ववाच्येऽनुसरति नियमात्सप्तभङ्गी तथैव
स्यात्पूर्णार्थावबोधो भवति ननु तदा मानभास्यान्यथा नो ॥ २९ ॥

एकत्रार्थे तु प्रश्नानुगमनवशतस्सप्तधर्मप्रवृत्त्या
भङ्गाः प्रत्येकधर्मे विधितदपहतिभ्यां भवन्तीह सप्त ।
ते स्यात्काराङ्कितास्स्युस्त्वर्णति नियताः सप्तभङ्गी
ह्यन्योन्यापेक्षभावाभनु दधति महावाक्यतां स्यात एव निष्ठाम् ॥ ३० ॥

सत्त्वादिर्भाववर्गो भवति ननु विधिस्तन्निषेधस्वभावो
द्वौ धर्मौ व्यस्तभावे तदुभयघटनामात्रतः पञ्च चान्ये ।
एवं स्युस्सप्तधर्मा विषयकृतभिदास्संशयास्तेन सप्त
जिज्ञासास्सप्त तेभ्योऽभ्युदयमधिगतास्सप्तप्रश्नाश्च ताभ्यः ॥ ३१ ॥

स्यादस्त्येवेह सर्वं भवति च प्रथमो भङ्ग एवं द्वितीयः
स्यान्नास्त्येवेह सर्वं क्रमिक तदुभयावेदकौ योजितौ तौ ।
ज्ञेयोभङ्गस्तृतीयोऽथ युगपदुभयावेदकस्स्यात्तुरीयोऽ
वक्तव्यं स्यात्ततोऽन्ये त्रय इह मीलनात्सम्भवन्तीह भङ्गीः ॥ ३२ ॥

धर्माणां भिन्नतायां भवति हि विकलादेशता भङ्गमात्रे
तेषाञ्चाभिन्नतायां, भवति तु सकलादेशता भङ्गमात्रे ।
अष्टौ कालादयस्तां विदधति नयतो गौणप्राधान्यभावा-
देवं स्यात्सप्तभङ्गी जिनसमयगता द्विस्वभावा प्रमाणम् ॥ ३३ ॥

एतद्वार्त्ताऽवसाने प्रथम इह परिच्छेद उक्तः प्रमाणे
पूर्णार्थामानवाक्यं तत इह सकलादेशतस्सप्तभङ्गी ।
सैव स्यान्नीतिवाक्यं ननु यदि विकलादेशतामेति तस्मा-
दन्यतीर्थान्तरीयं वचनमुभयतो भ्रष्टमेकान्ततायाम् ॥ ३४ ॥

वस्त्वंशस्यैव बोधो नय इह गदितो नाप्रमाणं न मानं
नेवासम्भाव्यमम्भोनिधिमितसकलं नासमुद्राऽम्बुधिर्नो ।
द्रव्यार्थः पर्यवार्थस्त्विति भवति भिदा तस्य तत्राद्य इष्टः
प्राधान्याद् द्रव्यभावाकलनमतिरसौ पर्यवेष्वेत्युपेक्षाम् ॥ ३५ ॥

अन्त्यः पर्यायमात्रं कलयति सकलं द्रव्यसाम्मुख्यशून्यो
द्रव्यं सामान्यमन्यद्भवति ननु विशेषाभिधानं विवर्त्तम् ।
द्रव्यार्थस्तत्र मान्यस्त्रिविधइह नयो नैगमस्संग्रहश्च
ताभ्यामन्यस्तृतीयो व्यवहृति निपुणः पर्यवस्स्याच्चतुर्धा ॥ ३६ ॥

आद्यस्तत्रर्जुसूत्रः क्षणिकमिह जगत् शब्दनामा द्वितीयः
कालादेरर्थभेदस्त्विह तु समभिरूढाभिधानस्तृतीयः ।
भेदः पर्यायभेदादिह भवति ततः शब्दभेदेऽर्थभेदः
स्यादेवम्भूतनामा चरम इह मते नाक्रियार्थस्तु शब्दः ॥ ३७ ॥

एवं स्युस्सप्त एते उभयगणनया तेषु चाद्या नयास्स्यु
श्चत्वारोऽर्थप्रधानास्त्रय इह तु परे शब्दनाम्नाऽभिधेयाः ।
एवं द्वावर्पितानर्पितनयवचनौ पर्यवद्रव्यबोधौ
एवं द्वौ निश्चयानिश्चयनयवचनौ लोकसिद्धार्थकोऽन्त्यः ॥ ३८ ॥

आद्यस्तत्त्वार्थबोधः सकलनयमतत्त्वार्थकोऽन्त्यौ नयैका-
र्थग्राही चैवमेवापरनयभजनाज्ञानतोऽर्थक्रियातः ।
ज्ञानन्त्वेकं प्रधानं कलयति प्रथमश्चान्त्य आह क्रियां तु
सम्यक्त्वं ज्ञानमेवं चरणमिति समं मोक्षमार्गस्तु जैनः ॥ ३९ ॥

पूर्वः पूर्वो नयस्स्यान्ननु बहुविषयश्चोत्तरोऽल्पार्थ एषु
सप्तस्यैव विवेको गदितनयभिदाऽऽभासतायाश्च बोध्या ।
एकान्तावेशतस्ते परमिह गदिता दुर्नया गौतमीया-
दीनां दृष्टान्तगत्या कतिपय इह ते दर्शिता भाविताश्च ॥ ४० ॥

एवं पूर्णो द्वितीयो भवति नयपरिच्छेद नामाऽत्र पूज्यै-
र्द्रव्यार्थश्चर्जुसूत्रोऽनुमत इह ततः पर्यवार्थस्त्रिधैव ।
नो भिन्नो नैगमोऽन्तर्भवति स तु परं संग्रहे सिद्धसेनोऽ-
शुद्धद्रव्येऽथवाऽयं व्यवहृति निपुणो वक्ति चैवं विवेकः ॥ ४१ ॥

निक्षेपाश्चार्थशब्दान्यतरविरचनास्ते चतुर्धा निरुक्ताः
तत्राद्यो नामनामा क्वचिदपि च निजार्थानपेक्षोऽभिषिक्तः ।
नामेन्द्रो गोपपुत्रोऽपरमपि च तथा डित्थनामभिलाप्यं
यावद् द्रव्यं तथान्यद् द्विविधमिदमथापेक्ष्यार्थस्य भाव्यम् ॥ ४२ ॥

चित्रादौ स्थाप्यते यत्त्वभिमतमतये शून्यमर्थेन तुल्या·
कार वाऽऽकारहीनं तदिह ननु मतं स्थापनाख्यं द्वितीयं ।
द्वेधाप्येतच्च यावत्कथिकमथ भवेदित्वरं स्थापनेन्द्रः
शक्राकारेण तुल्योपरचितप्रतिमा स्थापिताश्चान्यथाऽपि ॥ ४३ ॥

हेतुर्निक्षिप्यते यः स तु जिनसमये द्रव्यनामा तृतीयः
कार्ये भावोऽत्रभूतो भवतु भवतु वाऽनागतो नाग्रहोऽत्र ।
द्रव्येन्द्रो भूतशक्रोऽभिमत इह तथा भाविशक्रोऽपि साधु-
र्वाऽप्राधान्येऽपि स स्यादथ तदनुपयोगेऽपि संयोजितोऽसौ ॥ ४४ ॥

भावो भावेऽभिषिक्तोऽनुपचरितनया स्वस्वरूपे चतुर्थो
भावेन्द्रश्शक्रभावो भवति सुरपतिर्मुख्य एवार्थकारी ।
नामादीनां त्रयाणामपि प्रतिनियतास्सन्ति केचिद्विशेषा
भावाभावविशेषे भवति ननु ततो भिन्नताऽन्योन्यमेषाम् ॥ ४५ ॥

भावात्वातिक्रमो नो यत इह निखिले वस्तुपर्यायभावो
नामादाविन्द्रशब्दे कथित इह भवेन्केवले सर्वबोधः ।
किन्तु प्रत्येकबोधः प्रकरणप्रभृतेर्जायते तेन सर्वे
भावाङ्गत्वाश्च नान्या भवति परमसौ भावप्राधान्यमेषु ॥ ४६ ॥

एतच्चोक्तं विभिन्नार्थगतमननयाऽभिन्नवस्तुस्वरूपेऽ
प्यस्त्वेवैषां प्रवृत्तिः सकलमपि निजैर्वस्तुनामादिभिर्यत् ।
भावव्याप्तैर्विशिष्टं समधिगतमयं स्याच्च सिद्धान्तवादः
सर्वेषामेव तेषां प्रतिविषयमतस्स्वस्वनीतिप्रकाशः ॥ ४७ ॥

योज्या एते नयैस्स्युर्नियमितगतये सिद्धसेनस्य पक्षे
नामाद्याश्चन्द्रयस्स्युस्त्वनुमतिविषया द्रव्यनीतेर्न भावः ।
भावः पर्यायनीतेरनुमतिपदवीं याति नामादिको नो
द्वौ भेदौ द्रव्यनीतेः ऋजुप्रभृतिनयाः पर्यवार्थस्य मान्याः ॥ ४८ ॥

इत्थं पूज्यैर्निरुक्तं निजमतविषयास्सर्व एवाद्यमान्या
निक्षेपोपर्ययस्यानुमतिविषयता याति भावो न चान्यः ।
द्रव्ये चैवर्जुसूत्रो विशति ननु यतस्सोऽप्यशुद्धस्तु शुद्धाः
शब्दाद्याश्च त्रयोऽन्ये भवनपरिगतास्तन्मते पर्ययार्थाः ॥ ४९ ॥

युक्त्या चैवर्जुसूत्रे सकलविषयतां स्थापयित्वा परस्य
मान्यं यन्नामभावौ कलयति न परं खण्डितं सूत्रतोऽपि ।
त्रीनेव स्थापनान्यान्ववहृतिनिपुणस्सङ्ग्रहश्चेच्छतस्त-
न्मन्तव्यं युक्तिजालैरपहृतमुदिता नैगमस्यापि भेदाः ॥ ५० ॥

निक्षेप्यास्सर्व एतैर्न हि भवति परं द्रव्यनिक्षेप एको
जीवे तत्रापि मार्गो बहुविध उदितः खण्डितः स्थापितश्च ।
इत्थं पूर्णस्तृतीयो भवति ननु परिच्छेद एषो यथार्थः
पूर्णो ग्रन्थोऽपि चैवं विषयपरिचयस्तत्र कार्यः सुधीभिः ॥ ५१ ॥

॥ अथ प्रशस्तिः ॥

स्वपरसमयविज्ञो जैनसिद्धान्तनिष्ठः
प्रमितिनयविदग्धस्सर्वनिक्षेपदक्षः ।
मतमननप्रवीणो नव्यनिर्माणकर्त्ता
क्व नु सकलयशश्श्रीः श्री यशोनामधेयः ॥ १ ॥

क्व च विगतमतिश्रीनीतिमात्रे विषण्णोऽ
ऽप्यपरमतनिविष्टो मादृशोऽतादृशश्च ।
अनुभवतु तथापि प्रष्ठतत्कृत्वा मूला-
नुगमन सुमहिम्नाऽऽदेयतामेष ग्रन्थः ॥ २ ॥

स्खलनमिह विचारे यद्भवेत्तत्स्वदृष्ट्या
परकृतिमननार्थाश्शोधयिष्यन्ति तत्तु ।
न हि भवति नियोगस्तान्प्रतीत्थं कदापि
न रविरुदयमेति प्रेरितोऽन्यस्य वाक्यैः ॥ ३ ॥

उपकृतिरपरस्याप्यस्तु मा वाऽस्त्वमुष्मात्
मम मननमवश्यंभावि चातो विचारात् ।
भवति सफल एवं श्री गुरोर्नेमिसूरे-
श्चरणकमलपूजासम्प्रसादोऽक्षयार्थः ॥ ४ ॥

देशे गुज्जरनाम्नि राजनगरे लक्ष्मीभृतामास्पदे
पाडापोल सुनामचारुविदिते तद्ग्रामभागेऽभवत् ।
श्रीप्राग्वाटकुलीनशाह अमथालालेतिनामा सुधीः
सुश्राद्धः समुपात्तयोग्यविभवो धर्मक्रियातत्परः ॥ ५ ॥

पुत्रौ तस्य बभूवतुर्बुधवरौ धर्मैकनिष्ठौ परः
श्रीमान् गोकुलदासनामविदितः पाश्चात्यविद्यैकभूः ।
अन्यश्रीकमलालनामगदितो यो दाक्तरश्च एम डी
गत्वा देशममेरिकादिकमतो लब्धप्रतिष्ठोऽभवत् ॥ ६ ॥

श्रीसूरीश्वरनेमिसूरिनिकटे दीक्षां प्रपद्याग्रजो
कश्चित्कालमुपास्य देवगतिको जातस्सुभद्रोमुनिः
दीक्षां प्राप्यसुतोऽस्य सम्प्रतिगुरोस्सोमस्य पार्श्वे स्थितो
मोक्षानन्दमुनिस्तथाऽस्य भगिनीसाध्वीसुचारित्रिणी ॥ ७ ॥

श्रीमान् श्रीकमलाल आत्तविभवः श्रीनेमिसूरेर्गुरो
र्ज्ञात्वाऽसारमशेषमेव भवजं दीक्षां सभार्योऽगृहीत् ।
सोऽयं रत्नप्रभाऽभिधोमुनिवरश्चारित्रचूडामणिः
सा चापि प्रमदा समस्तिविदिता साध्वी विमुक्तयार्थिनी ॥ ८ ॥

श्री वीरस्य प्रभोश्चरित्रममलं तद्ध्यानलीनात्मना
कृत्वा चाङ्गलजभाषया सुविशदं तद्भावितार्थस्पृहः ।
मां जैनागममान्यमानप्रभृतेः संक्षेपतोज्ञप्तये
भूयोऽभ्यर्थितवान् स शास्त्ररचने सुस्पष्ट बोध्यार्थके ॥ ९ ॥

किञ्चास्याध्ययने भवेन्नु सुगमो यावद्विचारोद्गम-
स्तावद्दृष्टिमुपागता कृतिरियं श्रीतर्कभाषाभिधा ।
श्रीमद्वाचकपुङ्गवस्य यशसो वृद्धोक्तिसंवादिता
तट्टीकोदयसूरिणा विरचिता रत्नप्रभाख्या मया ॥ १० ॥

श्रीमन्नेम्यभिधावतस्सुमहते श्रीसूरिचूडामणे-
स्तीर्थोद्धारपरायणस्य कृतिनो विज्ञातशास्त्राम्बुधेः ।
सम्मत्यादिकवृत्तिगुम्फनपटोर्हैमप्रभादिप्रभा-
नल्पोद्भावनतत्परस्य सुगुरोर्भक्त्या कृतैषा प्रभा ॥ ११ ॥

श्रीसिद्धाचल तुल्यगौरवभृति श्रीमत्कदम्बाचले
पूर्णा व्योमखखादि सम्मिततमे वैक्रमीये शुभे ।
माघे नागतिथौ सिते रविदिने रत्नप्रभेयं सतां
संमोदाय विचार्यमाणहृदयाऽस्त्वापुष्पदन्तोदयम् ॥ १२ ॥

टीकामेतां स्वगुरुरचितां साभिधेयां समग्रां
शुद्धीकृत्य प्रमुदितमना नन्दनाख्योऽपि सूरिः ।
आशास्तेऽसौ जिनवरमतात्क्षुण्णमत्रास्ति यत्तत्
क्षन्तव्यंस्तात्सकरुणमनस्सूरिवर्यैस्समस्तम् ॥ १३ ॥

A SET
OF
EIGHT BOOKS

BY

MUNI SRI RATNA PRABHA VIJAYAJI

SRI JAINA SIDDHANTA SOCIETY.

Pānjrā Pole Upāshraya.

Pānjrā Pole

AHMEDABAD

[India]

1950

VOLUMES

1. Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra Vol. I Part I Life.
2. Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra Vol. I Part II Life
3. Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra Vol II Part I Life.
*4. Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra Vol. II Part II Life.
5. Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra Vol. III Gaṇadhara-vāda.
6. Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra Vol. IV Nihnava-vāda.
7. Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra Vol V Part I Sthavirāvali.
*8. Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra Vol V Part II Sthavirāvali.

* Will be published in October or November 1950.

VOLUMES

of

" Sramaṇa Bhagavān Mahāvīra "

Series

In the year 1941-42, Four Volumes of the book 'Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra" written in English, from authentic material collected from Jaina Scriptures and other sources, by Muni Mahārāja Śrī Ratna Prabha Vijayaji-a disciple of Śāsana Samrāt Ācārya Mahārāja Śrīmān Vijaya Nèmisūrīśvarāji-were published. At the time when the work of printing these volumes was undertaken, the cost of good Printing Paper was annas three and six pies per lb. and printing, as well as, other charges were low.

But during the year 1941, the cost of Printing Paper increased greatly owing to War difficulties, and some of the printing work had to be finished with paper bought at a price varying from annas Twelve to Fourteen annas per lb. The work of printing had to be finally stopped, as the required quality of paper, could not be had in India at any cost, nor could it be got from foreign countries.

However, after four years of anxious waiting for conditions to improve, a sufficient quantity of good Printing Paper had been obtained from England, and the work of re-printing the volumes-revised and augmented with much additional matter-had been commenced from July of last year. Instead of four books, there will be eight books greatly increased in size, as explained in this Pamphlet of Contents of each volume.

The market-price of Printing Paper has considerably increased and printing charges have increased three to four times, on account of heavy labour-costs. Taking into consideration the

enhanced cost of materials and labour, and the heavy charges of make-up, as well as, the utility of the volumes, we have, as far as possible, tried to keep the prices of the individual books within very reasonable limits.

For the present six books of the Series have been pubished viz. (1) Vol. I Part I (Life). (2) Vol. I Part II (Life). (3) Vol. II Part I (Life) (4) Vol. III (Gaṇadhara-vāda). (5) Vol. IV (Nihnava-vāda), and (6) Vol. V Part I (Sthavirāvali).

Remaining two books viz. Vol. II Part II (Life) and Vol. V Part II completing the series are in press and they will be published in October or November of the current year.

July 1950. Publisher

Contents

of

Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra.

Volume I. Part I.

CHAPTER I Jīva Tattva and A-jīva Tattva-Kinds and Varieties of Souls Sthāvara Souls-Nigoda Living Beings-Trasa (mobile) Souls-Varieties of Indriya Souls-Nārakas-Tiryancas-Manuṣyas-Dévas-Kinds of Tīryanca Pancéndriya Souls-Sthala-cara-Jalacara-Khécara-The Universe.

CHAPTER II Su-déva-Arhat Déva-Su-guru-Su-dharma; Ku déva; Ku-guru; Ku-dharma-Mithyātva-Kinds of Mithyātva-A-virati-Pramāda-Kinds of Pramāda-Kaṣāyas-Kinds of Kaṣāyas-No-kaṣāyas-Yoga.

CHAPTER III. Samyaktva-Kinds of Samyaktva-Story of the Farmer-Signs of Samyaktva.

CHAPTER IV. First Previous Bhava of Śramaṇa Bhagavân Mahāvīra-King Śatru-mardana of Jayanti Nagari-Nayasāra going to neighbouring forests for bringing timber-Nayasâra giving food and drink-materials to Sādhus who had lost their way in the forest-Preaching of Dharma-Varieties of Dāna-Śīla (chastity) Tapaḥ (austerity)-Bhāva-Attainment of Samyaktva.

CHAPTER V. Second Previous Bhava (as a celestial being in Saudharma déva-loka-Dévas or Celestial Beings-Kinds of Bhavana-pati gods-Kinds of Vyantara and Vāṇa-vyantara gods-Vaimānika gods-Number of Vimâns (celestial cars)-Colours of Vimāns-Height-Age-limit-Food-Respirations-Léśyās etc. of Celestial Beings-Previous Bhavas of Celestial Beings-Future Bhavas of Celestial Beings.

CHAPTER VI. Third Previous Bhava. Rājā Ṛṣabha-déva of Vinītā Nagarī-Dīkṣā of Rājā Ṛṣabha-déva-Kévala Jnāna of

Bhagavān Ṛṣabha Swāmī-Final Emancipation of Maru-dèvi Mātā-Sermon of Bhagavān Śri Ṛṣabha Swāmī. Birth of Marîci-Dīkṣā of Marîci Kumāra-Story of Aṅgāra-dāhaka-Marîci Muni becoming slack in performing religious duties-Marîci Muni assuming the apparel of a Parivrājaka mendicant-Bharata Cakravartin orders out five hnndred bullock-carts full of food and drink-materials-Tîrthaṅkara Bhagavān Śrî Ṛṣabha-déva goes to Mount Aṣṭāpada-Explanation of avagrahas-In the Samavasaraṇa there, Bharata Cakravartin asks the Bhagavān whether there will be any other person who will become a Tîrthaṅkara like himself in future or not? On Bhagavān's pointing out to him his own son Marîci, who was sitting in a corner dressed as a Parivrājaka, as a future Vāsudéva, a future Cakravartin, and as a future Tîrthaṅkara, the delighted Bharata Cakravartin went to Marîci, and paid him homage as a future Tîrthaṅkara. Marîci rejoicing with joy and dancing frivolously out of pride for his noble birth, incurred the evil Karma of birth in low families-Nirvāṇa (Final Emancipation of Tîrthaṅkara Bhagavān Śrî Ṛṣabha-déva Swāmī-Kapila becomes a disciple of Marîci-Some considerations about birth in a low family-Karma Philosophy-Kinds of Karmas.

CHAPTER VII. Fourth Previous Bhava as a god in Brahma dèva-loka. Fifth Previous Bhava as a Brāhmaṇa named Kauśika in Kollāga village-Sixth Bhava as a Brāhmaṇa named Puṣpamitra in Sthuṇāka village. Seventh Previous Bhava as a god in Saudharma dèva-loka. Eighth Previous Bhava as a Brāhmaṇa named Agnidyota in Caitya Sannivéśa-Ninth Previous Bhava as a god in Iśāna déva-loka. Tenth Previous Bhava as a Brāhmaṇa named Agnibhûti in Mandira village-Eleventh Previous Bhava as a god in Sanat Kumāra déva-loka. Twelfth Previous Bhava as a Brāhmaṇa named Bhāradhvaja in Svétāmbikā. Thirteenth Previous Bhava as a god in Mahèndra dèva-loka. Fourteenth Previous Bhava as a Brāhmaṇa named Kapila of Râjagriha Nagara-Fifteenth Previous Bhava as a charming god in Brahma déva-loka.

Vol I Part I

Royal Octavo Size. Cloth-bound with Illustrations. Pages 344 Price in Hindi Union. Rs. 8 (Eight). Packing and Postage extra. Foreign 16 s., U. S. of America. (Four Dollars)

Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra.

Vol I Part II

CHAHTER I. Sixteenth Previous Bhava. Birth of Viśvabhūti Kumāra-Viśvabhūti Kumāra going to Puṣpa-karaṇḍaka garden for amusement during Spring Festival-Viśvabhaūti Kumāra treacherously sent with a large army to fight with a frontier feudatory prince at the instigation of Queen Madana-lékhā. When Viśvabhūti Kumāra returned home, he realised that it was a well-designed plan of Madana-lèkhā to drive him out from the garden to make room for her son Viśākha-nandī. Becoming enraged at this insulting diplomacy, Viśvabhūti Kumāra renounces the pleasurable enjoyments of the world, and he takes Bhāgavatī Dīkṣā at the hands of Ācārya Sambhūti Sūri. Viśvabhūti Muni practised severe austerities during his ascetic life, and went to various towns and villages with the object of preaching the principles of the Tīrthaṅkaras.-When Viśvabhûti Muni-whose body had become greatly debilitated by continuous fastings and strict penances-was going for alms after a continuous fasting of one month at Mathurā (Muttrā), he was accidentally knocked down by a rushing cow. On seeing that Viśvabhūti Muni had fallen down on the ground owing to a strong impact with the body of the cow, his cousin Viśākha-nandī who had gone to Mathurā with a number of his attendents on his marriage-ceremony with the daughter of the king of that place, began to crack jokes at the withered condition of the body of Viśvabhūti Muni. The penitent Muni was greatly offended, and he made a niyāṇa-nidāna-(a firm determination) to be able to possess, after death, sufficient strength to kill all those persons at one blow, by way of revenge. Athough Viśvabhûti Muni was repeatedly advised by Sthaviras and others to desist from the attempt, he

did not leave off his firm resolution, and having died without expiating for his sinful act even on his death-bed, he was born as a god in Mahâ-śukra déva-loka-Seventeenth Previous Bhava as a brilliant god in Mahā-śukra déva-loka with an age-limit of seventeen (17) sāgaropam years. Appendix No. I, containing Some Note-worthy Points about the Sixteenth Previous Bhava of Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra.

CHAPTER II. Eighteenth previous Bhava of Śramaṇa Bhagavān Mahāvîra-Triprişṭha Vāsudéva-Queen Bhadrā, the chief consort of (King Ripu prati-Śatru of Potanapura) gave girth to Acala Kumāra portended by four Great Dreams-After a few years, birth of a daughter named Mrigāvati to Queen Bhadrā-When Mrigāvatî attained youth and marriageable age, King Ripu prati-Śatru becoming greatly enamoured with her exquisite beauty and blooming charms, publicly and shamelessly, contracted marraige with his own daughter, disregarding violent protestations from Queen Bhadrā, Acala Kūmāra, family-members, feudal princes, ministers, religious preceptors, and from a large majority of citizens, who were painfully grieved at such an un-natural and utterly disgraceful alliance, and, having made her his Chief Queen, he began to enjoy worldly pleasures with her Queen Bhadrā-the girl's mother-becoming displeased by this heinous act, and greatly distressed by public censure, went away to her parents' house in the Deccan, and passed her days in mourning.

The parents of Queen Bhadrā were very wealthy. A nice town namen Mâhéśvarī-complete with high city-walls, beautiful buildings, temples, dharmaśālās (inns for travellers), cattle-camps, big market-places and gardens, inhabited by wealthy merchants-was built for her, and it soon became a very flourishing city in the South

By this heinous act on his part, King Ripu-prati-Śatru, came to be, afterwards, called Prajā-pati (literally, husband of one's own progeny) by the people, on account of his having a dersire of sexual intercourse with his own daughter. The soul of

Viśvabhûti Muni, descending from Mahā-śukra déva-loka, assumed the form of a foetus in the womb of Mrigāvatî-dévî, portended by seven great dreams-Birth of Tripriṣṭha Vāsudéva-Celebration of Birth-festivities-Attainment of youth-Cleverness in wrestling, use of war-like weapons and various arts and sciences-Prati-Vāsu-déva, Aśvagrîva of Rājagriha Nagara,-The soul of Viśākha-nandî Kumāra born as a lion in a den near the rice-fields of the Prati-Vāsudéva-One day, Prati Vāsudéva Aśvagrīva, invited a very clever astrologer into his private-chambers and confidentially inquired as to how and by whom he will meet with his death-The astrologer reluctantly but positively replied :—" O king ! I can see that your death will be caused by the powerful man who will easily kill the lion living in his den in your rice fields, and the man who will insult your messenger Caṇḍavéga so widely respected by all your feudatory kings. "— The lion in the rice-fields of Prati Vāsudèva Aśvagrîva was doing much damage to the cultivators of the fields, and so, they requested him to afford them suitable protection. Thereupon, Prati-Vāsudéva Aśvagrîva sent orders to his sixteen thousand feudatory kings to give their services by turns, for the protection of his cultivators.—The Prati-Vāsudéva, then inquired of his ministers as to who were very powerful among the young princes of his feudatory kings. The ministers said ' We cannot definitely say, but we have heard that both the young princes viz Acala Kumāra and Tripriṣṭha Kumāra of King Prajāpati are clever and powerful. Thereupon, Prati-Vāsudéva Aśvagrîva, sent an order through his messenger Caṇḍavéa, to King Prajāpati to come and see him immediately. At the time when Caṇḍavéga arrived at Potanapura, King Prajāpati, his princes, family-members, and some citizens, had met together in the Inner Court of King Prajāpati, and there was excellent dancing, dramatic performance, and great rejoicing going on. Now, Caṇḍavèga, unobstructed by any rules of decency and un-prevented by any door-keeper, at once rushed into the private chamber of the Inner Court, and abruptly communicated the message to King Prajāpati-The king hurriedly got up from his seat, to receive

the messenger, and there occurred a sudden break in the revelry. Prince Tripristha Kumāra became greatly enraged at the rude behaviour of Prati-Vāsudéva's messenger and having dealt him blows with his fists, feet and stick, he took back all the valuable presents received from King Prajāpati. Now Prati-Vāsudèva Aśvagrîva became very angry on hearing about the insult to his messenger, and he realised that the first part of the foretelling of the astrologer-that the man who would insult his messenger Caṇḍavéga will cause his death-may turn out to be true. So he at once sent another messenger to Prajāpati and ordered him to go immediately to rice-fields, and to give protection to his cultivators against the ravages of the lion lurking there. King Prajāpati became ready to go there, but both his prînces viz Acala Kumära and Tripriṣṭha Kumära vehemently implored him not to undergo the risk, on account of his old age, and they went there with men and materlals. against his wish. When nearing the den of the lion, Tripriṣṭha Kumära left his men and materials at a distance, and he went on foot to the den, without carrying any weapon, and unaccompanied even by his own brother and unasisted by any of his numerous soldiers, as he thought it contrary to all rules of justice for hunters to take with them a clever party of numerous well selected persons fully equipped with varions destructive weapons, on horse-backs or some such vehicles, for attacking a single, solitary tiger or lion, posting themselves on high platforms erected on tall trees or protruding rocks on mountain-peaks. Standing fearlessly just near the entrance of the den, Tripriṣṭha Kumāra repeatedly coaxed the lion for a duel fight with himself, and, as soon as the lion jumped on hîm, Tripriṣṭha Kumāra, at once caught hold of the lion's upper jaw, and tightly grasping his lower jaw into his left hand, he readily cut the lion into two vertical pieces. When the lion died, the cultivators were greatly pleased with the bravery of the prince. On his return towards Potanapura, Tripriṣṭha Kumāra instructed the cultivators to give the lion's skin to Prati-Vāsudéva Aśvagrīva, and to inform him that as the lion was now dead, his rîce-fields will, for the present, be free from danger.

When both the princes of King Prajāpati returned home with their party, King Prajāpati was extremely delighted, and there was great rejoicing in the town. Wnen the cultivators narrated the unique bravery of Tripriṣṭha Kumāra in killing the lion before Prati-Vésudéva Aśvagrīva, he become alarmed, and he began to be convinced more about the truth of the fore-telling of the astrologer, viz that his death would be caused by the person who insults his messenger Caṇḍavéga, and, also by the person who kills the lion. With the deceitful idea of killing both the princes of King Prajāpati, the enraged Prati-Vāsudéva Aśvarīva sent another messenger to King Prajāpati and told him-"Go and tell Prajāpati, since you are too old to serve, you send both your princes-Acala Kumāra and Tripriṣṭha Kumāra-to me for my service They will be very amply rewarded with large estates and money, and they will have higher dignity among feudatory kings. In case, you cannot act according to my orders, be ready for a fight at the earliest moment." Being quite unwilling to part with his only princes, King Prajāpati, rejected the offer, and made preparations for a fight. Armies of both the sides met with each other, and after a severe fight for a few days, Prati-Vâsudéva Aśvagrîva was killed by Tripriṣṭha Kumāra. When Prati Vāsudéva Aśvagrîva was dead, the gods and semi-gods, who had gone there to witness the fight, poured showers of fragrant flowers and scented powders over the head of Tripriṣṭha Kumāra, and announced !-"O kings ! This Tripriṣṭha Kumāra is born as the first Vāsudéva in the Bharata-kṣetra, owing to his meritorious deeds of previous life. You, therefore, leave off yonr enmity towards him, seek his protection, and do respectful salutations to him. All the feudatory kings of Prati Vāsudéva Aśvagrîva fell at the feet of Tripriṣṭha Kumāra and accepted him as their supreme lord. On seeing that all the feutdatory kings ot Prati-Vāsudéva Aśvagrîva had accepted service under Tripriṣṭha Kumāra, the queens of Prati Vāsudéva went to the place where his body soaked in blood and mud was lying, and having lamented for a long time, they ordered their servants to cremate his body with due respect. When Tripriṣṭha Kumāra

returned to Potanapura, there was great rejoicing in the town. After staying there for some time, Tripriṣṭha Vāsudéva carrying with him, cakra, chatra, dhanusya, maṇi, gadā etc. went with a large army for dig-vijaya. In course of time, he brought under his supreme authority, half the continent of Bharata-kṣétra and thousands of feudatory kings. Having conquered the kingdoms of Aṅga(country near Modern Bhāgalpur on Coromandel coast. S. India) Vaṅga (Bengal) Kalinga (a district) and having established his own officers there, he went to Magadha-deśa (Southern Bihār). There, he merrily lifted up, like an umbrella, over his own head, a very huge stone-slab which could be lifted by ten million persons collected to gether, and beings praised by the kings and bards, he went in the direction of Daṇḍakā raṇya (a forest in South Deccan), and having located his army there, he passed some days in the forest. One night, when all the people of his camp were asleep, Tripriṣṭha Vāsudéva, unnoticed by any of his numerous watchmen, went out from his camp, and as he was walking alone silently, he heard a gentle noise comming from a distance. He went in the direction of the noise, and as he entered a thick forest full of numerous tall trees, he saw a man bound to a tree. Tripriṣṭha Vāsudéva went quite near the tree, and asked the men as to who he was and why he was thus bound. The men replied:-"O Worthy Śir ! please make me free form my ties, and I will narrate my account. The Vāsudéva cut the ties of the man with his discus and set him free. The man, then, said:-" I am a Vidyādhara (a class of demi-gods) named Ratnaśékhara. Nijayavatî-the extremely beautitul and charming daughter of the King of Siṁhala-dvîpa (Island of Ceylon) was to be given in marriage with me, and when I reached this place with all my marriage preparations on my way to Simhala-dvîpa, an inimical Vidyadhara named Vāyu-véga, forcibly snatched away everything from me, and reduced me to this state.', Tripriṣṭha Vāsudèva, then asked him:-"Being a vidyādhara (a demi-god), why are you desirous of marrying a human female ? The Vidyādhara said:-"O illustrious man ! She is very beautiful, and her charms are unique."

With the consent of the Vidyādhara Tripriṣtha Vāsudéva made up his mind to have regular marriage wīth her, and having gone to Siṁhala-dvipa, he married her. Tripriṣṭha Vāsudéva stayed there only for a few days, but returned to Potanapur leaving Vijayavati there-Coronation of Tripriṣṭha Kumāra as Vāsudéva-Arrival of Tîrthaṅkara Bhagavān Śrî Śréyāmsa Nâth-Preaching-Acceptance of Samyaktva by Acala Knmāra and Tripriṣṭha Vāsudéva-Pouring of hot molten lead into the ears of his bed-chamber-attendent-Death of Tripriṣṭha Vāsudéva and his birth as a hellish being in A-pratiśṭhāna Narakāvāsa (dwelling place for hellish beings) of Tamas-tamā (Seventh) Hell-Arrival of Dharma-ghoṣa Ācārya-Preaching-Dîkṣā of Acala Kumāra; Acala Muni-Severe austerities.-Mokṣa.

CHAPTER III. Nineteenth to Twenty-second Previous Bhavas.

CHAPTER IV. *Twenty-third Previous Bhava*-Priya-Mitra Cakravartin-Conquest of continents-To Māgadha Tîrtha-To Varadāma Tîrth-To Prabhāsa Tîrtha-To the temple of Sindhu-dèvī-Kumāra-déva of Vāitaḍhya-giri-Kritaméla-déva of Tamisrā Guphā-Fight with mlecchas. Return to Mūkā (capital city) with thirty-two thousand feudatory kings. Coronation as a Cakravartin-Festival lasting for twelve years-Renouncing the world-Dîkṣā on hearing the preaching of Poṭṭillācārya-Ascetic life-on death-Twenty-fourth Previous Bhava-Birth as a very prosperous god in Sukra déva-loka.

CHAPTER, V. *Twenty Fifth Previous Bhhava*-Birth of Nandana Kumāra-With advancing age, Nandana Kumāra became proficient in various arts and sciences-At the proper age, his father King Jitaśatru, thinking him quite suitable, installed him as a king in his own stead-Arrival of Poṭṭillācārya-His Preaching-Story of King Narasiṁha-Campaka-mālā-Barrenness-Consultation with ministers-Arrival of Ghoraśiva-Ghoraśiva going to burial-ground for accomplishment of spells-Duel-fight of King Narasiṁha with Ghoraśiva Fainting of Ghoraśiva-Appearance of Śrī-dèvî-A boon from the goddess-request of Ghoraśiva to allow him to enter buriat-ground-fire for purification of his sins-

Ghoraśiva gives his own account-Fight between two vidyādharas-Somadatta-Mahākāla-Campaka-mālā-Birth of Nara-vikrama-Sîla vatî-Nara-vikrama Kumāra subduing Jaya-Kuñjara elephant-Déhila-Sāmanta-bhadra Sûri-Preaching-Nandana Rājā renounces the world-Dîksā-Ascetic Life-Severe austerities-Meditations of Nandana Muni on Death bed.

CHAPTER VI. Twenty-sixth Previous Bhava.

Vol I Part II

Royal Octavo Size Cloth—bound. Price In Hindu Union Rs. 9/-Rupees Nine. Packing and Postage extra, Foreign 18. s. U. S. of America (Four Dollars and Fifty cents).

Śramaṇa Bhagavān Mahāvîra.

Vol II Part I

Introdnction :—

CHAPTER I. Descent from Praṇat déva-loka-Concepntion Vision of Dreams-Description of Sakréndra-Kārtika Śéṭha Kathā-Śakra-stava.

CHAPTER II. Śakra-stava (contd)-Ten Strange Events-Birth in High and Low families-Bed chamber of Triśala-dévī-Vision of Dreams-Description of the first Four Dreams.

CHAPTER III. Description of the Remaining Ten Dreams-Night-vigil-Siddhāratha rising up in the morning-Going for exercise, bath etc.-Calling for Interpreters of Dreams-Assembly-hall-Arrival of Interpreters-Story of 500 warriors.

CHAPTER IV. Explanation of the fruit of the dreams-Increase of gold and wealth in the palace of Siddhārtha. Immobility of the foetus. Lamentations of Triśalā-mātā-Determination of Vardhamāna Kumāra not to renounce the world during the life-time of his parents-Movements of the foetus-Rejoicing-Valuable information about the nourishment of the foetus=Birth of Vardhamāna Kumāra.

CHAPTER V. Horoscope of Vardhamāna Kumāra.

CHAPTER VI. Celebration of Birth-festival by Indras and gods and goddessess-Abhi ėka (anointing) by Indras and gods and Indrâṇa and goddesses on Mount Su-Mérut Celebration of Birth-festival by Siddhārtha.

CHAPTER VII. Early Life-Naming-Playing with boys-Molestation by a piśāca-Going to School-Youth-Marriage-Family Relation,-Death of Parents-Request to King Nandivar dhana for permission to renounce the world-Samvatsarika Dāna-Request of Lokântika gods to Vardhamâna Swāmi.

CHAPTER VIII. Dīkṣā Mahotsava Dīkṣā

CHAPTER IX. Period of Chadmastha Kāla of Asceti Life-First Year of Ascetic Life-Going to Kūrmāra-grāma-Remaining in Kāyotsarga outside the village-Gift of the half the portion of divine garment to Soma Brâhmin-Molestatien from a cowhead-Went to Kollâga Sannivéśa early next morning-Break-fast at the house of a Brāhmin named Bahula-Went to Morāga Sannivéśa-Guest of Jvalana Śarmā in one of the cottages of Duijjanta hermits-Taking of five abhigrahas (minor vows)-Went to Asthika (Vardhamâna) grāma-*First Rainy Season at Asthika-grâma*-passed with a continuous fasting of four month eight periods of a fortnight each-Molestation from Śulapâṇi Yakṣa-Ten Great Dreams-Astrologer Utpala saying out the meaning of the dreams-*Second Year of Ascetic Life*-Morāka Sanniveśa-Acchandaka-To Uttara Vâcāla On the way, while crossing the bank of Suvarṇa-kalā River, the remaining half of the divine garment slipped down from the shoulder of the Bhagavān, and was taken away by Same Brāhmin who was following him for the other half-Kanaka-khala āśrama-Caṇḍa-kauśika sarpa-Gobhadra-Vidyāsiddha-Candralékhā-Candrakāntā-Dharma-ghoṣa-Sūri-Preaching-Muni Gobhadra—Caṇḍakauśika tāpasa-Caṇḍakauśika sarpa-biting Bhagavān-Enlightening Caṇḍakauśika sarpa-Svétāmbikā-Pradéśi king—On way to Surabhipura-Meeting of Pradeśi Rājā-Crossing the River Ganges in a small woodn boat-Molestastion from Nāga Sudanṣtra déva

(soul of the lion severed into two pieces by Tripriṣṭha Vāsu-déva)-Kambala and Sambala dévas came to the rescue of the boat-Thuṇāga Sannivéśa-Puṣpa astrologer-Festival of Bhanḍīr Vana Going to Ṛājagriha. Jinadās and Sādhu-dâsi-Second Rainy Season at Nālandā (a suburb of Rājagriha)-in the house of a weaver named Arjuna, observing four fastings of one month each. First breakfast at Vijaya śeth's house-Second breakfast at Ānanda śeth's house.-Third at Sunanda Śeth's house, and the Fourth breakfast was at the house of a Brāhmin named Bahula in Kollâga Sannivèśa-*Third Year of Ascetic Life*-Going to Suvarṇa khala grāma Cowherds preparing rice-pudding in an earthen pot -Gośāla becomes a niyata vādî-To Brāhmaṇa grāma-Upananda-Going to Cāmpā Nagarī for rainy season—Third Rainy Seasoe at Campā Nagarî doing various āsanas (meditative postures) and observing two fastings of two months each. *Fourth Year of Ascetic Life*—Went to Ḳollāga Sannivéśa-In meditation outside the village-Simha and Vidyunmati-Gośālā beaten-To Patrâlaka grāma-Ḳhandaka and Dantalîkā-Gośala beaten-To Ḳumâra Sanni veśa-Muni Candra Ācârya killed at night under suspīcion of a thef-Mahotsava by gods-To Caurāka grāma-Gośāla bound to a wooden frame on suspicion of being a spy frcm enemy-regions and when Śramaṇa Bhagavān Mahāvira was being similarly bound, he was set free by two female hermits Somā and Jayanti sisters of astrologer Utpala. Went to Priṣṭa Campā-Fourth Rainy Season at Priṣṭa Campā observing a fasting or four months and practising various āsanas (meditative postures). Breakfast outside the town-*Fifth Year of Ascetic Life*-Went to Śrāvastī and remained in kāyostarga outside the town-Pitridatta and his wife Mritavatsā-To Haladruta-grāma-In meditation uuder a haridru tree Scorching of both feet-In the temple of Vāsudéva at Maṅgalā-To Kalumbûka-grāma-Mégha and Kâla-hastī. To Rāḍha-bhûmi-(Murshidābhād District)-Molestation from vulgar people-To Pûrṇa kalaśa grāma-Molestation from two robbers-To Bhadilla Nagari capital town of Malaya).-Fifth Rainy Season at Bhadilla Nagari observing fasting of four months practising various meditative postures - *Sixth Year of Ascetic Life*—To

Kayali Samāgama-Jambūsaḍḍa-Tambâya Sannivéśa-Nandiśéṇa Sthavira-Gośalaka had quarrel with some of his pupils—Kūpiya Sannivèśā-Imprisoned as spies but set free by two parivrājikās named Vijayā and Pragalbhā-To Vaiśāli. Gośāla beccmes separated-Stayed at a blacksmith's works shop-Asault by the black-smith. Went to Grāmāk Sannivèśa-Bibhélaka Yakṣa History of Bibhélaka Yakṣa-To Śāliśīraṣaka grâma, It was winter time-Molestation from Kaṭaputanâ Vâṇa-Vyantarî. To Bhadrikā Nagari-Sixth Rainy Season at Bhadrikâ Nagari--observing a fasting of four months-At this place, Bhagavān acquired Lokâvadhi Jnāna while experiencing the molestation of Kaṭaputanā.

CHAPTER X. Period of Chadmastha Kâla (Cont) of Ascetic Life-*Seventh Year of Ascetic Life*—Went to Magadhadéśa, and stayed there moving about during winter and summer months, and practising various vows.-To Ālambhikā Nagari—Seventh Rainy Season at Ālambhikā, observing a fast of four months-*Eighth Year of Ascetic Life*-Went to Kuṇḍāka Sannivéśa-Madanā Sanniveśa-Bahusāla-Lohârgala. Caught under suspicion of a spy and brought before King Jitśatru, but set free by the advice of astrologer Utpala who happened to be with the king-To Purimatāla, In meditation outside the town. Vaggura Śrāvaka-To Rajagriha-*Eighth Rainy Season* at Râjagriha observing a fasting of four months-*Ninth Year of Ascetic Life*-With the idea of destroying many Karmas simultaneously, Bhagavān went to Vajra-bhūmi Harsh molestation form *anārya* (uncivilized) people for six months. *Ninth Rainy Season* in Vajrabhûmi with a fasting of four months-*Tenth Year of Ascetic Life*-To Siddhārthapura and Kûrma-grāma. Questioned by Gośāla about the tila plant-Vaiśyāyana Tâpasa outside the village-Jesting by Gośala-Throwing of Téjo-lèśyâ towards Gośâla, whose life was saved by Bhagavân by the use of Śīta-léśyâ Gośâla gets separated-To Vaśâlî Nagari. Śaṅkha, playmate of Siddhârtha Rājâ, honoured Bhagavān with devotion-River Gaṇḍakika to be crossed by boat-Boatman detained him for fare, but was soon set free by Citra, the daughter's son of Śaṅkha-Went to Vāṇijya

grāma and remained in Kâyotsarga outside the town. Ānadda, Śrāvaka, foretold through his Avadhi Jnāna, the Bhagavān's acquisition of Kévala Jnāna within a few years–To Śrâvasti. Tenth Rainy Season at Śrāvasti Nagarī, observing a fasting of four months–*Eleventh Year of Ascetic Life*–In Kāyotsarga at Sānuṣaṣṭika observing sixteen fasts, and practising Bhadra, Mahabhadra and Sarvatc–bhadra Pratima–Breakfast at the house of Ānanda Gāthāpati–Went to Dradhabhūmi full of mlècchas (barbarians). Remained in contemplation in a temple of Polāsa Yakṣa outside Pédhâla–grāma–Molestion from Saṅgama déva–Twenty tormenting harassments during one night–Inability to get pure food for six months, as it was daily polluted by Saṅgama. Having failed in his attempt, Saṅgama goes away.–Saṅgama, driven away from déva-lokā–Break-fast at the house of an old cowherdess= To Ālambhikâ–Stui by Vidyut Kumâréndra–Svétāmbikâ–Nagari –Stuti by Harisaha Indra–Śrāvasti–The idol of Skanda–Kauśambī Nagari–Candra and Sūrya in mûla (original) vimāna–Vânārasi Nagarî–Stuti by Saudharméndra–Rajagriha–Stuti by Iśānéndra–Mithilā Nagari–Honoured by King Janaka, and extolled by Dharaṇéndra–To Vaiśâli–*Eleventh Rainy Season* at Vaiśāli–In contemplation with a fasting of four months–Stuti by Bhûtānanda (King of the Bhujaṅga-dévas)–Jīrṇa Seṭha śrāvaka–Abhinava Śrèṣṭhî–Kévali–déśanâ–*Twelvth Year of Ascetic Life*–After breakfast at Abhinava Śréṣṭhi's house Bhagavān went to Susumārapura In contemplation under a Aśoka tree in Aśoka–khaṇḍa–Utpāta of Camaréndra–History of Camaréndra–To Bhogapura Nagara–Molestation by a kṣatriya named Mahéndra–To Nandi–grâma. Adored by Nandî (a friend of King Siddhārtha). To Méṇḍhaka–grâma–Molestation by a cowhered–To Kauśāmbî Nagari–King Śatânîka–Mrigāvati–Abhigraha (vow) of Śramaṇa Bhagavân Mahâvīra. King Dadhivâhana and Queen Dhâriṇī of Campā Nagari–Vaeumati daughter of Dhâriṇi Dhanâvaha Śeṭha and Mūlâ Séthâṇi–Candanâ–Pitiable condition of Candanā–Fulfilment of the *abhigrala* of Śramaṇa Bhagavân Mahâvīra–Bhikṣā of dry Uḍada beans from Candanâ To Su-maṅgala-grāma–Stuti by Sanat Kumāra Indra–To Sukṣétra Sanniveśa–Homages by

Indra of Mahéṇdra déva-loka-To Pālaka-grāma-Molestation by Dhāhila-Went to Campā Nagarī-Twelvth Rainy Season at the Agnihotra sālā of Svātidatta Brāhmaṇa at Campā Nagarī, observing four fastings of one month each, and attended constantly by Maṇibhadra and Purṇabhadra Vāna-vyantara Indras-Svātidatta asked a number of questions on Ātmā (Soul) to Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra, and they being answered in detail to his entire satisfaction, the Brāhmaṇa was greatly pleased, and he had high respect for Bhagavān-*Thirteenth Year of Ascetic Life* To Jrimbhika-grāma. Indra did dramatic performance before Bhagavān, and said that he would have Kévala Jñāna on a certain day-To Méḍhaka-grāma-Homage by Camarèndra-To Saṇmāni grāma, and remained in Kāyotsarga outside the village-Molestation from a cowherd-Thrusting of pointed sticks into both the ears of Bhagavān-Went to Madhyama Apāpā Nagari-Siddhārtha Vaṇik and Kharaka Vaidya saw Bhagavān with the śalya when he went to Siddhārth's house for alms-Both the Vaṇik and Vaidya followed Bhagavān, and they removed the sticks from his ears when he was in Kāyotsarga. Thus Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra passed 12½ years (Twelve years and a half) as a chadmastha Ascetic.

Vol II Part I

Pages 656. Cloth-bound. Price in Hindi Union Rs. 13. Packing and Postage extra. Foreign 26 s. U, S. of America, $. 6. 50. (Six Dollars and fifty cents)

Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra

Vol: II Part II

CHAPTER I. Acquisition of Kévala Jnāna at Jrimbhika-grāma-First Samavasaraṇa-Dharma-déśanā-To Madhyamā Nagari-Samavasaraṇa and Dharma-deśanā in Mahaséna Vana-Eleven Brāhmin Teachers (Indrabhûti with his two brothers, and others) doing Yajna-ceremonies at the house of Somilācārya. Pratibhodha and Dīkṣā of Eleven Teachers with their 4400 pupils-Appo-

intment of the Eleven Pandits as Gaṇadharas (chief-disciples) and as teachers of their own pupils-Dīkṣā of Candanā. Establishment of "Catur-vidha Saṅgha" consisting of Sādhus-Sādhvis-Śrāvakas and Śrāvikās-Explanation of the applicability, with three niśidyās, of the Universal Law of "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा Uppannéi vā, vigaméi vā, dhuvéi vā (Production, Destruction) or Permanence) to all objects of the Universe, and the preparation of the Dvādāśaṅgī of the Jaina Scriptures, on Vaiśākha sud Tenth-Went to Ṛājagriha along with his samudāya of 4411 pupils. Samavasaraṇa-Dharama-déśanā-Acquaintance with Ḳing Śréṇika, queens, princes, and other members of the royal family. Dikṣa of princes Mégha-Ḳumāra, Nandīṣeṇa-Samyaktva of Prince Abhaya Ḳumāra, Sulasā etc.-Ḳing Śréṇika and several persons had perfect faith in Jaina Religion-Thirteenth Ṛainy Season at Ṛājagriha.

CHAPTER II. *Fourteenth Year of Ascetic Life*-Went to Vidéha-To Brāhmaṇa-Kuṇḍa-grāma-Dharma-déśana. Dīkṣā of Jamāli and Priyadarśanā-Dīkṣā of Rishabha datta and Dévānandā-Gautama Gaṇadhar's questioning and its answer about Dévānandā-Fourteenth Ṛainy Season at Vaiśāli. *Fifteeth Year of Ascetic Life*-Went to Kauśāmbī-King Udayana and Mrigāvati-Jayantī śrāvikā-To Śrāvasti-Dikṣā of Sumanobhadra and Supratiṣṭha. To Vāṇijya-grāma-Āṇanda śrāvaka took the vows of a śrāvaka. Fifteenth Rainy Season at Vāṇjjya grāma.

CHAPTER III. Sixteenth Year of Ascetic Life-Went to Magadha-after the sainy season-Rājagriha-Dikṣā of Śālibhadra and Dhanya śeṭha-Sixteenth Rainy Season at Rājagriha Nagri.

CHAPTER IV. Seventeenth Year of Ascetic Life-Went to Campā Nagarī-Mahaccandra Kumāra-His Pūrva Bhava-Dīkṣā-To Vītabhaya Paṭṭan-King Udāyana was extremely glad to receive Bhagavān-Dikṣā of Udāyana-Journey to Vidéha was very long and severe during summer-Many Sādhus suffered from hnnger and thirst. Cartfuls of sesamum seeds on the way-Kāmadéva śrāvaka-Molesation to Kāmadéva. To Vāṇijya grāma. Seventeenth Rainy Season at Vāṇijya-gram. *Eighteenth Year of*

Ascetic Life-Went to Benares-Vows of Śrâvaka dharma taken by millionairs Culanīpitâ and his wife Śyâmâ, and Surâdéva and his wife Dhanyâ. Bhagavān highly honoured by king Jitaśatru of Benares-To Ālamvhikā-Vows of Śrāvaka-dharma taken by the millionair Cûllaśatak and his wife Bahulâ-Poggala Parivrājaka His Vibhaṅga Jnâna and Dīkṣâ-To Rājagriha-Dikṣā of Mankâti-Kim-krama, Arjuna-Kâśyapa, Vatsa, Médha etc Eighteenth Rainy Season at Rājagriha. *Nineteenth Year of Ascetic Life*-Stayed at Râjagriha for some time after the rainy season Meetings with King Śreṇika become more frequent-Incident of a leprous man rubbing infectious purulent matter on the body of Śramaṇa Bhagavân Mahāvira-Questions about the leprous man-Foreteliing about Śréṇika. Proclamation of King Śréṇika-Ārdraka-Kumâra receives an image of Ādinâth Jineśvara as a present from Abhaya Kumâra-Jâti smaraṇa-Ārdra Kumâra secretly leaves his home and comes to India-Takes dîkṣâ-Marriage with Śrīmati at Vasantapura. Again he take dīkṣā after an interval of 11½ years and goes to Bhagavân-On the way, he meets with and discussess with Gośālâ, Brāhmaṇa Sannyâsins, hastī-tâpasas etc. Dîksâ of of Abhaya Kumâra. Some stories about Abhaya Kumâra-Diksā of thirteenth queens and twenty-three princes of Śréṇika. Nineteen Rainy Season at Râjagriha-*Twentieth Year of Ascetic Life*-Went in the directiou of Vatsa-déśa-after the rainy season-Mrigâvati queen of King Udāyana and King Caṇḍapradyota-Kauśambi invaded-Meeting of Mārigâvati and Caṇḍapradyota in the presence of the Bhagavân-Story of Brāhamaṇa-putra-Dharma-déśanā-Story of a goldsmith of Campā-Dîkṣā of Mrigāvati-Kévala Jñāna to Mrigâvati-Dîkṣā of Eight queens of Caṇḍapradyota. Twentieth Raiuy Season at Vāiśâli.

CHAPTER V. *Twent-first Year of Ascetic Life*-Went to Kākandipurī-Dharma-deśanā-Dīkṣā of Dhanya Kumāra of Bhadrā śeṭhāṇi-To Kampilyapura. Tows of a śrāvaka taken by Kund Kaulika-Diksā of Sunakṣotra-To Polāsapura-Śaddālaputra-To Vāṇijya-grama. Twenty-first Rainy Season at Vāṇijya-grāma *Twenty-second Year of Ascetic life*-Went to Rājagriha-Vows

of a śrāvaka taken by a very wealty man named Mahāśataka-Ṛèvati, his wife-Harsh words to Révatī-Prāyascita. -Anasana-First déva-loka- Twenty-second Rainy Season at Rājagriha-During the Catur-māsa-several sâdhus of Pārśva Nâth had discussion with Bhagavān, and they were convinced that *Ś*ramaṇa Bhagavân Mahāvîra was a Sarvajna and servadarśi-*Twenty third Yerr of Ascetic Life*-Went to Ḳritaṅgalā Nagarî-Discussion with Skanda Ḳātyāyana Parivrājaka - Dīkṣā - Pratimās-Sanlèkhanā-To *Ś*ravasti-Vows of a śrāvaka taken by millionairs Naṁdini-pitā and his wife Aśvini-and Sālhipitā and his wife Phālguṇi-Twenty-third Rainy Season at Vāṇijya-grâma-*Twenty-fourth Year Ascetic-Life* Went to Brāhmaṇa-kuṇḍa-grâma-Jamalî gets separated. To Ḳauśambî-Sûrya and Candra came in their original vimāna for homage-Candanā Pravartini went away to her upāśraya-To Rājagriha-Conversation of Jaina householders of Tungikā with disciples of Pārśva Nāth-Marṇāntika sanlékhanā of Abhaya Ḳumāra Muni Twenty-fourty Rainy Season at Rājagrıtha

CHAPTER. VI. *Twenty-fifth Yəar of Ascetic Life*-Change of Goverment in Magadha-deśa Imprisonment of *Ś*réṇika-His death. Removal of Capital to Campa Nagari-To Campā-Dikṣā of ten grandsons of *Ś*réṇika (Padms Kumâra and other princes)-Dīkṣâ of Jina Palita (son of Mâkandi and Bhadrâ) and many other wealthy merchants-Went in the direction of Vidéha-Dîkṣâ of Gâthâpati Kṣemaka, Dhrîtidhara etc,-Twenty fifth Rainy Season at Mithilâ. *Twenty-sixth Year af Ascetic Life*-Went in thə direction of Aṅga-deśa-A great war at Vaiśâlī. 46 hundred thousand soldiers killed-Bhagavân came to Pūrṇābhadra Caitya of Campâ-Dharma déśanâ-Dîkśâ of ten widowed queens of *Ś*réṇika (Kâli and others)-Went to Mithīlâ-Twenty-sixth Rainy Season at Mithilâ. *Twenty-Seventh Year of Ascetic Life*-Went to *Ś*râ vasti after the rainy season-Dîksâ of Halla and Vehalla-Final meeting of Gośâla-Tèjoleśyâ on Ānanda Muni-Gośâlak's discussion-Sarvânubhûti Muni-Sunakṣatra Muni Tèjoleśyâ on Bhagavân Mahâvîra To Mithilâ-Twenty-seventh Rainy Season at Mithila.

CHAPTER VIII. *Twenty-eighth to Thirty-Fifth Year of Ascetic Life,*

CHAPTER VIII. *Thirty-sixth to Forty-second Year of Ascetic Life.*

CHAPTER IX. Nirvâṇa,

CHAPTER X. Jaina Dharma in Royal Families-Prominent Sâdhus-Sâdhvis-Śrâvakas-and Śrâvikā of Śramaṇa Bhagavân Mahâvîra.

CHAPTER XI. Social-Political,-and Religious History of the Country,

Vol II Part II

Royal Octavo Size. Cloth-bound. Price in Hindi Union Rs. 15 (Fifteen) Packing and Postage extra. Foreign 30 s. U. S. of America, (Seven Dollars and Fifty cents.)

Śramaṇa Bhagavān Mahāvîra

Volume III

Gaṇadhara vâda—

CHAPTER I to XI. Discussiou with the Eleven Gaṇadhāras (chief disciples) of Śramaṇa Bhagavain Mahâvirâ

Gaṇadhara-vâda.

Royal Octavo Size Cloih-bound Price in Hindi Union Rs. 10/- Ten Packing and Postage extra. Foreign 20 s. U. S. of America S 5. 00 Five Dollars.

Śramaṇa Bhagavān Mahâvîra.

Volume IV

Nihnava-xâda –

CHAPTER I. to CHAPTER X Discussion with the seven Nihnavas of the déśa-visaṃvâdî type and Boṭika of the sarva-visaṃvâdī type, with an Introduction.

Nihnava-vâde.

Royal Octavo Size. Cloth-bound. Page 408 Price in Hindi Union Rs. 8 Rupees Eight. Packing and Postage extra. Forein 10 s. U. S. of America (Four Dollars.)

Śramaṇa Bhagavân Mahâvîra.

Vol V Part I

Sthavirāvali Part I. Containing summaries of Life-incidents and an index of the Chief Works composed by them–of the following Heads of the Jaina Church, namely Eleven Gaṇadharas of Śramaṇa Bhagavân Mahâvîra–1 Arya Sudnârama Swâmi 2. Ārya Jambû Swâmi. 3. Ārya Prabhava Swâmi. 4. Ārya Sayyambhava Sûri. 5. Ārya Yaśobhadra Swâmî 6. Ārya Sambhūti Vijaya and Ārya Bhadra-bâhu Swâmi. 7. Ārya Sthûlabhadra. 8. Śri Ārya Mahāgiri and Śri Ārya Suhasti Sûri. 9. Śrī Susthita Sūri and Śrì Supratibaddha Sūrī (Also Umāsvāti Vācaka-Ārya Śyamācārya) 19. Śri Indra-dinna Sūrī. 11. Śrì Ārya Djnha Sūrī. 12. Śrì Simhagiri (also Ārya Kālakâ-cārya, Khaputācārya,Ārya Mañgu-Śrì Vriddha Vādi Sûrì-and Siddhaséna Divākara Sûri-Pâdalipta Sūrì). 13. Śrì Vājra Swāmi-(also Bhadra Guptācārya). 14. Śrī Vajrasèna Sûrì (Origin of Kâpardì Yakṣa-Ārya Rakṣita Sūri Origin of the Sect of Digambaras) 15. Śri Candra Sûrì 16. Śrī Sāmanta-bhadra Sûrì. 17. Śri Vriddha Dèva Sūrī, 18. Śrî Pradyotana Sūrî. 19. Śrì Mâna-déva Sûri. 20. Śrī Mânatuṅga Sûrì, 21. *Śrī Vîra Sūri* 22. *Śrì Jaya déva Sūrì*. 23. *Śrī*

Dévānanda Sûri-(Destruction of Vallabhipura-(Ārya Samita Sūri Origin of Brahma Dīpikā). 24, Śri Vikrama Sūri. 25. Śrî Narasiṃha Sûri 26. Śrî Samudra Sūri. 27. Śri Mâna-déva Sûri-(Yuga-pradhāna Nāgârjuna-Śrîmân Hari-bhadra Sûri-Jinabhadra Gaṇi Kṣamâ-śramaṇa). 28. Śrî Vibuddha Prabha Sûri. 29. Śri Jayānanda Sûri, 30. Śrî Ravi Prabha Sûri. 31. Śrî Yaśo-dèva Sūri (Establishment of Kingdom at Aṇahillapura. Śrî Bappa-bhaṭṭi Sūrī).

Volume V. Part I. Sthavvāvali Part I

Royal Octavo size Cloth-bound. Pages 398 Price in Hindi Union Rs. 8 Foreign 16 s. U. S. A. (Four Dollars)

Śramaṇa Bhagavān Mahāvîra.

Volume V. Part II

Sthavirâvali Part II

Contents. 32. Śrî Pradyumna Sūri. 33. Śrî Māna-déva Sūri. 34. Śri Vimalachandra Sûrî. 35. Śūrî Udyotana Sūri. 36. Sûri Sarva-dèva Sūri I. (Kavi Dhanapâla Vâdî Vaitāl Śûri Śânti Sûri). 37. Śrī Dèva Sûri. 38. Sûri Sarva-dèva Sûri II. 39. Śrī Yaśo-bhadra Sûri, and Śri Nèmicandra Sūri (Śrī Abhaya-déva Sûri-Śrī Jina Vallabha Sûri and Śrī Jinadatta Sûri) 40. Śrī Muni-candra Sûri (Vâdi Śrī Déva Sūri-Kali Kâla Sarvajna Śrīmān Hémacandrâcārya-Siddha-Raja-Jayasiṃha-Kumārapāla). 41. Śrî Ajita-dèva Sūri (Kharatara Gaccha-Āgami ka Gaccha-Abhigraha (vow) of repairs on Śatrunjaya-tîrtha taken by Udāyana Mantri-Death and repentence of Udāyana-Solemn oath of Bahaḍa-Bhimo Kuṇḍalion. 42. Srî Vijaya Siṃha Sūri,43. Śrî Soma Prabha Sūri I. and Śrî Maṇi Ratna Sūri. 44. Śrî Jagaccandra Sūri (Hirlā Jagaccandra-Tapâ Gaccha). 45 Śrî Dévèndra Sūrî (Śrî Vījaya Candra Sūri-Śri Vidyânanda Sūri). 46. Śrî Dharma-ghoṣ a Sūri (Mantrîśvara Prithvî-dhara (Pèthaḍa). 47. Śrî Soma Prabha Sūri II. 48. Śrī Some Tilaka Sūri. 49. Śrî Déva Sundara Sârî. 50. Śrî Soma Sundara Sūrî (Sādhu-maryādā Paṭṭaka). 51. Śrî Muni Sundara Sûri 52. Śrî Ratna Śèkhara Sūri (Origin of Luṅkā Mata). 53. Śrî Lakṣmī Sāgara

Sūrî (Kavi Lâvaṇya Samaya). 54. Śrī Sumati Sādhu Sūri, 55. Śri Hèma Vimala Sūri (Vimala Sâkhā-Kadavā Matî. Bija (Vija Matî)-Pāyacanda Gaccha). 56. Śrî Āṇanda Vimala Sūri (Mani Bhadra). 57. Śrî Vijaya Dāna Sūri 58. Śrî Hira Vijaya Sūri (Invitation from Emperor Akber, Foot-jonrney to Fatéh-pura Sīkrī-Interview with the Emperor and introduction of the doctrine of a-hiṃsā-non-injury to aninrals-into his kingdoom.) 59. Śrî Vijaya Sèna Sūrî. 60. Śri Vijaya Déva Sūri 61. Śrî Vijaya Siṃha Sūri, and severrl promineroDharmādhyakṣas well-known for their religīous devotion and Scriptural, as well as, literary attainments.

Vol V Part II Sthavirāvali Part II.

Royal Octavo Size, Cloth-bound, Price in Hindi Union Rs. 9 Nine Rupees. Packing and Postage extra. Foreign 18. s. U. S. of America $ 4. 50 c. (Four Dollars and Fifty cents).

OPINIONS.

The Adyar Library Bulletin OF The Theosaphical Society Adyar, Madras

Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra (Vols I-IV Part I only of each) by Muni Ratna Prabha Vijayaji. Śrî Granthaprakāśaka Sabha Pānjrā Pole, Ahmedabad 1941-42.

"Jainism and Buddhism are perhaps the most ancient of the religions that rose in opposition to Hinduism, dominted by priestly ritualism. The former of these two, is generally accepted to date from an earlier date. But the religions start with opposing the authority of the Védas, and this is perhaps the most important common ground. The differences between the two religions, are far too many; the most striking of those, barring doctrinal difference which are too obvious, is that while Buddha is the real founder

of Buddhism, his first sermon, as well as, the doctriues he preached then being those which are ever to be remembered by his followers; Mahâvîra with whose name only History can associate the birth of Jainism, is regarded by those that follow him as only a prophet whose business has been to hand over to the world, the principles enunciated by his predecessors,-the twenty-three Tîrthaṅkaras who lived before him.

It is the object of the Four Volumes under review, to give an account of the life of this Śramaṇa Bhagavān Mahâvîra, the 24th Tîrthaṅkara of the Jains. The first of these, gives an account of fiffeen out of the twenty-six previous lives of Mahāvîra; and the second deals with the twenty-seventh life. The third starts the exposition of the Gaṇadhara-vāda, an explanation of the doubts of the Gaṇadharas,-the eleven disciples of Mahāvîra. The fourth volume gives an account of the Gaṇadharas. The treatment of the subject is on the whole quite good, but statements like, "There is a reference of Riṣabha-déva, Ajitnātha aud Ari-iṣṭhanémi in Yajurvéda" (Introduction to Volume III. p. 3) could hava been avoided. I cannot trace the word Ajitanātha iu the Yajurvèda, in its Śukla or Taittrîya recension. The words Riṣabha and Ariṣṭhanémi do occur in this Véda; but it is in the highest degree questionable whether these Vèdic words mean what they connote in Jainism.

Such defects apart, the volumes have their own distinct value. By reason of the very antiquity of Jainism, of the profound influence it exerted on Buddhism, and on Sānkhya and Yoga, it is of very great interest to the student of Comprative Religion. This alone, should make works like these, which give an account of the "prophet" of this religion, extremely valuable.

The author is to be congratulated on his useful undertaking. The appearance of the remaining parts of these foul volumes, is to be eagerly awaited.

Adyar Madras **H. G. Narahari**

— 2 —

University of Allahabad.

SANSKRIT DEPARTMENT

Mahā mahopādhyāya
Dr. UMESHA MISSRA
KAIVYATIRTH M. A. D. Litt.

" Tirabhukti "
I. Allengunj Road.
ALLAHABAD.
18th Augusu 1943.

Dear Shri Muni Ratna Prbha Vijayaji.

Many thanks for all the four volumes of your valuable book **Śramaṇa Bhagavân Mahāvīra**. The volumes contain much intersting and important matter on different aspects of Jainism. I could read several portions from these volumes, and I am glad to find them very lucid, and is formative. It is a matter of great satisfaction that our religious heads are brinigіng out the treasures of Jainism in English, so that they may be easily available to all. These are undoubtedly authoritative.

I am sure, those intersted in the religion and Philosophy of Jainism, will find these volumes very intersting and beneficial.

Yours Sincerely
(Sd) UMESHA MISHRA.

— 3 —

Extract from Modern Review, March 1944

Presidential Address (Philosophy and Religion Section) delivered at the Twelfth All India Oriental Conference held at Benares Hindu Uiversity, Benards.

(December 31-1943 and January 1 & 2. 1944)

The Jaina Sādhus have been writing in Sanskrit for a pretty long time on Jaina thoughts. It is gratifying to find that they have lately begun to write in English also, to popularise their thoughts. This will enable us to have more authentic books based on original sources and traditions of the Sampradāya. It is our first duty to preserve the traditions which also can guide us like a torch, in our scholarly pursuits to bring into light the hidden

treasures of thoughts. It is because we have lost tradition in several branches of our literature, that we are quite in the dark as to the correct interpretation of various important problems connected with them.

I am glad to mention in this connection the effort made by Muni Ratna Prabha Vijaya of Ahmedabad. Under the common title, Śramaṇa Bhagavān Mahâvīra, he has brought out four volumes. The first part of Volume I deals with the twenty-six Bhavas (existenees) of Mahâvira, after the relisation of Samyaktva (Right Belief). The second volume contains an account of the twenty-seventh Bhava of Mahāvīra as Vardhamāna Kumāra. The third volume treats of Gaṇadhara-vāda, that is the explanation of the doubts of the eleven chief disciples of Mahāvîra, namely of Indra-bhuti and others. The fourth volume is named Sthavirāvali which contains an exposition of the sthaviras that is the old and highly respected learned ascetics. All the works are well annotated, translated, and explained. Every effort has been made to make these volumes useful and up-to-date. The expositions though very lucid, intersting, and informative, are sometimes more frivolous. To write much more than what is necessary seems to be a habit with the modern Jaina writer. For a scholardy work, brevity of expression should always be adhered to.

— 4 —

From a Review of Books in the Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland 56 Qeen Anne Street, London W. C. I.

Śramaṇa Bhagavān Mahāvīra. Vol. 2, pt. 1, containing 116 Sûtras of Kalpa Sutra. Muni Ratna Prabha Vijaya. With an Introduction by Professor D. P. Thakar M. A. 10×7, pp. 12+20+6+284. Ahmedabad; Śri Jaina Grantha Prakāśaka Sabhā, Pānjrāpole, 1942. 7s 6d.

Śramaṇa Bhagavân Mahāvīra. Vol. 4, pt. 1. Sthavirāvali. Muni Ratna Prabha Vijaya, 10×7, p p. 8+210. Same publishers, 1941. 5s. 6d.

Kṣamāsśramaṇā Jinabhadra Gaṇi's Gaṇadharavāda. Along with Maladharin Hèmachandra Suri's commentary. Edited by Muni Ratna Prabha Vijaya. With translation, digest of commentary, and introduction by Professor, D. P. Thaker. 10×7, p.d. 38+538. Same publishers, 1942. 9s.

These three works are part of a series with a general title, and so far are due to the learning and scolarship of Muni Ratna-Prabha Vijaya. The first contas that portion of the Kalpa-sūtra attributed to Bhadrabāhu known as the Jinacaritra giving the life of Mahāvīra down to his leaving the worlds and is to be completed in a later volume. The text is given in dévanāgari with transliteration, translation, and long quotations from other works. It has been divided up into chaptors, and the horoscope of Mahāvira by Mr. M J. Doshi is inserted as Chapter 5. Professor Thaker has contributed an Introduction, and makes some intersting comparisons with Buddhist practices. It is unfortunate that, he relies too much on Max Muller and Rhys Davids without going to the texts. He quotes the five vows of Jain ascetics, and then instead of putting beside them, the ten rules of Budhist ascetics gives thc eight rules which Buddhist laymen keep on Fast-day, This is no real comparison, but we should like to know what the corresponding rules of Jain laymen are.

The volume of the Sthavirāvali contains the lives of the eleven chief dissiples or Gaéadharas and four of the sthavrias, and is to be completed in a further volume. It appears to be complied from various paṭṭāvalis with the texts transliterated and translated, and contains much information on the Canon and such subjects as the marvellous attainments (Labdhiś) of the ascetics.

The third volume discusses important problems of Jain doctrine (on the Jiva or Ātman, Karma, etc)., euch question being discussed with one of the disciples, The original prakrit, mostly in ârya verse, is given with a chāya and transliteration, and copious extracrs from the commentary.

Muni Ratna Prabha Vijaya's valuable painstaking labours should do much to remove the idea that this is a dry subject or one that can be neglected in a study of Indian culture. His method forms an excellent introduction to the obscurities of Jain Prākrit.

E. J. Thomas.

— 5 —

Telephon 2335, Telegrams 'Educom'

The Universities Commission

Ministory of Education Snowdon Government of India:

Snowdon.

Simla I
27th July 1949.

My dear Sir,

I thank you very much for your letter of the 21st July, and the set of books you sent to me.

I am sorry to say that I have not been able to read them with the care and attention that they deserve. But I have seen enough to know that they must be of great value to students of religious thought.

With regards,

Your Sincerely
Sd (Rādhākrishanan.)

Muni Mahârāja Shri Ratna Prabha Vijayaji
Jain Upāshraya, Pānjrā Pole,
AHMEDABAD.

Will be Ready by the End of November 1950

JAINA TARKA BHĀSĀ

of

Mahā Mahopādhyāya

SRIMĀN YASOVIJAJI GAṆI MAHĀRĀJA

With (1) Introduction in English. (2) Original Text in bold type. and (3) Saṃskrit Commentary.

Royal Octavo Size. Pages about 320. Price: In Hindi Union Rs. 3-8-0 Rupees Three and annas eight. Packing and Postage extra. Foreign 8 s. U. S, of America (Two Dollars and fifty cents).

Other Works in Preparation

Works of the " Holy Siddhāntas of the Jainas. " Series containing-1. The Originrl Gâthâ of the Text. (2) Its transliteration. 3. Its Saṃskrit cchāyâ 4. Its transliteration. 5. English Translation. 6. Saṃskrit Commentary and 7 Digest of the Commentary. etc.

"Holy Siddhānts of the Jainas." Series:—

*1. Jiva Vicāra Prakaraṇa.
2. Nava Tattva Vivaraṇa.
3. Daṇḍaka Prakaraṇa.
4. Śrî Tattvārthābhigama Sûtram.
5. Karma Granthas (Parts. I-VI).
6. Samaya Sāra
7. Jnāna Sāra.
*8. Jaina Tarka Bhāṣā.

* Ready.

श्री जैन सिद्धान्त सोसायटीके मूल्यवान प्रकाशन

अंग्रेजी भाषामें भ. महावीरका चरित्र आदिग्रंथ

१	श्रमण भगवान् महावीर पुस्तक १, भाग १	८-०-०
२	,, ,, ,, ,, ,, ,, २	९-०-०
३	,, ,, ,, ,, २ ,, १	१३-०-०
४	,, ,, ,, ,, ,, ,, २	१५-०-०
५	गणधरवाद (गणधर वादका अंग्रेजी भाषान्तर)	१०-०-०
६	निह्नव वाद (निह्नव विषयके विवेचन)	८-०-०
७	स्थविरावली भाग १	८-०-०
८	,, ,, २	९-०-०
९	जीवविचारप्रकरणम् वादिवेताल श्री शान्तिसूरीश्वर विरचित मूल, पाठक रत्नाकर विरचित बृहत् वृत्ति तथा अंग्रेजी भाषान्तर युक्त	४-०-०
१०	जैन तर्क भाषा महामहोपाध्याय श्री यशोविजयगणिविरचित मूल तथा आचार्य बिजयोदयसूरि कृत टीका युक्त	६-०-०

ते सिवाय अन्य प्रकाशनो माटे सूचिपत्र मंगावो.

प्राप्तिस्थान :

जसवंतलाल गिरधरलाल शाह

१२३८ रूपासुरचंदनी पोळ—अमदावाद

श्री क्रिष्णा प्रिन्टरी रतनपोळ, अमदावाद